मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के स्वरूप का अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी0 फिल्0 उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध-सार

निर्देशिका :
डॉ० (श्रीमती) गिरिजा राय
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्ता :
वीरेन्द्र सिंह यादव
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

शोध प्रबन्ध-सार

मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के स्वरूप का अध्ययन

प्रथम अध्याय

पारिवारिक विघटन : समस्या और स्वरूप

परिवार किसी भी समाज के सामाजिक जीवन का मूलाधार होता है। परिवार में व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा समस्त सामाजिक सम्बन्धों का विकास होता है। इसलिए परिवार समाज की अत्यन्त महत्वपूर्ण इकाई है यह कहने में कोई अत्युक्ति न होगी कि समाज रूपी विशाल भवन की नींव में परिवार रूपी ईंट लगी हुई है। यदि परिवार का आधार हटा लिया जाय तो समाज धराशायी हो जायेगा। औद्योगिक अर्थव्यवस्था के विकास के कारण समाज का पूरा आर्थिक ढाँचा बदल गया है साथ ही दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित नवयुवक वैयक्तिक स्वार्थ को प्रमुखता देने लगे हैं। आज संयुक्त परिवार एकल परिवार में और एकल परिवार में भी स्त्री-पुरूष सम्बन्धों में विघटन होना निश्चित एवम अनिवार्य हो गया है। वास्तविकता यह है कि पुरूष स्वभावतः अहंकारी है वह अपनी सामाजिक स्थिति को सर्वोच्चता में रखकर देखता है और निम्न स्तर पर रख कर ही यदि स्त्री अधिक पढ़ी-लिखी, जागरूक, तर्कशील, बुद्धिमान है तो उसकी सर्वोच्चता को शायद खतरा पैदा हो जाएगा और झूठे अहंकारवाद का शिकार व्यक्ति यह सब कैसे सहन कर लेगा कि स्त्री की सामाजिक आर्थिक स्थिति उससे सर्वोच्च 'हायर आडर' की हो जाये उसकी निम्न या उसके बराबर। आज तक यही होता आया है और आज भी उसके भीतर यही सोलहवीं शताब्दी की सोच काम कर रही है कि स्त्री उसकी निजी सम्पत्ति है लेकिन इस सम्पत्ति की गुणवत्ता को वह कतई बढ़ाना नहीं चाहता, उसे कमजोर करके रखने में ही अपनी सार्थकता सुरक्षा समझता है। पुरूष के मन में यह भय, असुरक्षा की भावना और स्त्री को दबाकर, कुचलकर नियन्त्रण में रखने की स्त्री विरोधी दृष्टि सदियों से काम कर रही है। परन्तु वर्तमान में स्त्रियों के अधिकारों में बृद्धि हुई है। नवीन आवश्यकताओं में वृद्धि

होने से जीवन में पुरानी व्यवस्था अपर्याप्त सी प्रतीत होने लगी है इससे परिवारों का विखण्डन हो रहा है।

नये सामाजिक आर्थिक सम्बन्धों ने प्रतियोगिता और प्रतिस्पर्धा की आन्तरिक प्रवृत्ति विकसित की है जिसने संयुक्त परिवार के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रभावित किया है, क्योंकि प्रतियोगिता पूर्ण व्यवसाय या पेशा ने परिवार की एकता को छिन्न भिन्न किया है। आय की विषमता विविधता ने संयुक्तता की प्रवृत्ति में विषवपन किया है।

राष्ट्रीय आन्दोलन और महायुद्ध के प्रभाव के साथ परिवारों की समस्या तो बढ़ी ही है इसके साथ ही विवाहोत्सवों का खर्चीलापन, दहेज की बढ़ती हुई माँग शिक्षा पर अधिक व्यय ने लोगों को अपना संयुक्त परिवार छोड़ने पर विवश कर दिया है।

सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन स्त्री पुरूष सम्बन्धों में घटित हुआ है। स्त्री की स्वतंत्रता से पुरूष भीतर ही भीतर घुलता जा रहा है। नतीजा यह कि वह वापस अपने अतीत में लौट जाना चाहता है। वह व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहता है और सारे जीवनतंत्र को नया रूप देना चाहता है, किन्तु हो कुछ नहीं पाता है। वह विवश भाव से इन सभी स्थितियों को स्वीकार कर लेता है। यह टूटन यही विवशता और ऊब व निराशा आज के परिवारों में प्रारूपित हो रही है। एक दूसरी स्थिति दम्पत्ति भोग रहे हैं। दोनों का समान शिक्षित होना, नौकरी करना और कुछ व्यक्तिगत कारणों से इच्छाओं के विपरीत जीते चले जाना, तनाव में जीना एक दूसरे को अपने अनुपयुक्त समझकर नये ढंग से जीने का प्रयत्न आदि कुछ ऐसी स्थितियाँ हैं जिनमें कुछ घर टूटते हैं तो कुछ नये बनते दिखाई देते हैं। बच्चे पिता से छूट जाते हैं और पति–पत्नी एक दूसरे से। स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों की यह स्थिति इतनी दारूण और यातनामयी हो जाती है कि दोनों अलग–अलग रहकर भी जी नहीं पाते। सम्बन्धों के बीच आई यह दूरी फिर एक नया आकर्षण

पैदा करती है। दोनों के बीच एक नया सेतु बनते-बनते रह जाता है। वे अलग-अलग स्थितियों मे जीते हुए एक दुर्निवार पीड़ा व टूटन को झेलते हुए जीवन के अन्तिम रूप में समा जाते हैं। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की यह स्थिति और परिणति पूरी कचोट भरी वेदना आज के परिवारों में आकार पा रही है।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कहानियों में यह बदलाव पहले दिखायी देता है। कविता की अपेक्षा कहानियों एवं उपन्यासों में प्रयोग अधिक किए जा रहे हैं। नवीनता का उन्मेष ही पुरातन चेतना और जीवंतता का अवसान बिन्दु है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात परिवार का विघटन सामाजिक सम्बन्धों का छिन्न-भिन्न होना, यान्त्रिक विसंगतियां, राजनीतिक भ्रष्टाचार और मनुष्य के बीच फैले हुए व्यापक असन्तोष से कहानी के शाश्वत मूल्यों में परिवर्तन हुआ जिससे पुरानी कहानी का आन्तरिक ढॉचा चरमराकर टूट गया। वर्तमान दौर में लिखी गयी कहानियों में घटनाओं का वाग्जाल, भाषा, परिवेश, पात्र, विम्ब और संकेतों का तेवर बदला। आधुनिकता की प्रक्रिया में लिखी गयी कहानियों में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति की सच्चाई, भोगे हुए क्षण को लिखने की बाध्यता, शाश्वत रूप से नवीनता की प्रक्रिया और सम्बन्धों की तलाश की संवेदना अवलोकित होती है।

स्वतन्त्रता के बाद नवीन स्थितियों का उन्मेष होता है। जीवन के हर क्षेत्र में उसका व्यापक प्रभाव दिखाई दिया। औद्योगीकरण की तेज रफ्तार, यन्त्रीकरण की स्थिति और युद्ध के परिणाम के कारण मनुष्य के मन में संघर्ष करने की प्रवृत्ति जन्म ले चुकी थी। जिससे व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य संघर्ष का प्रतिमान बदल चुका था

और कथाकारों ने आधुनिक प्रतिमानों को चुनकर एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया। इसलिए सन 1950 के बाद की कहानी में आधुनिकता आज के अर्थ में नहीं है उसे पुराने से अलगाव और नवीनता की खोज कहना ही तर्क पूर्ण है। आज व्यक्ति को विज्ञान के साथ कदमताल मिलाने से उसे आइडेंटिटी एवं रिकग्नेशन मिलने लगा है, इससे वह अपनी सड़ती परम्परा के शव को अपने ही हाथों कफन देने का प्रयत्न करने लगा है। गॉव कस्बों की ओर,कस्बे नगराभिमुख होने से यहॉ एक अलग प्रकार का बोध पनपने लगा जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिए एक नई वस्तु थी। कस्बों में वही लोग बचे जो अपनी वृत्ति के साथ समायोजन करने में सक्षम थे या जो नये पन में मिसफिट हो गये थे, ऐसे लोग नगर में जा कर भी अपनी मनोवृत्ति को संजोये रहे। यह दो संस्कृतियों का मिलन व्यक्तियों के सम्बधों में टकराहट तथा अजनबीपन पैदा करने के साथ-साथ अलगाव भी पैदा कर गया। यांत्रिकी के इस निविड़ वन में सतवेगमय जीवन की अवकाश हीनता, निरर्थता, संत्रास, घुटन, मृत्यबोध और अनेक कुँठाएं तथा विकृतियों ने जन्म ले लिया है इससे कहानी का कथा तत्व सिमट सा गया है और इसका आकार बिन्दु मात्र हो उठा है।जीवन का संक्रमण इतना अबाध और अपार हो गया है कि कथाकार के मन में समा नहीं पा रहा है। मंथनों से भरा, जटिल ग्रन्थियों से उलझा अपना मानस सबके सुख-दुख को वह कहानियों में अंकित कर देना चाहता है। जीवन के व्यस्त क्षण, संत्रस्त क्षण, आवेगों को खोलते क्षण, परिवेश और परिस्थितिगत संस्थान के बीच मानवीय भाव और संवेदना व्यापक किन्तु झीने होते जा रहे हैं। परिणामतः भाव की सघनता विरल और क्षीण होती जा रही है। वास्तव में वर्तमान का प्रत्येक क्षण अनगिनत साधारण तीव्रता वाले विविध अनुभव चक्रों का है न कि एक या दो प्रबल प्रचण्ड अनुभव का।

आधुनिक समय में भारतीय नारी के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन आया हैं एक ओर जहाँ परिवार का परम्परागत स्वरूप टूटा, वहीं दूसरी ओर स्त्री स्वतंत्रता के कारण नवयुवक स्त्रियों के स्वरूप में परिवर्तन आया। जो

स्त्रियाँ आजीविका के साधन स्वयं जुटाती थीं, उनकी मानसिकता में धीरे-धीरे व्यापक परिवर्तन आया और इस प्रकार उन्होंने जीवन और चिन्तन के स्तर पर पुरूषों के समान ही स्वयं को प्रस्तुत करने की कोशिश की मन्नू भण्डारी की कहानी 'यही सच है' में नारी के अन्तर्द्वन्द्व के बाहरी एवम् भीतरी सोच में अनिश्चितता की यातनाओं को भोगती हुई, उस मनः स्थिति का वर्णन है जो उसका व्यक्तिगत होता है उसकी अंतर्आत्मा का होता है। इस कहानी में आधुनिक नारी के स्वतन्त्र वरण को महत्व दिया गया है।

आज स्त्री और पुरूष दोनों स्वतन्त्र व्यक्तित्व चाहते हैं यही कारण है कि आज विवाह जैसे परम्परागत बन्धन ढीले पड़ गये हैं। बदलते स्त्री पुरूष सम्बन्धों को आज भाग्य भरोसे न रखकर उन दोनों को अपने-अपने निर्णय लेने की स्वतन्त्रता का पूरा हक रहता है। यही कारण है कि आज परम्परागत विवाह संस्था नाकारा साबित होने लगी है। एक ओर पुरूष स्वतन्त्र रूप से 'सेक्स' जीवन की मांग कर रहा है। तो दूसरी ओर स्त्री विवाह-संस्था को अपने व्यक्तित्व रक्षा के अनुसार तोड़ना-मरोड़ना चाहती है। इसलिए तो कृष्णा सोबती की 'मित्रो' स्वतन्त्रता की मांग कर परिवार रूपी संस्था तथा परम्परागत निषेधों को एक ही झटके में ध्वस्त कर देती है। इसी तरह राजेन्द्र यादव का किशोर एवम लीना अपने-अपने अहं के कारण टूटते रहते हैं। आर्थिक दबाव और मूल्यों का पतन तथा उत्कट जिजीविषा ने पारिवारिक विघटन को जन्म तो दिया ही है इसके साथ ही खुले प्रणय तथा काम सम्बन्धों की बदलती व्याख्या एवं पीढ़ी संघर्ष के कारण भी मानवीय सम्बन्धों में बहुत तेजी से परिवर्तन हुए हैं। पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी पर अपना अधिकार जमाये रखना चाहती है जिससे परिवार के दो पुश्तों में मानसिक संघर्ष की तीव्रता दिन ब दिन अधिक तीव्र होती जा रही है और मानसिक सामन्जस्य न बिठा पाने के कारण सम्बन्धों में दरार पैदा कर रही है।

तृतीय अध्याय

हिन्दी उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन का बीज

आज का उपन्यास मनुष्य के मानसिक संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्वों का उपन्यास है। क्योंकि यह पुराने चौखटे (धटनायें, चरित्र, प्रसंग आदि) को तोड़ चुका है। आधुनिक उपन्यास में नर-नारी के सम्बन्धों में महान परिवर्तन दृष्टिगोचर हुए हैं, नारी सती सावित्री वाली तथा दासी वाली इमेज से बाहर आ गई है और परिवार एवं पति के साथ कदम ताल मिलाकर संकोच करने में उसे कोई हिचकिचाहट नहीं महसूस होती है। नर-नारी के ये बदलते प्रतिरूप उपन्यास में कई रूपों में अवतरित हुए हैं जिन्होंने पारिवारिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न किया है यथार्थवादी स्वरूप, मार्क्सवादी स्वरूप, व्यक्तिवादी स्वरूप, व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक स्वरूप तथा ऐतिहासिक स्वरूप के उपन्यासों ने व्यक्ति एवं व्यक्ति की सत्ता को प्रभावित किया है जिससे वह अन्दर ही अन्दर घुटता टूटता एवं बिखरता रहता है। क्योंकि बिखरना तथा टूटना ही शायद उसकी नियति बन गयी है। 'परीक्षागुरू' के लाला मदनमोहन की विवशता यह है कि भौतिकता की अन्धी नकल करने में अपने को दीवालिया कर लेता है, सभी स्वजन उससे किनारा कर लेते हैं, फलतः उसका व्यक्तित्व ही खण्डित हो जाता है। इसी तरह प्रेमचंद के कथासाहित्य के पात्र सेवासदन के दारोगा कृष्ण चंद खोखली नैतिकता विहीन जिन्दगी जीकर सम्पूर्ण परिवार का ढांचा ही बिगाड़ लेते हैं वहीं 'गबन' एवं 'निर्मला' में मतवैभिन्यता के कारण नारी को विवशता की चक्की में पीसा जाता है। यथार्थ सम्बन्धों का बोझ 'कंकाल' में आकर इतना झीना एवं कमजोर हो जाता है कि पता ही नहीं पड़ता है कि कौन किसक़ी संतान एवं कौन किसका हितैसी है। एक जज झूठी शान शौकत एवं आभिजात्य के दिखावे में 'त्यागतत्र' दे देता है, तो दूसरी ओर सम्बन्धों के प्रयोग में पीसी जाती शशि-शेखर के लिए जान देकर उसे बनाने में अपने को भाग्यशाली समझती है। 'मृणाल' अपने

भतीजे के लिए टूटती है, तो शशि अपने भाई के लिए समय की क्रूर विडम्बना इन्हें चैन से नहीं जीने देती है। 'भूले बिसरे चित्र' के ज्वालाप्रसाद अपनी पुरानी पीढ़ी शिवलाल के सपनों को खण्डित करते हैं तो उन्हें यह कहने में कोई गम नहीं है कि समय बदला है, आप लोग भी बदलिए, अब संयुक्तता हो ही नहीं सकती है। जब आज झूठा-सच हो सकता है तो कनक सीलो पुरी जैसे लोगों को भी यह कहने में कोई हिचक नहीं है कि यह हमारी बहन या वह हमारा भाई नहीं है।बदलते सम्बन्धों की गति इतनी तीव्र है कि व्यक्ति दुर्घटना ग्रस्त लोगों को चाहे वह उनकी होने वाली भावी बीबी ही क्यों न हो उससे मिलना पसंद नहीं करते क्योंकि उनको उनसे अच्छी बीबी मिल जायेगी। दूसरी ओर विवाहिता पत्नी भी यह सोचती है कि एक ही पति के साथ रात दिन क्यों रहा जाय, चलकर थोड़ा दूसरी तरफ भी देखा फिरा जाय।

उपन्यास के चरित्र में यह बदलाव और कितना होगा? इसको तो नहीं कहा जा सकता है परन्तु इस दशा और दिशा के बारे में अध्ययन से अवगत होता है कि इस परिवर्तन ने मानवीय सम्बन्धों को विस्फोट स्थिति में ला दिया है और नये परिवर्तनों की आहट के लिए हमें तैयार रहने को सजग भी कर दिया है।

चतुर्थ अध्याय

मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

व्यक्ति समाज की मूल इकाई है और परिवार उसके मूल समूह पूंजीवादी समाज-व्यवस्था और पाश्चात्य आचार-विचार के प्रभाव स्वरूप देश में सम्मिलित परिवार के विभाजन और सीमित परिवार के उदय को विशेषतः एक प्रमुख सामाजिक प्रवृत्ति के रूप में देखा जा सकता है कि जिसका अगला रूप बढ़ते हुए व्यक्तिवाद के दबाव में उन नये सीमित परिवारों का भी द्वन्द्व और तनाव झेलते हुए

क्रमशः टूटते जाना है। पति-पत्नी और (एक या दो) संतान नाम के तीन स्तंभों पर टिकी यह संस्था अपने वर्तमान में किस प्रकार जीवित है तथा किस भवितव्य की ओर अग्रसर है, मोहन राकेश ने अपने कथा साहित्य के द्वारा जिस वस्तुगत शुद्धता एवं कलात्मक श्रेष्ठता के साथ प्रस्तुत किया है वैसा उनका कोई अन्य समकालीन कथाकार संभवतः नहीं कर सका है पति-पत्नी की पारस्परिक मानसिक असंगति तथा उनके अहं के टकराव के परिणाम स्वरूप घर-परिवार में भरते जाते तनाव, घर-परिवार के प्रति उनकी खोज, उससे ऊब तथा अन्ततः इन सबसे विद्रोह का जो सूक्ष्म विवेचन एवं कलापूर्ण प्रस्तुतीकरण मिलता है वह उनकी वस्तु एवं उसके शिल्प पर पूरी पकड़ का प्रमाण है। कभी-कभी पति-पत्नी के इस परिवार नामक निजी और सीमित संसार में प्रविष्ट प्रेमी या प्रेमिका नामक तीसरे व्यक्ति के उद्दीपक प्रभाव तथा परिवार के उपरिलिखित विग्रहपूर्ण वातावरण के संतान पर पड़ने वाले चिंतनीय प्रभाव को भी मोहन राकेश ने अपने कथा साहित्य में पूरी प्रभावशील सजीवता के साथ प्रस्तुत किया है।

मोहन राकेश कहानीकारों में हिन्दी के लोकप्रिय कहानी कार हैं। उनकी कहानियां जैनेन्द्र, अश्क, अज्ञेय इत्यादि के साथ ही मार्कण्डेय, कमलेश्वर, धर्मवीर भारती, उषा प्रियंबदा, राजेन्द्रयादव, शेखर जोशी, ज्ञानरंजन, अमरकांत आदि से भिन्न होकर अपनी अलग पहचान बनाने में सक्षम हुई हैं। राकेश के कहानीकार की सार्थकता इतिहास से मुक्त होने और समसामयिक आन्दोलन को जीवित करने के क्रम में है। अन्य लेखकों की तरह राकेश की आधुनिकता पुस्तकीय ज्ञान या बौद्धिक एहसास के क्रम में नहीं विकसित हुई है। वे अपने अनुभव और अपने आस-पास की दुनियां से अपनी आधुनिकता को लिए हैं । राकेश की आधुनिकता भारतीय आधुनिकता के समानान्तर है। बहुत साफ कहें तो आधुनिकता की सारी शर्तों की दृष्टि से अधबनी और अभी निर्माणाधीन है।

मोहन राकेश की कहानियों की संख्या बहुत बड़ी है। इन कहानियों की कई-कई वस्तुगत और गठनात्मक परतें हैं। उनकी सम्पूर्ण कहानियाँ एक पूर्ण रचनाकार की

अनेक निर्माणाधीन स्तरों को संकेतित करती हैं। बहुत ही विस्तृत क्षितिज की विभिन्न बिन्दुओं तक पहुँचने के कारण उनकी कहानियों में विशेष तरह की रचनात्मक स्फीति है। उन्होंने विभाजन मोहभंग, यान्त्रिकता विसंगतियां, निरर्थकता, फालतूपन, विघटन, राजनीतिक सामाजिक भ्रष्टाचार और व्यापक असन्तोष के बीच जी रहे लोगों को लेकर कहानियों का सृजन किया है। राकेश की कहानियाँ 'झूठ' के बीच से नहीं सच्चाई और प्राथमिकता के बीच से गुजरने की अनुभूति की गवाही देती हैं। क्योंकि राकेश ने जीवन में जो कुछ भोगा– झेला उन सबको कहानी का रूप दिया।

मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन कई रूपों एवं सन्दर्भों में देखा गया है। विघटन सामाजिकता के सन्दर्भ में दो आयामों को लेकर चला है। सम्बन्धों का विघटन एवं उससे जुड़े रहने की छटपटाहट, बिलगाव एवं खण्डित होने की प्रक्रिया इन्हीं के अन्तर्गत सामाजिकता के विभिन्न सन्दर्भों में आधुनिकता देखी गई है। सम्बन्धहीनता 'एक और जिन्दगी' जख्म, गुंझल में मुखरित हुई है। पति–पत्नी में समझदारी एवं विश्वास के धरातल पर खड़ा हुआ रिश्ता चाहिए। व्यक्ति अगर किसी का रिश्तेदार है तो उस रिश्ते के प्रति एक माँग (तकाजा) रहती है और उन तकाजों के फेरे में रहकर व्यक्ति अपने आप में उलझा रहता है। इसी कारण दोनों में विश्वास की कमी आने लगती है। परिणामतः जिन्दगी नीरस लगने लगती है। राकेश जी की कहानियों में पति–पत्नी एक दूसरे को सहते हैं, रिझाते–चिढ़ाते हैं, रोते–रूलाते हैं, अनेकबार एक–दूसरे को झटककर अलग हो जाते हैं। निरन्तर अकेलापन, अजनबीपन एवं अस्तित्व संकट का भी सामना करते हैं, परन्तु अलग नहीं हो पाते। ये कहानियाँ तनाव ग्रस्त परिवार, औपचारिकता, कृत्रिमता की दलदल में फंसकर निरन्तर ठण्डे पड़ते भावनात्मक सम्बन्धों के मिट जाने के मूक साथी हैं । जीवन में हताशा, निरर्थकता, विक्षिप्तता एवं बिखराव घर करते जा रहे हैं।

जीवन की व्यर्थता 'आर्द्रा' कहानी में मिलती है तो महानगरीय परिवेश का संत्रास, 'फौलाद का आकाश', 'क्वार्टर' कहानी में मिलता है। चुनाव के अनिर्णय का दर्द,

'सुहागिनें' 'ग्लासटैंक' कहानी में गहराई तक उतर गया है। अपरिचय बनाम परिचय, 'अपरिचित' , 'पहचान' कहानी में प्रखरहै। परिवेश का अलगाव और औपचारिकता 'पाँचवें माले का फ्लैट', 'अर्द्ध विराम', 'उसकी रोटी' में अपना आयाम लिए हैं। जख्म और मंदी कहानी में मानव की आत्म-निर्वासन की स्थिति है तो मिसपाल कहानी में एक असफल नारी का प्रतिनिधित्व है। 'खाली' कहानी में विलगाव बहुत ही गहरा हो गया है। सम्बन्धों का विघटन अमानवीयता एवं नये मूल्यों की खोज के कारण 'जंगला' एवम 'चाँदनी और स्याह दाग' कहानी में स्पष्ट तौर पर देखा गया है।

आर्थिकता के सन्दर्भ में पारिवारिक विघटन राकेश जी की कहानियों की रीढ़ है। मनुष्य की आर्थिक विवशता एवं जिन्दगी का दोहरापन 'भूखे' कहानी में प्रखरता से मिलता है। 'आर्द्रा', 'खाली', 'वारिस' कहानी में अर्थ का अभाव तथा मानवीय सम्बन्धों के संकट को रेखांकित किया गया है। अर्थ से उत्पन्न घुटन और छटपटाहट 'पांचवे माले का फ्लैट', एवं मंदी में दिखाई देता है। नारी का वर्तमान जीवन में शोषण जारी है। उसका इस्तेमाल अर्थ के लिए किया जा रहा है, इसलिए उसका आर्थिक विवशता में नारीत्व नष्ट होता जा रहा है। 'जानवर और जानवर' 'हकहलाल' आदि कहानियों में इसका चित्रण आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में हुआ है।

पारिवारिक विघटन का सन्दर्भ राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में घिनौने रूप में उभरा है हालाँकि कोई समाज कल्पना के अनुसार पूरी तरह नहीं बदलता उसकी कुछ धारणाएं वैसी ही रहती हैं। फिर भी समाज के ऊपरी कथन गठन में तात्कालिक प्रभाव होते हैं, जो समाज के स्थाई मूल्यों को प्रभावित करते रहते हैं। नौकरशाही की अमानवीयता 'परमात्मा का कुत्ता' जख्म आदि कहानियों में व्यंग्यात्मक स्वर में प्रकट हुई है। सार्वजनिक रूप से व्यक्ति की सुरक्षा खत्म होने का संत्रास एक ठहरा हुआ चाकू में मिलता है विभाजन की विभीषिका और उससे विस्थापित होने के भाव को मोहन राकेश ने 'कम्बल', 'क्लेम' और 'मलबे का मालिक' कहानियों में व्यक्त किया गया है। इस संत्रास में

मानवीयता की चिन्गारी मात्र है। आधुनिक मनुष्य में अलगाव की जगह असुरक्षा, अकेलेपन की जगह सत्ता की क्रूरता अस्तित्व संकट की जगह सामूहिक शोषण आदि आधुनिकता के ही परिणाम है।

राकेश की कहानियों में आदमी अपने आस-पास के सवालों से टकराता है, टूटता है और निर्वासित हो रहा है। वैज्ञानिक विचारधारा ही आधुनिकता की धारणा बन गई है। जीवन की यान्त्रिकता से आदमी-आदमी से कट गया है। व्यक्ति अकेलेपन से निकलने और परिवेश से जुड़ने के लिए छटपटा रहा है। राकेश जी वैज्ञानिक युग में नारी को आधुनिकता की होड़ में अपने को नारीत्व से परे हटाना नहीं चाहते। नारी जीवन की श्रद्धा और आस्था अब सहयोग और समझौते में बदल गई है।

पंचम अध्याय

मोहन राकेश के उपन्यासों में पारिवारिक विघटन का अंकन

मोहन राकेश के उपन्यासों में नायक की धारणा या चरित्र और सिलसिलेवार कथाका मोह नहीं है। वे एक मुख्य मनःस्थिति से जुड़े हुए अनेक प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं जिससे वाह्य परिवेश भी भीतरी संदर्भ में परिवर्तित हो गये हैं बाहर की हलचल उनके भीतर की हलचल बन गई है।

'अन्धेरे बन्द कमरे' में हरबंश और नीलिमा का अन्तर्द्वन्द्व चलता है क्योंकि उपन्यास के भीतर हरबंश और नीलिमा से जुड़ी हर घटना है। शुक्ला, सुरजीत, जीवन भार्गव, शिवमोहन, सुषमा, ठकुराइन, इबादतअली, मधुसूदन आदि पात्र कुछ क्षण के लिए उपन्यास से ओझल भले हो जाते हैं लेकिन हरबंश और नीलिमा कभी अनुपस्थिति नहीं होते हैं। पूरे उपन्यास में उनके अन्तर्द्वन्द्व की छाया किसी न किसी रूप में मंडराती रहती है। दाम्पत्य सम्बन्धों का संघर्षण भारतीय अभारतीय स्थानों और विचारों से जुड़कर

स्पष्ट हुआ है। सम्पूर्ण उपन्यास स्त्री-पुरूष के सम्बन्धों और अधिकारों के तनाव के सन्दर्भ में विकसित होता है। हरबंश और नीलिमा के बीच जो टकराहट है वह परस्पर पति पत्नी की टकराहट ही नहीं बरन पुराने और नये मूल्यों की टकराहट है। हरबंश का व्यक्तित्व मूल्यों के सांचे में ढला हुआ है और नीलिमा का व्यक्तित्व सफलता पाने की खोज में। हरबंश शिक्षित और आधुनिक होते हुए भी अपने पूर्वाग्रहों को नहीं छोड़ पाता जबकि नीलिमा अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर जीना पसन्द करती है। वह शिक्षित आधुनिक और नृत्यकला में पारंगत है। वह सबके बीच खुलकर जीना चाहती है। उसके पुरूष मित्र भी थे, पर चरित्र का जहाँ तक सवाल है, वह उस धरातल पर प्रशंसनीय है। स्त्री की कुछ शारीरिक सीमाएं होती है। जिसको उसे बड़ी मजबूती से बचाये रखना पड़ता है। उसकी यही कमजोरी भी है जो पुरूष के सामने कमजोर बना देती है इसलिए उपन्यास के अन्त में नीलिमा को आत्म समर्पण करना पड़ता है। मोहन राकेश ने 'अन्धेरे बन्द कमरे' में विवाहित जीवन की अर्थहीनता का सशक्त तथा सजीव रूप खीचने का प्रयास किया है। इसमें समस्याओं का समाधान नहीं है लेकिन अधिकार के लिए क्रान्ति और विरोध का संकेत अवश्य है।

'न आने वाला कल' में मानवीय सम्बन्धों के विघटित स्वरूप गहरे में मिलते हैं। अन्धेरे बन्द कमरे की तुलना में न आने वाले कल में टूटकर न टूटने की स्थिति में मानवीय सम्बन्धों की अकुलाहट चरम सीमा पर मिलती है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' में मानवीय सम्बन्धों के अलगाव की वृद्धि उथले में मिलती है। क्योंकि सभी पात्रों में अलगाव का भाव उपन्यास के अन्त में जाकर जुड़ने के रूप में खत्म होता है। सभी पात्र स्वयं को जुड़ने के लिए तैयार कर लेते हैं अगर कहीं कुछ शेष रह जाता है तो वह आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में महानगरीय परिवेश की देन है। परन्तु 'न आने वाला कल' में मानवीय सम्बन्धों के अलगाव का बोध इतने गहरे में है कि लोग उस बोध से उबरने का असफल प्रयास करते हैं। मनोज का अलगाव शोभा बॉनी और काशनी से होता है लेकिन जुड़ने की निरन्तर प्रक्रिया के सन्दर्भ में। वह एक से विघटित होने पर

दूसरे से जुड़ने की प्रक्रिया में उस क्षण को भोगने का प्रयास करता है। क्योंकि वे लोग मिशन की पाबन्दियों में जीने के लिए अभिशप्त थे। दूसरी तरफ घिसी-पिटी जिन्दगी उनकों नितान्त अकेला रखती है। सुबह से शाम तक काम में लगे रहना मानो सभी के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। सभी पात्र नौकरी छोड़कर कहीं और जाने का निर्णय नहीं ले पाते थे। भविष्य की बेरोजगारी की चिंता से संत्रस्त रहते थे। फादर बर्टन स्कूल की चारदीवारी के घेरे में बन्द रहने की नियति सबकी नियति थी। उनकी अकुलाहट संत्रास अकेलापन, अजनबीपन ऊब और उदासी यह सारा का सारा बोध मिशन स्कूल की व्यवस्था की देन थी।

'अन्तराल' में सिमटी हुई दुनिया की अपनी कहानी है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' और 'न आने वाला कल' के क्रम में लिखा गया यह उपन्यास अपनी संरचना परिवेश और समस्या दोनों उपन्यासों से अलग है। 'अन्तराल' में कस्बाती शहर का परिवेश और सामाजिक जीवन से टकराकर जी रहे लोगों की अपनी समस्याएँ हैं, इसमें स्त्री और पुरुष के बीच नामहीन सम्बन्धों की कहानी है। श्यामा और कुमार दोनों शारीरिक मानसिक तनावों से गुजरते हैं, अनेक प्रश्नों से जूझते हैं और टूटते हैं लेकिन सतह पाने में दोनों असफल रहते हैं। श्यामा और कुमार के जीवन में दो रिक्त कोष्ठ हैं- श्यामा के जीवन में देव का और कुमार के जीवन में लता का। वे एक दूसरे से जुड़कर एक दूसरे के जीवन के रिक्त कोष्ठ की पूर्ति सम्बन्धों के निर्माण में करना चाहते हैं। लेकिन उनके अतीत का बोध इतना गहरा और सूक्ष्म है कि वे उपन्यास के अन्त तक सम्बन्धों का नाम नहीं दे पाते। इसलिए उनके जीवन में नामहीन सम्बन्धों के दरम्यान अन्तराल बनता चला गया है। 'अन्तराल' में सम्बन्धों का अकेलापन शारीरिक नहीं मानसिक है। जिसको भरने के लिए देव शराब का सहारा लेता है, श्यामा कुमार के व्यक्तित्व का और कुमार श्यामा के व्यक्तित्व का। अतः श्यामा, देव, कुमार और प्रोफेसर मलहोत्रा और उसकी पत्नी के अन्दर का 'अन्तराल' बने रहना मनोवैज्ञानिक जटिलता है। लेकिन उसे बनाये रखना ही उपन्यास का रचनात्मक कार्य है। इसलिए यह उपन्यास

मनोवैज्ञानिक और अति मानसिक होने के कारण आधुनिक है। 'अन्तराल' में सम्बन्धों के निर्माण पा लेने की एक कोशिश और कोशिश में बेचैन रहने की प्रक्रिया है। यह उनकी मात्र अपनी कोशिश ही रहती है क्योंकि उनके अन्दर व्याप्त उदासी और थकान उन्हें सफल नहीं बना पाती।

षष्ठम् अध्याय

मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक विघटन का बीज

मोहन राकेश ने बेकारी में टूटते परिवारों के अमानवीय रूप तथा उनकी विवशता को स्वीकार करने के लिए अभिशप्त लोगों के बीच परायीकृत, भावना, अजनबीपन और अकेलेपन के बोध से पीड़ित और निर्वासित लोगों की आम जिन्दगी की अभिव्यक्ति अपने नाटकों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि देते हुए करते हैं क्योंकि मानवीय रिश्तों में उनकी दिलचस्पी किसी तरह की आरोपित सैद्धान्तिकता या चालू नारों से आक्रान्त नहीं है और इसलिए वह अपने सीमित परिवेश में भी सहज और सहानुभूति पूर्व रह सकी है। इसी से मोहन राकेश की रचनाओं में जिन्दगी की जो तस्वीर है उसमें एक तरह की ईमानदार तलाश अधिक है। किसी अन्तिम निष्कर्ष का मसीहाई अन्दाज नहीं है। वस्तुतः राकेश के नाटक चाहे ऐतिहासिक हों या वर्तमान कालिक वे अर्थ और जीवन मूल्यों की टकराहट से ही पैदा होते हैं। यही कारण है कि राकेश के नाटक बुनियादी पारिवारिक तर्कों पर खड़े हैं। राकेश जी ने आज की व्यवस्था समस्या और व्यक्ति की टूटती जिन्दगी के बीच जीकर लिखा है। रूढ़ियों, परम्पराओं अवास्तविकतों को त्यागकर वे आज के नये प्रभावों, विचारों और प्रवृत्तियों को नये प्रयोगों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में पारिवारिक जीवन की त्रासदी को समग्रता प्रदान की है।

नाटक के पात्र जीवन्त और स्वाभाविक हैं। राकेश को स्त्री पुरुष के सम्बन्धों की विडम्बना को अलग अलग स्तरों पर पकड़ने के प्रयत्न में सफलता मिलती है। नाटक का नायक कालिदास मल्लिका को छोड़कर उज्जैन नहीं जाना चाहता है, लेकिन मल्लिका कालिदास को प्रेरित कर उज्जैन जाने के लिए विवश कर देती हैं कालिदास उज्जैन जाने के बाद हमेशा मल्लिका के अभाव को महसूस करता रहा लेकिन एक बार ग्राम्य प्रान्त में आने पर भी मल्लिका से नहीं मिल पाता और मिलता है तो अजनबीपन और परायेपन के धरातल पर ही। दोनों का प्रेम दोनों को एक-दूसरे के लिए आने वाले कल की प्रतीक्षा में अहर्निश तोड़ता है। एक तरफ मल्लिका कालिदास के लौटने और यशस्वी होने की प्रतीक्षा और बोध में खण्डित हो रही है जिसमें आस्था की गन्ध होने से रोमेन्टिक बोध की अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन कालिदास के अंदर मल्लिका से जुड़कर पुनः जी लेने की जो ललक थी वह मल्लिका से मिल लेने पर समाप्त हो जाती है इसलिए कालिदास स्वीकार करता है कि जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खण्डित हो गया हूँ। कालिदास मल्लिका की उपेक्षा तो करता है लेकिन उसके बिना जी नहीं पाता है। इस प्रकार कालिदास जीवन भविष्यहीनता के संत्रास से खण्डित, निराश और असफल होने के बोध से टूटता है।

'लहरों के राजहंस' में पारिवारिक विधटन का बीज गहरे रूप मे मिलता है। नन्द का अन्तर्द्वन्द्व वर्तमान व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व के समानान्तर है। क्योंकि नन्द अनिर्णय की स्थिति में जिन्दा रहने की प्रक्रिया में सांस लेता है। नन्द अपनी उपलब्धि की खोज न तो सुन्दरी से जुड़कर करना चाहता है। और न तो गौतम बुद्ध से जुड़कर नन्द कहता है कि मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता। वह अपने ही अंदर के प्रश्नों

से टकराता है। वह जानता है कि बुद्ध की दीक्षा का साधनात्मक पहलू आज के सन्दर्भ में निरर्थक है सत्य तो यह है कि जिये जाने से जीवन धीरे-धीरे चुक जाता है। नन्द पत्नी के पास रहकर होने के बोध से टकराता है वह स्वीकार करता है कि मैं केवल उतना सा ही हूँ जितना-सा कि तुम्हारी दृष्टि मुझे चाहती है। नन्द अपने अन्तर्द्वन्द्वों से इतना टूट चुका है कि वह स्वयं को चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति महसूस करता है। नन्द के होने की स्थिति को न तो सुन्दरी ने बोध किया और न तो गौतम बुद्ध ने। सुन्दरी सर्वदा स्वयं के होने की चोट नन्द को देती रही और नन्द ने जब अपने अस्तित्व की चुनौती को इनकार करने का प्रयास किया तो उसे यतीवना दिया गया। इस तरह उसके नन्द होने की वास्तविकता व्याकुलता में ढक गई और नन्द की नियति सबसे कटकर व्याकुलता में वास्तविकता को ढूंढ़ने के प्रयास में स्पष्ट होती है। सम्बन्धों की यह दरार नन्द के अनिवार्य की स्थिति में परायेपन और परम्परा से कटकर जीने में मिलती है। यह नन्द के जीवन की ही विडम्बना नहीं है बल्कि आज के मनुष्य की नियति है। वह मुक्त होना चाहता है। मुक्त न होने की स्थिति में ही टूटता है। वह न तो कुछ अतीत से लेकर जीना चाहता है और न तो वर्तमान से जुड़कर, वह अपने अन्तर्द्वन्द्व में अपनी उपलब्धि ढूंढ़ना चाहता है।

आधुनिक - सभ्यता और व्यवस्था ने संयुक्त परिवार को तोड़कर केन्द्रीय परिवार का निर्माण किया है और आज केन्द्रीय परिवार धीरे-धीरे एक अजनबीपन की धर्मशाला बन गये हैं। मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक में मध्यवर्गीय परिवार की सामाजिक, आर्थिक तथा मानसिक स्थितियों का अति यथार्थपूर्ण चित्रण किया है। माता-पिता और बच्चे एक घर और एक स्थान पर रहते हुए भी अलगाव बोध से पीड़ित हैं। घर की माली हालत ठीन न

होने के कारण उस त्रासदायक 'हवा' से सब एक दूसरे के लिए और यहां तक स्वयं के लिए जहरीले हो गये हैं। पुरूष महेन्द्रनाथ एक असफल व्यापारी है। बेकारी हालत के कारण ही उसकी पत्नी और बच्चे उससे अलग होते जा रहे हैं। वह किसी से जुड़ा हुआ अनुभव नहीं करता है वह कहता भी है कि हर वक्त की धतकार, हरवक्त की कोंच वह यही कमाई है, यहाँ मेरी इतनी सालों की। वह पत्नी के मित्रों के आये दिन आगमन का विरोध करना चाहकर भी विरोध नहीं कर पाता। उसके अस्तित्व को स्वयं उसकी पत्नी सावित्री स्वीकार नहीं करती है। वह उससे जुड़कर भी उससे मुक्त होने के लिए छटपटाती रहती है। महेन्द्रनाथ स्वयं जानता है कि उनका परिवार उसे रबर स्टैम्प के सिवा कुछ नहीं समझता है। महेन्द्रनाथ की पत्नी सावित्री नौकरी करके घर का खर्च चलाती है। आफिस से लौटने के बाद घर के बिखरे बर्तन और कपड़ों से टकराकर बिखर जाती है फिर भी वह अपने बच्चों, अपनी महत्वाकांक्षाओं और बेकार पति के लिए अन्य पुरूषों से जुड़ती रहती है। यहाँ तक कि लड़के अशोक के लिए सिंहानियां जैसे भ्रष्ट पुरूष के घर जाने में संकोच नहीं करती। वह इन सबसे तंग आकर अलग होने का निर्णय लेना चाहती है वह सबसे मुक्त होकर अपने पुराने प्रेमी जगमोहन के पास रहना चाहती है लेकिन जगमोहन के धता देने पर उसका निर्णय मात्र निर्णय रह जाता है पुनः उसकी वापसी उसी घर में होती है जहां पति से घृणा और बच्चों से आत्मीयता विहीन सम्बन्ध का बोध उसे हुआ था। वह पूर्ण आदमी का चुनाव घर के बाहर नहीं घरके अन्दर भी करना चाहती है।

महेन्द्रनाथ और सावित्री के तनावपूर्ण, असंगत सम्बन्धों और व्यर्थता की स्थितियों ने बच्चों पर अपना भरपूर प्रभाव डाला है। सावित्री की बड़ी लड़की बिन्नी घर की घुटन ऊब से तंग आकर मनोज से जुड़ना चाहती है

लेकिन मनोज के साथ रहकर भी अलगाव बोध से पीड़ित रहती है। लड़के अशोक के मन में बेकार पिता के लिए करुणा, माँ के लिए आक्रोश औरबहिन के प्रेम में अविश्वास है। वह उसे घर से निकलने का एक जरिया मानता है। वह प्रभावशाली व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाने का विरोधी है। क्योंकि ऐसे लोगों के घर आने पर वह अपनी निगाह में जितने छोटे हैं उससे और छोटे हो जाते हैं। छोटी लड़की (किन्नी) माता-पिता, भाई-बहन से घिरकर भी किसी से लगाव महसूस नहीं करती। घर के फूहड़ वातावरण के कारण ही वह यौन सम्बन्धों में रुचि लेती है। जो उसकी आयु से कहीं आगे की बात है। 'आधे-अधूरे' नाटक में विघटनकारी प्रवृत्तियाँ सभी सदस्यों में व्याप्त हैं। सभी उस परिस्थिति से निकल भागने की चेष्टा करते हैं। लेकिन पुनः उनकी वापसी उसी घर में होती है जिसकी जड़ में परिस्थति ही है। इस नाटक में मनुष्य की नियति की खोज नहीं, स्थिति की खोज है। आज एक ओर मनुष्य की तनावपूर्ण जिन्दगी है तो दूसरी तरफ उसकी नींव में माली हालत। इन्हीं पारिवारिक और आर्थिक टकरावों को बड़े तीखे ढंग से राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक में प्रस्तुत किया है।

सप्तम् अध्याय

उपसंहार

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आज परिवार का परम्परागत ढाँचा छिन्न-भिन्न सा हो गया है स्त्री पुरुष का निजीपन मानों आज के महानगरों की भीड़ में कहीं खो गया है उसे सबके बीच में जीते जीते भी उफ, उदासी और आत्मीयहीन अपरिचय के साथ जीना पड़ रहा है। आज स्त्री-पुरुष जीवन में कई समस्याओं के बीच फँस गये हैं। दोनों मन ही मन समस्याओं में उलझे हुए हैं। कल्पनाएं यथार्थ के ताप में जलकर झुलस गई हैं,

विवाह हुआ पर नौकरी नहीं, नौकरी मिली तो संतोषप्रद नहीं और जीवन की इच्छा पूर्ण बन सके इतनी आय वाली नहीं है सम्बन्धों में एक निराशा फ्रस्ट्रेशन जम चुका है। दफ्तर से घर लौटते समय जीवन का आनंद नहीं, बोझ ढोते चल रहे हों वैसा महसूस होता है, पुरूष पत्नी की खीज में भीतर ही भीतर घुलता जा रहा है, स्त्री भी बार–बार सहते सहते विद्रोही तेवर अख्तियार करने पर उतारू हो गयी है। दोनों का मन द्विधाग्रस्त हो गया है। अतीत इससे अच्छा था, वे अतीत में जाना चाहते हैं। वे बहुत कुछ सोचते हैं पर कुछ नहीं कर सकते। आखिर विवश भाव से सभी परिस्थितियों को आज के दम्पत्ति झेलते हैं। किसी के जीवन में आनन्द नहीं, उत्साह नहीं। बस है तो टूटन, विवशता, ऊब तथा निराशा, जिससे वह मन ही मन डूबता उतरता रहता है। स्त्री पुरूष के सम्बन्धों की यह स्थिति और परिणति पूरी के कचोट भरी वेदना के साथ आज के कथा साहित्य में आकार पा रही है। जीवन की विसंगतियों से उपजा यह पीड़ा बोध न केवल मोहन राकेश के कथा साहित्य का विषय है वरन समूची पीढ़ी द्वारा चित्रित कथा साहित्य का अनिवार्य सोपान भी है।

भूमिका

मोहन राकेश समकालीन कथाकारों में अन्यतम हैं। उन्होंने हिन्दी कथा को आडम्बर, कृत्रिमता, सस्ती भावुकता और जुमलेबाजी से अलग करके एक आत्मीय रिश्ता प्रदान किया, एक नयी अर्थ दृष्टि दी थी और एक नया संभावना कुल संसार दिया जो गत वर्षों से लगातार आगे आने को कसमसा रहा था। यही कारण है कि मोहन राकेश के कथा साहित्य में संवेदना की आधुनिकता है, अनुभव का खरापन है और संप्रेषण का सीमित आधार है। कहानीकार के रूप में राकेश हिन्दी की नयी कहानी के सशक्त हस्ताक्षर हैं उनकी कहानियों की उपलब्धि अप्रतिम है। उनके जीवन में अनेक संदर्भ ऐसे आये जब उन्हें मोह–भंग की स्थिति से गुजारना पडा अनेक जीवन्त अनुभवों के कड़वे कसैले घूँट पीने पड़े। अतः उनका कथा साहित्य इस मोह–भंग के त्रासद अनुभवों को हर बार नयी शैली में शब्दबद्ध करता रहा। जिसमें प्रायः अकेले पड़े उस व्यक्ति का चित्रण हुआ है जो आज के समाज में परिवर्तित मूल्यों और साम्बन्धिक यन्त्रणा को अपने अकले क्षणों में झेलते जाने के लिए अभिशप्त हैं। हाँ, यह सच है कि राकेश का अकेलापन अपने समाज से कटे हुए व्यक्ति का अकेलापन नहीं है, बरन समाज के भीतर लुटते–पिटते, जीते–भोगते और लगातार अर्थहीनता की ओर बढ़ते व्यक्ति का अकेलापन है। मोहन राकेश के कथा साहित्य के सम्बन्ध में मात्र इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनका कथा साहित्य स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय सामान्य बौद्धिक जन के वास्तविक जीवन का मौलिक और प्रमाणिक आकलन है।

मोहन राकेश जी को पढने का मौका मुझे प्रतियोगी परीक्षाओं के समय मिला था। उनका 'अषाढ़ का एक दिन' नाटक पढ़कर मैं उनकी ओर आकर्षित हो गया और मैंने उनका सम्पूर्ण साहित्य धीरे–धीरे पढ़ डाला। परिणामतः मेरे मन में उन पर शोध कार्य करने की इच्छा जागृत हुई। मेरी रूचि तब और प्रबल हो गयी जब मेरे शोध निदेशक डॉ0 गिरिजा राय जी ने 'मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के स्वरूप का अध्ययन' विषय पर शोध करने की अपनी सहज स्वीकृति दे दी। फलतः डी. फिल्0 के शोध प्रबन्ध के सिलसिले में मोहन राकेश पर शोध कार्य करने का मौका प्राप्त हुआ।

प्रथम अध्याय में पारिवारिक विघटन समस्या और स्वरूप के अन्तर्गत परिवार का अर्थ देते हुए इसके विघटन के अर्थ पर भी प्रकाश डाला गया है। आज संयुक्त परिवार, एकल परिवार, (नाभिक या न्युक्लियर परिवार) में विभाजित हो रहे हैं और एकल परिवार जो पति–पत्नी एवं एक–दो बच्चों का छोटा सा कुनबा होता है उसमें भी दरारें पड़ रही हैं ये सब औद्योगीकरण की देन है। क्योंकि आज स्त्री अपने आधिकारों के प्रति सचेत हो गयी है और उसने परम्परावादी सती सावित्री वाली छवि को उठाकर एक तरफ रख दिया है। उसने घर से बाहर निकलकर कार्यक्षेत्र में सक्रियता दिखाई है जिससे पुरूष के अहं को चोट पहुँची है और यही अहं की टकराहट सम्बन्धों में दरारें पैदा कर रही है। चूँकि मोहन राकेश का सम्पूर्ण कथा साहित्य स्त्री–पुरूष सम्बन्धों पर ही निर्भर है अतः इसी परिप्रेक्ष्य में स्त्री की पराधीनता को

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करते हुए एक जीवन्त बहस करने का प्रयास भी इसमें किया गया है। अध्याय के अन्त में मोहन राकेश के कथासाहित्य में उनके स्त्री–पुरूष सम्बन्धी दृष्टिकोण को भी दिखाने की कोशिश भी की गयी है।

द्वितीय अध्याय में पारिवारिक विघटन से सम्बन्धित कहानियों का संक्षेप में विवेचन किया गया है जिसमें आज के जीवन परिवेश को आधुनिकता के सन्दर्भ मे लिया गया है, वैसे कथाकारों में आधुनिकता सम्बन्धी दृष्टिकोण में मतवैविध्य हैं। हिन्दी कहानी में आधुनिकता का प्रारम्भ प्रेमचंद की कहानी 'कफन' से माना है, परन्तु 'कफन' कहानी के पात्र निष्क्रिय रूप से गहनतम संकट झेलने में सक्षम हैं पर कहीं भी उनके मन में अस्तित्व संकट के प्रति सवाल नहीं हुआ, और न ही उनका पारिवारिक विभाजन। हाँ बाप–बेटों के सम्बन्धों में अजनबीपन एवं संशय की स्थिति में द्वन्द्व जरूर चलता है यहीं पर इसे आधुनिक माना जा सकता है। परन्तु यहाँ पर स्वातन्त्रयोत्तर भारत की कहानियों का विवेचन किया गया है जिसमें पारिवारिक विघटन का स्वरूप और विघटन के कारणों की स्वतन्त्र पहचान को आंका गया है।

तृतीय अध्याय में हिन्दी उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन के बीज खोजने का प्रयास किया गया है। उपन्यास के जन्म, 'परीक्षागुरू' से लेकर वर्तमान समय तक के उन उपन्यासों को लिया गया है। जिनमें संयुक्त परिवारों का विघटन विश्रृंखल परिवारों का उत्थान एवं पति–पत्नी के बदलते सम्बन्धों को निष्पक्ष रूप से विवेचित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में मोहन राकेश की कहानियों को पारिवारिक विघटन के संदर्भ में विवेचित करने का प्रयास प्रमुख है। मोहन राकेश की कहानियाँ सम्बन्धों के विघटन और जुड़े रहने की प्रक्रिया, आर्थिक विवशता और जिन्दगी के दोहरेपन, बिलगाव और खण्डित होने की प्रक्रिया, मानवीयता और नये मूल्यों की खोज, विभाजन की त्रासदी इत्यादि विभिन्न व्यतिरेक स्तरों की हैं। पारिवारिक विघटन के कारणों को मसीही अंदाज में चित्रण करने वाले कारकों में समकालीन भ्रष्टाचार और उससे उत्पन्न अमानवीयता और व्यंग्य राकेश की कहानियों के नियामक तत्व हैं।

पंचम अध्याय में राकेश के उपन्यासों में मानवीय सम्बन्धों और उनके शुक्ल–कृष्ण पक्षों को बदलते हुए सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में पहचानने की कोशिश की गयी है। राकेश के उपन्यासों में मुख्य रूप से दाम्पत्य सम्बन्धों की टकराहट एवं विवाहित जीवन की अर्थहीनता का सशक्त रूप उभरता है। 'अन्धेरे बन्द कमरे' की दुनिया दिल्ली जैसे महानगर की जटिलताओं की दुनिया है। दिल्ली का यथार्थ 'अन्धेरे बन्द कमरे' का यथार्थ है। 'न आने वाला कल' विसंगति और विसंगति, मानवीय सम्बन्धों के बीच जिन्दा रहने की अकुलाहट और और अस्तित्व की चेतना का उपन्यास है। इसमें आधुनिकता अनिश्चतता के सन्दर्भ स्पष्ट हैं। 'अन्तराल' में अभावों की निरन्तरता और सम्बन्धों को नाम न देने की अभिव्यक्ति हैं। उपन्यास में आज के व्यक्ति की मनः स्थिति को व्याकृत और आकृत किया गया है। 'अन्तराल' में सम्बन्धों के विघटन की आधुनिकता रागात्मक तनावों की है।

षष्ठ्म अध्याय यद्यपि अन्वेशक का विषय नहीं है परन्तु राकेश के नाटकों में ही वास्तविक जीवन की त्रासदी है, इसलिए राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक विघटन के स्वरूप में यहाँ उनके नाटकों का समग्र अवलोकन करने का प्रयत्न अन्वेषक ने किया है क्योंकि राकेश के ऐतिहासिक नाटकों को वर्तमान पारिवारिक जीवन सम्बन्धी विषमताओं, दुर्बलताओं और अभावों के सन्दर्भ में देखकर आलोचनात्मक न्याय दिया जा सकता है। राकेश के नाटकों में जिन्दगी की तस्वीर है उसमें ऐतिहासिक निरन्तरता और नियति प्रतिफलित है। 'आषाढ़ का एक दिन' में समकालीनता का बोध है। इस नाटक में स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों की विडम्बन और एक–दूसरे के अभाव की रिक्तता आदि से अन्त तक है। 'लहरों के राजहंस' में राकेश ने बड़ी सफलता के साथ आधुनिक व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति की है। 'आधे–अधूरे' की पृष्ठभूमि अति आधुनिक है। इस नाटक में आज के मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन की गाथा है, स्त्री–पुरूष के संघर्ष और तनाव का दस्तावेज है। 'आधे–अधूरे' में आधुनिकता का बोध एक–दूसरे से कट जाने में सम्बन्धों के तनाव में जाहिर होता है।

सप्तम् अध्याय में उपसंहार का सृजन किया गया है। इसमें मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन को आधुनिकता के सन्दर्भ में विवेचित, विश्लेषित किया गया है। क्योंकि इसमें निष्कर्ष यही निकलता है कि मोहन राकेश के सम्पूर्ण कथा साहित्य एवं नाटकों में राकेश का अकेलापन अपने समाज से कटे हुए व्यक्ति का अकेलापन नहीं है, वरन समाज के भीतर लुटते–पिटते, जीते भोगते और लगातार अर्थहीनता की ओर बढ़ते व्यक्ति का अकेलापन है।

शोध प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट दिया गया है। परिशिष्ट के पूर्वार्द्ध में राकेश जी की समग्र रचनाओं की सूची दी गई है, इसमें प्रत्येक पुस्तक का प्रकाशन एवं संस्करण भी दिया गया है। परिशिष्ट के उत्तरार्द्ध में सहायक सन्दर्भ ग्रन्थों की सूची दे दी गई है। वे ग्रन्थ कोश एवं समाचार–पत्र, पत्रिकाएं , जो अन्वेषक के विषय विश्लेषण की आधारशिला बन सके हैं। साथ में प्रत्येक ग्रन्थ का प्रकाशक एवं संस्करण भी दिया गया है।

आभार

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की पूर्ति में मेरी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सहायता करने वाले तथा प्रोत्साहित करने वाले हित चिंतकों के प्रति कृतज्ञता–भाव प्रकट करना मेरा प्रथम कर्तव्य है।

जीवन में कुछ क्षण ऐसे होते हैं, जिनसे उऋण होना सम्भव नहीं होता और न उऋण होने की इच्छा ही होती है। इसी तरह का ऋण मुझ पर है– श्रद्धेय गुरूवर्य डॉ0 गिरिजाराय जी की कृपा का। यह शोध प्रबन्ध आपके अशीर्वाद एवं कृपापूर्ण सुदक्ष एवं सक्षम निर्देशन का परिणाम है। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। सातत्यपूर्ण व्यस्तता के बावजूद आपने निरन्तर प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देकर मेरी अत्यन्त सहायता की है। पिता तुल्य डॉ0 विद्याशंकर राय जी ने बार–बार मुझे प्रोत्साहित कर मेरा मार्गदर्शन किया। आपका इतना सक्रिय एवं आत्मीयपूर्ण निर्देशन न होता तो इस शोध प्रबन्ध की मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। आपकी इस सहृदयता को आभार के चन्द लब्जों में

बांधकर मैं सीमित नहीं करना चाहता। इस कार्य के दौरान आपसे मुझे जो स्नेह, प्रेरणा और आत्मीयता मिली, वह आजीवन नहीं भुलाई जा सकती है। आपके इसी स्नेह, प्रेरणा और आशीर्वाद का मैं सदैवअभिलाषी रहूँगा।

जिन विद्वानों के विचारों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे शोध–प्रबन्ध को तैयार करने में सहायता मिली उनमें विभाग के गुरूजनों डॉ0 राम स्वरूप चतुर्वेदी, दूधनाथ सिंह, डॉ राम कमल राय,डॉ राजेन्द्र कुमार, डॉ सत्य प्रकाश मिश्र, डॉ मीरा दीक्षित, डॉ0 भूरे लाल जी आदि के नाम उल्लेखनीय है इन सभी गुरूजनों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध के प्रणयन में मुझे विभिन्न पुस्तकालयों से सामग्री संकलित करने में मदद मिली। इनमें हिन्दी संग्रहालय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग हिन्दुस्तान एकेडमी इलाहाबाद, इलाहाबाद विश्वविद्यालय हिन्दी विभाग पुस्तकालय, केन्द्रीय पुस्तकालय, केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, केन्द्रीय पुस्तकालय दिल्ली प्रमुख हैं। मैं इन पुस्तकालयों की उत्तम व्यवस्था तथा व्यवस्थापकों के सहयोग के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ। विशेषरूप से शिवभारती पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स के मंगलाप्रसाद जी एवं लाल बहादुर जी के प्रति कृतज्ञ हूँ जिन्होंने समय–समय पर हमारे द्वारा मांगी गयी पुस्तकें शीघ्रता से उपलब्ध करायीं, जिनके चलते मुझे शोध सामग्री का अकाल नहीं झेलना पड़ा और शोध विषय का तल स्पर्शी अध्ययन करने में सहायता प्राप्त हुई।

पूज्यनीय बड़े भइया एवं संरक्षक तुलसी राम जी, मनमोहन सिंह आचार्य जी, भगवान सिंह जी तथा हरगोविन्द सिंह जी के अशीम धैर्य, त्याग तथा शुभ कामनाओं का ही यह फल है जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध को पूरा कराने में किसी भी भैतिक संसाधनों की कमीं नहीं रहने दी। आप सभी बन्धुओं के इस सक्रिय सहयोग तथा उचित परामर्श, वैचारिक सहयोग तथा निरन्तर प्रोत्साहन ने जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है इसे आजीवन भुलाया नहीं जा सकता है। कमल एवं सहदेव सिंह तथा सभी मित्रों के सहयोग के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अपने अमूल्य समय को निकालकर मेरी छोटी–छोटी आवश्यकताओं का ख्याल रखा और उन्हें शिद्दत के साथ पूरा किया। जिससे इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने में इतनी सक्रिय गति मिली।

वीरेन्द्र सिंह यादव

शारदीय नवरात्र
14 अक्टूबर 2002 ई0

(वीरेन्द्र सिंह यादव)
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के स्वरूप का अध्ययन

विषयक्रम

भूमिका

पुरोवाक्

प्रथम् अध्याय	पारिवारिक विघटन : समस्या और स्वरूप	1–25
द्वितीय अध्याय	हिन्दी कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन	26–87
	विघटन का स्वरूप एवं कारण	26–28
	अकेलापन के कारण पारिवारिक विघटन– परिन्दे, दोपहर का भोजन	28–36
	परम्परागत मान्यताओं और नैतिक बोध के पतन के कारण पारिवारिक विघटन – वापसी, शेष होते हुए, सम्बन्ध	36–46
	आधुनिक नारी के परिवर्तित जीवन के कारण पारिवारिक विघटन – मछलियाँ, नन्हों, यही सच है	46–58
	बदलते स्त्री–पुरूष सम्बन्ध के कारण पारिवारिक विघटन– मित्रो मरजानी, टूटना	58–67
	आर्थिक दबाव और मूल्यों के पतन के कारण पारिवारिक विघटन– सेलर	67–70
	पीढ़ी संघर्ष के कारण पारिवारिक विघटन– एक नाव के यात्री	70–76
	अस्तित्वरक्षा और उत्कट जिजीविषा के कारण पारिवारिक विघटन– गुलकी बन्नो, खोई हुई दिशाएं	76–83
तृतीय अध्याय	हिन्दी उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन का बीज	88–163
	उपन्यासों में विघटन का स्वरूप एवं कारण	88–90
	यथार्थवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक	90–109

	विघटन– परीक्षा गुरू, सेवासदन, निर्मला, भूले बिसरे चित्र	
	मार्क्सवादी यथार्थवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन– झूठा सच, मेरी तेरी उसकी बात	109–120
	व्यक्तित्वादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन– कंकाल, सन्यासी, सफेद मेमने	120–132
	व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन– गबन, त्यागपत्र, शेखर एक जीवनी, नदी के द्वीप	132–153
	ऐतिहासिक यथार्थ स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन– दिव्या	153–163
चतुर्थ अध्याय	मोहनराकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन	164–220
	विघटन का स्वरूप एवं कारण	164–169
	सम्बन्धों का विघटन और जुड़े रहने की छटपटाहट के कारण पारिवारिक विघटन, एक और जिन्दगी, अपरिचित, आर्द्रा, ग्लास टैंक, फौलाद का आकाश, गुंझल, पहचान, सुहागिनें, क्वार्टर	169–185
	आर्थिक विवशता और जिन्दगी के दुहरापन के कारण पारिवारिक विघटन– खाली, भूखे, हकहलाल, जानवर और जानवर, पांचवें माल का फ्लैट, मन्दी, उसकी रोटी	185–196
	बिलगाव और खण्डित होने की प्रक्रिया के कारण पारिवारिक विघटन– जख्म, मिसपाल, वारिस	196–202
	मानवीयता और नये मूल्यों की खोज के कारण पारिवारिक विघटन – जंगला, चाँदनी और स्याह दाग	202–205
	समकालीन भ्रष्टाचार और उससे उत्पन्न अमानवीयता के कारण पारिवारिक विघटन – परमात्मा का कुत्ता, आखिरी सामान, एक ठहरा हुआ चाकू	205–211
	विभाजन की त्रासदी के कारण पारिवारिक विघटन– मलवे का मालिक, कंबल, क्लेम	211–220
पंचम् अध्याय	मोहन राकेश के उपन्यासों में पारिवारिक	221–275

	विघटन का अंकन	
	पारिवारिक विघटन का स्वरूप	221—230
	अंधेरे बंद कमरे	230—245
	न आने वाला कल	245—254
	अन्तराल	254—275
षष्ठम् अध्याय	मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक विघटन का बीज	276—290
	मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक विघटन का स्वरूप	276—280
	आषाढ़ का एक दिन	280—283
	लहरों के राजहंस	283—286
	आधे अधूरे	286—290
सप्तम् अध्याय	उपसंहार	291—298
	परिशिष्ट — सहायक ग्रंथ सूची	299—312

प्रथम अध्याय

पारिवारिक विघटन : समस्या और स्वरूप

प्रथम् अध्याय

पारिवारिक विघटन : समस्या और स्वरूप

परिवार किसी भी समाज में एक विशिष्ट स्थिति एवं महत्व रखता है। परिवार के बिना समाज की कल्पना सर्वथा असम्भव है। सामान्यता परिवार का आरम्भ विवाह के साथ ही होता है। क्योंकि परिवार में पति–पत्नी को ही मूल इकाई के रूप में समाविष्ट किया जाता है। संतान युक्त परिवार विकसित श्रेणी में आता है। कुछ समाजों में निःसन्तान दम्पत्ति वाला परिवार अपूर्ण परिवार माना जाता है। पूर्व इतिहास के अवलोकन करने पर यह बात ज्ञात होती है कि संतान परिवार की एक आवश्यक शर्त रही है जिसके अभाव में केवल पति–पत्नी को ही परिवार के रूप में मान्य नहीं किया गया है बल्कि परिवार में माता–पिता भाई–बहन तथा अन्य रक्त सम्बन्धी भी अभिन्न रूप में जुड़े हुए हैं। एन्डरसन का कथन है– "परिवार का एक रूप वह है जिसमें हम जन्म लेते हैं (Family of orientation) और दूसरा रूप वह है जिसमें हम बच्चों को जन्म देते हैं(Family of Procreation) परिवार की सार्वभौमिकता इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि हममें से कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो परिवार के इन दोनों रूपों में से किसी का भी सदस्य न हो।"[1] यह कथन परिवार की इसी सार्वभौमिकता को स्पष्ट करता है। विज्ञान के वर्तमान युग में मनुष्य ने आश्चर्य जनक वस्तुओं का आविष्कार किया है, अतीत में मानव ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने के लिए अमृत तक की खोज कर ली, लेकिन इस तथ्य का शायद ही कोई अपवाद हो कि परिवार का निर्माण आज भी मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण खोजों में से एक है।

परिवार मानव समाज का इतना सर्वव्यापी और विराट यथार्थ है कि इसे किसी संकुचित और संक्षिप्त परिभाषा में बाँधकर विश्लेषित करना सहज नहीं है। शाब्दिक रूप से परिवार अथवा अंग्रेजी का शब्द Family [2] लैटिन Famulus से बना है। जिसका अर्थ है 'सेवक' इससे स्पष्ट होता है कि परिवार का तात्पर्य किसी भी ऐसे समूह से है जिसके सदस्य सेवा भाव से एक दूसरे के साथ रहते हैं। संस्था के रूप में, अन्य समाजों में परिवार का रूप लगभग एक समान ही है, लेकिन आकार और संगठन के दृष्टिकोण से भिन्न–भिन्न समाजों में इसका रूप भी एक दूसरे से कुछ भिन्न पाया जाता है। यही कारण है कि परिवार को

परिभाषित करने में विभिन्न विद्वानों के विचारों में भी कुछ भिन्नता दिखाई देती है।

बर्जेस एवं लॉक ने परिवार की परिभाषा विस्तार से ही है– "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संगठित हैं, एक छोटी सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं, और पति–पत्नी , माता–पिता, पुत्र–पुत्री, भाई तथा बहन के रूप में एक दूसरे से अन्तर्क्रियाऐं करते तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण तथा देख–रेख करते हैं।"[3]

मैकाइवर और पेज ने परिवार की संक्षिप्त परिभाषा देते हुए कहा है कि परिवार "ऐसा समूह है जो यौन–सम्बन्धों पर आश्रित है तथा इतना छोटा और शक्तिशाली है कि संतान के जन्म पालन–पोषण की व्यवस्था करने की क्षमता रखता है।"[4] मैकाइवर ने अपनी परिभाषा में यौन सम्बन्धों को परिवार के संगठन को आधारभूत तत्व माना है लेकिन यह केवल पश्चिमी दर्शन Philosophy ही सिद्ध हुआ है।

ऑगवर्न और निमकॉफ के अनुसार "परिवार लगभग एक स्थाई समिति है जो पति–पत्नी से निर्मित होती है, चाहे उनके सन्तान हो अथवा न हो।"[5] अपनी बाद की पुस्तक में निमकॉफ ने यह भी स्वीकार किया है कि "बच्चों के बिना परिवार का निर्माण नहीं हो सकता।"[6] ऑगवर्न ने यह तर्क दिया कि बच्चों के बिना परिवार पति–पत्नी के सम्बन्ध को केवल दाम्पत्य सम्बन्ध ही कहा जा सकता है, इसे परिवार कहना बहुत अनुचित प्रतीत होता है।

किंग्सले और डेविस ने परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है; "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनके एक दूसरे के प्रति सम्बन्ध सगोत्रता (Consanguinity) पर आधारित होते हैं और जो इस प्रकार एक–दूसरे के रक्त सम्बन्धी होते हैं।"[7]

वास्तविकता यह है कि परिवार, पति–पत्नी, बच्चों तथा निकट सम्बन्धियों का अपेक्षाकृत एक स्थायी संगठन है, जिसे विवाह सन्तानोत्पत्ति और वंशनाम के आधार पर व्यवस्थित रखा जाता है। परिवार रूपी इस संस्था के गठन द्वारा व्यक्तियों ने (छोटे स्तर पर) परस्पर सुरक्षा की गारंटी ली थी और दी थी इसका उद्देश्य व्यक्ति का अस्तित्व सुखमय और खतरे रहित बनाने का था। वर्तमान समय में इस परिवार रूपी संस्था में विघटन के बीज उत्तरोत्तर विकसित

हो रहे हैं। "सच तो यह है कि भारतीय परिवार भी देश के समान, एक अजीब कसमकस, घुटन, अलगाव, दिशाहीनता, ईर्ष्या, कलह और तू–तू मैं–मैं के दौर से गुजर रहा है।"[8] इसी तरह संयुक्त परिवार के विघटन को परिभाषित करते हुए डॉ0 वीरेन्द्र सक्सेना लिखते हैं – "आज संयुक्त परिवार टूट रहे हैं और उसके स्थानों पर एकाकी परिवारों को अच्छा समझा जा रहा है। अतः परिवार के नाम पर आज हम जो भी कल्पना करते हैं, उसमें पति–पत्नी और उसके अविवाहित बच्चों को ही सम्मिलित माना जाता है।"[9]

संयुक्त परिवार के बीज विघटन को देखने से पहले सर्वप्रथम पारिवारिक विघटन की अवधारणा को समझा जा सकता है। पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक अव्यवस्था से है, चाहे यह पारस्परिक निष्ठा और पारस्परिक नियन्त्रण की कमी से सम्बन्धित हो अथवा व्यक्तिवादिता की वृद्धि से। अधिक स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि "पारिवारिक विघटन में हम किन्हीं भी उन बन्धनों की शिथिलता, असामन्जस्य अथवा पृथक्करण (Dissolution) को सम्मिलित करते हैं जो समूह के सदस्यों को एक–दूसरे से बॉधे हुए थे।"[10]

इस प्रकार पारिवारिक विघटन का अर्थ केवल पति–पत्नी के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न होना ही नहीं, बल्कि माता–पिता और बच्चों के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न होना भी परिवार के लिए उतना ही घातक होता है। वहीं दूसरी ओर मॉरर का मत है कि पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक सम्बन्धों में बाधा पड़ना है। अथवा यह संघर्षों की श्रृंखला का वह चरम रूप है जो परिवार की एकता को खतरा पैदा कर देता है। ये संघर्ष किसी प्रकार के भी हो सकते हैं और संघर्षों के इसी क्रम Sequence को पारिवारिक विघटन कहा जा सकता है।"[11] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि पारिवारिक सम्बन्धों के सीमित तनाव से परिवार का विघटित होना आवश्यक नहीं है बल्कि पारिवारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं। या यूँ कहा जाय कि परिवार में जिस चेतना और निष्ठा के आधार पर सदस्य एक–दूसरे से बंधे रहते हैं और असीमित दायित्व की भावना को महसूस करते हैं उस चेतना और निष्ठा में कमी अथवा कोई गम्भीर बाधा पड़ना ही पारिवारिक विघटन है। मार्टिन न्यूमेयर के शब्दों में पारिवारिक विघटन का अर्थ परिवार के सदस्यों में मतैक्य Consensus और निष्ठा Loyalty का समाप्त हो जाना, अथवा बहुधा पहले के सम्बन्धों का टूट जाना, पारिवारिक चेतना की समाप्ति हो जाना अथवा पृथकता में वृद्धि हो जाना है।"[12]

पारिवरिक विघटन की उपर्युक्त परिभाषाओं से कुछ तथ्यों पर प्रकाश पडता है कि विघटन का अर्थ परिवार में किन्हीं भी सदस्यों के सम्बन्धों का टूट जाना है इसके साथ ही पारिवारिक विघटन का सम्बन्ध केवल पति–पत्नी के सम्बन्धों के तनाव से नहीं हैं। पारिवारिक संगठन में कुछ मतभेद सदैव पाये जाते हैं लेकिन पारिवारिक विघटन का सम्बन्ध संघर्षों की उस सीमा से है जिसमें प्रत्येक वस्तु स्थिति को सन्देह से देखा जाये। वास्तविकता यह है कि पति–पत्नी के स्नेह सम्बन्ध इतने आन्तरिक होते हैं कि परिवार को इन्हीं सम्बन्धों से शक्ति और एकता प्राप्त होती है लेकिन इन बन्धनों में कोई भी शिथिलता आने पर अधिकतर अवसरों पर परिवार विघटित हो जाते हैं। अधिकांश बुद्धिजीवियों का विचार है कि पारिवारिक विघटन का रूप पारस्परिक पृथक्करण विवाह–विच्छेद, सहायता करने में असफल रहना तथा शारीरिक उत्पीड़न आदि के रूप में देखने को मिलता है। वास्तव में ये दशाएं स्वयं में महत्वपूर्ण अवश्य हैं लेकिन परिवार को आवश्यक रूप से विघटित नहीं करतीं। बहुत से पति–पत्नी एक दूसरे से बिल्कुल असहमत होते हुए भी उपर्युक्त अभिव्यक्ति इसलिए नहीं करते क्योंकि उनके धार्मिक विश्वास उन्हें वैसा करने से रोकते हैं। अथवा उनके आर्थिक स्वार्थ उन्हें ऊपरी रूप से एक–दूसरे से बांधे रहते हैं। इसलिए अन्ततः पारिवारिक विघटन का अर्थ पारिवारिक बन्धनों की नियन्त्रण शक्ति में कमी हो जाना तथा सदस्यों में मतैक्य का समाप्त हो जाना ही है।

परम्परागत संयुक्त परिवार में हुए इन परिवर्तनों ने इसके आकार को छोटा कर दिया है इसे औद्योगीकरण की देन ही कहा जा सकता है क्योंकि "पिछले डेढ़ सौ वर्षों में परम्परागत संयुक्त परिवार और ग्रामीण रचना का गुणात्मक परिवर्तन हुआ है। .... उत्पादन की इकाई के स्थान पर परिवार उपयोग की इकाई में रूपांतरित हुआ है। परिवार को संश्लिष्ट रखने वाले सूत्र सगोत्रता के सम्बन्धों के बजाय दाम्पत्य सम्बन्धों में परिवर्तित हो रहे हैं। परिवार अब सर्वोपयोगी सामाजिक उपकरण नहीं रह गया है। वह अपनी अधिकांश आर्थिक, राजनीतिक, शैक्षणिक, चिकित्सात्मक, धार्मिक तथा अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक क्रियाओं से रहित हो रहा है। इसके स्थान पर वह एक छोटे से विशेषीकृत और स्नेहपूर्ण संघ का रूप ले रहा है। कई पीढ़ियों के सदस्यों से मिलकर बने विशाल संयुक्त परिवार से चल कर अधिकाधिक, पति–पत्नी और अविवाहित बच्चों के परिवार की छोटी इकाई का रूप ले रहा है।"[13] यही वह

पारिवारिक इकाई है, जिसे समाजशास्त्री नाभिक परिवार (एकाकी परिवार, या न्युक्लियर फैमिली) कहते हैं जिसके सदस्य केवल पति-पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे ही हैं। हैरिस ने एकाकी परिवार को परिभाषित करते हुए कहा है, "एक एकाकी परिवार उन व्यक्तियों का छोटा समूह है जो जैविकीय भूमिका निभाने के अतिरिक्त एक दूसरे के प्रति संस्थागत सामाजिक दायित्यों को पूरा करते हैं तथा ऐसा करने के साथ ही विश्वासों और मूल्यों का पालन करते हैं। जिनकी उनसे परिवार के अन्तर्गत पूरा करने की आशा की जाती है।"[14] इन परिवारों को तात्कालिक (Immediate) तथा प्राथमिक (Primary) परिवार भी कहा जाता है ऐसा इस कारण कि इसके सदस्य केवल वही व्यक्ति हो सकते हैं जिन्होंने इसमें जन्म लिया हो अथवा दम्पत्ति (Spouse) द्वारा गोद ले लिये गये हों। भारत में अभी तक एकाकी परिवारों की संख्या बहुत कम थी क्योंकि परम्परा के प्रचलन में संयुक्त परिवारों को ही अच्छा समझा जाता था। आज औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के फलस्वरूप एकाकी परिवारों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है और इसे सामाजिक रूप से मान्यता भी मिल गयी है।

एकल परिवार में आज पति और पत्नी की वर्तमान स्थिति बिल्कुल ही परिवर्तित हो गयी है। आधुनिक युग में स्त्री की स्थिति विशेष रूप से इतनी जटिल हो गयी है कि उसके पद और भूमिका में कठिनता से ही सामंजस्य रह पाता है, क्योंकि स्त्री घर में संरक्षिका और मां का कार्य करने के अतिरिक्त जीविका उपार्जन का कार्य भी कर रही है, उच्च शिक्षा प्राप्त होने के बाद भी घर में निष्क्रिय सी बैठी रहती है और पहले की अपेक्षा कम संतानों की इच्छा रखती है। अपने परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त उससे एक साथी, सलाहकार, व्यावहारिक नर्स, प्रेमिका और गृह स्वामी आदि उन सभी कार्यों को करने की आशा की जाती है जो एक ही व्यक्ति द्वारा कठिनता से पूरे किये जा सकते हैं। यूँ कहा जाय कि "आधुनिक परिवार पत्नी की स्पष्ट या प्रच्छन्न दासता पर टिका है ..... परिवार के अंदर वह पुरूष बुर्जुआ है और उसकी पत्नी सर्वहारा का प्रतिनिधित्व करती है।"[15] स्त्री के इस बढ़ते दायित्व बोध ने उसे विद्रोही बना दिया है फलस्वरूप उसने इन नई भूमिकाओं के प्रति असंतोष तथा परस्पर विरोधी कार्यों के प्रति असंतोष जाहिर करना शुरू कर दिया है जो पारवारिक विघटन के लिए अनुकूल वातावरण बना देता है।

स्त्री–पुरूषों में व्यक्तिवादिता बढ़ने से वैवाहिक सम्बन्धों की स्थिरता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। स्नेह और प्रेम की आशा से किये गये विवाह के बाद यदि एक पक्ष में व्यक्तिवादी भावनाएं प्रबल हो जायें, तब सामान्यतः दोनों पक्ष इसे अपना दुर्भाग्य मानने लगते हैं और इसका स्वाभाविक परिणाम विवाह–विच्छेद के रूप में सामने आता है। वास्तव में विवाह का आरम्भ प्रेमपूर्ण बन्धनों से होता है लेकिन विवाह की स्थिरता के लिए इन बन्धनों के अतिरिक्त कुछ अन्य दशाओं का भी होना आवश्यक है। विशेषरूप से पति–पत्नी की मनोवृत्ति और विचारों में समानता होना परिवार के संगठन के लिए आवश्यक हैं। यही पारस्परिक निर्भरता की कमी स्त्री–पुरूष सम्बन्धों में दरार पैदा करती है। वर्जेस और लॉक का कथन है कि "यद्यपि विवाह एक वैधानिक और धार्मिक बन्धन माना जाता है, यह वास्तव में एक वैयक्तिक बन्धन है जिसमें पति–पत्नी के विचारों, इच्छाओं और मनोवृत्तियों का परिवारकी संस्थनात्मक संरचना से भी अधिक महत्व है। इसलिए पारिवारिक तनावों की प्रवृत्ति तथा पारिवारिक विघटन से उनके सम्बन्ध को जानना आवश्यक हो जाता है।"[16] वास्तव में वैयक्तिक तनाव वे प्राथमिक तनाव हैं जो पति–पत्नी के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं। उदाहरण के लिए पति–पत्नी के परस्पर–विरोधी स्वभाव, सामाजिक मूल्यों में विरोध, व्यवहार प्रतिमानों की भिन्नता, यौनिक असन्तुष्ट, दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित विरोधपूर्ण भूमिकाओं और मानसिक रूप से विकार युक्त व्यक्तित्व के कारण परिवार में जो तनाव उत्पन्न होते हैं इन्हीं तनाव के कारण, पति–पत्नी एक–दूसरे पर सदैव दोषारोपण करते रहते हैं और प्रत्येक स्थिति के लिए दूसरे को उत्तरदायी मानते हैं। पारस्परिक अविश्वास, सामान्य विषयों पर मतभेद, झगड़ालू प्रवृत्ति तथा मानवीय व्यवहार इन दशाओं का स्वाभाविक परिणाम होता है जो दोनों प्राणियों के बीच विघटन उत्पन्न कर देता है।

पति–पत्नी की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हो जाने से अक्सर नये प्रकार के तनाव जन्म ले लेते हैं। इन तनावों की प्रकृति भी भिन्न–भिन्न सामाजिक वर्गों में भिन्न–भिन्न प्रकार की होती है। उच्च सामाजिक वर्ग में लड़की को अपने पति के यहाँ उतनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं होती है जो उसे अपने पिता के घर में मिलती रहीं थीं। कभी–कभी भिन्न व्यवहार प्रतिमानों तथा जीवन स्तर सम्बन्धी विशेषताओं के कारण भी वह अपनी नयी दशाओं में अनुकूलन नहीं कर पाती। मध्यवर्ग में पति तथा पत्नी दोनों की ही महात्वाकांक्षाएं बहुत अधिक होती

हैं। लेकिन उनके साधन बहुत सीमित होने के कारण, हमेशा नये–नये तनाव उत्पन्न होते रहते हैं। इससे निराशा और पारस्परिक असंतुष्टि को प्रोत्साहन मिलता है तथा इस प्रकार से परिवार के विघटित हो जाने की आशंका उत्पन्न हो जाती है। निम्न वर्गों में मानसिक और आर्थिक सुरक्षा पहले से ही काफी अधिक होती है। ऋण लेने का स्वभाव, मादक द्रव्यों का प्रयोग स्त्री के प्रति उदासीनता इस वर्ग में परिवार के सम्बन्धों को तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

साधारणतया निर्धनता, बेरोजगारी, स्त्रियों द्वारा आर्थिक जीवन में प्रवेश तथा पत्नी की अपने पति पर आर्थिक निर्भरता भी स्त्री–पुरूष सम्बन्धों में दरार उत्पन्न करता है। निर्धनता और बेरोजगारी के कारण पत्नी अपने पति को निकम्मा और अनुत्तरदायी समझने लगती है जबकि पति अपनी पत्नी को असहयोगी और झगड़ालू समझकर उसकी अवहेलना करना आरम्भ कर देता है। यह पारस्परिक अविश्वास का वातावरण दम्पत्तियों को अनैतिकता की ओर ले जाता है। स्त्रियों द्वारा आर्थिक जीवन में प्रवेश करने से इस तरह के बहुत से परिवार इसलिए विघटित हो जाते हैं कि परम्परावादी स्वभाव के कारण पुरूषों का मन सन्देहपूर्ण बन जाता है अथवा स्त्रियाँ फिर उन उत्तरदायित्वों को पूरा करना जरूरी नहीं समझतीं जिन्हें केवल वे ही कुशलतापूर्वक पूर्ण कर सकती हैं। पति पर पत्नी की आर्थिक निर्भरता सदैव पारिवारिक विघटन का कारण नहीं होता लेकिन यदि एक शिक्षित और कुशलता प्राप्त स्त्री आर्थिक अभावों के बाद भी अपने पति पर पूर्णतया निर्भर होती है, तो अक्सर वह अनेक प्रकार के तनावों से घिर जाती है। मुक्त सामाजिक व्यवस्था वाले समाजों में यह दशा विशेष रूप से पारिवारिक विघटन का कारण सिद्ध हुई है। इस तथ्य को सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री इलटॉट और मेरिल ने भी स्वीकार किया है– "The family was in a very real sence a virtully self sufficient economic unit."[17]

कुछ व्यवसायों की प्रकृति स्वयं इस प्रकार की होती है जो अनेक प्रकार के तनाव देकर स्त्री पुरुष सम्बन्धों में तनावों को जन्म देकर पारिवारिक विघटन की सम्भावना उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिए चल चित्रों में नायक नायिका की भूमिका करने वाले व्यक्ति थियेटर कम्पनियों के मैनेजर तथा व्यवसायिक कम्पनियों के सेल्स प्रतिनिधि अपने परिवारों के लिए अधिक समय न दे सकने के कारण कभी–कभी पारिवारिक विघटन का कारण बन जाते हैं।

एकल परिवारों में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के विघटन में एक तीसरे व्यक्ति के आ जाने के कारण भी दरारें पड़ जाती हैं यदि दोनों के अतीत जीवन में कोई प्रेम सम्बन्ध रहते हैं तो "बाद में पति –पत्नी में से किसी को यह पता लगता है कि दूसरे साथी का कोई ऐसा अंतरंग अतीत भी रहा है जिसमें उसकी स्वयं की साझेदारी नहीं रही, तो रूमानी प्रेम का प्रासाद ताश के महल की भाँति बिखरने लगता है।"[18]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अनेक वर्गगत वैयक्तिक सामाजिक तनाव परिवार की शान्ति और सुव्यवस्था पर आघात करके पारिवारिक विघटन का कारण बनते हैं इसके अतिरिक्त स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों में विघटन पति और पत्नी की आयु में अधिक अन्तर, दुर्लभ स्वास्थ्य, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की भिन्नता, पति–पत्नी के जीवन में सास अथवा श्वसुर का अवांछित हस्तक्षेप भी सहायक होते हैं। इन सब का मूल कारण प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से औद्योगीकरण ही माना जाता है।

पारिवारिक विघटन की समस्या स्त्री विमर्श और नारी के स्वत्व से जुड़ी हुई है। जैसे–जैसे समाज में नारी की निरीह स्थिति में बदलाव आया है और वह अबला से सबला बनने की तरफ अग्रसर हुई है वह अपने अधिकारों के प्रति सजग और सचेत हुई है । पुरूष तंत्रात्मक समाज के बंधनों के खिलाफ उसने विद्रोह किया है। इस विद्रोह में परिवारिक विघटन का बीज छिपा है। स्त्री के क्रांतिवीर तेवर से परिवार की बुनियाद हिल गयी है और पारिवारिक विघटन भिन्न–भिन्न रूपों में समाज में पसरता जा रहा है। पुरूष का परम्परागत मानस स्त्री के मौलिक अधिकारों को स्वीकार नहीं कर पाता। वह दबाना चाहता है और स्त्री अपनी पुरानी गुलाम मानसिकता वाली छवि सती–साध्वी या पति–परमेश्वरी को तोड़कर अपना स्वतन्त्र वजूद बनाना चाहती है। सामंती समाज में स्त्री माँ, बहन, पत्नी, प्रेमिका, दासी आदि के रूप में थी– उसका अपना अलग वजूद नहीं था। आधुनिकता और बौद्धिकता के कारण वह अपने निज स्वरूप और अपनी भावनाओं एवं इच्छाओं के प्रति सचेत हुई है। इस सजगता से टकराहट होती है और पारिवारिक विघटन की शुरूआत होती है। अभी भी पुरूष स्त्री में परम्परागत कुललक्ष्मी/कुलबधू वाले स्वरूप को ही ढूँढ़ता है, वह उसी का आकांक्षी है। स्त्री को आधुनिक होना उसे बर्दास्त नहीं है। उसे वह कुलटा और परिवार तोड़ने वाली आदि विशेषणों से नवाजने लगता है। उस पर चरित्रहीनता और स्वैराचार का

आरोप लगता है। "वास्तविकता यह है कि पुरूष स्वभावतः अहंकारी है वह अपनी सामाजिक स्थिति को सर्वोच्चता में रखकर देखता है और स्त्री को निम्न स्तर पर रखकर ही। यदि स्त्री अधिक पढ़ी–लिखी, जागरूक तर्कशील, बुद्धिमान है तो उसकी सर्वोच्चता को शायद खतरा पैदा हो जायेगा और झूठे अहंकार वाद का शिकार व्यक्ति ये सब कैसे सहन कर लेगा कि स्त्री की सामाजिक आर्थिक स्थिति उससे सर्वोच्च 'हायर ऑडर' की हो जाये और उसकी निम्न या उसकी बराबर। आज तक यही होता आया है और आज भी उसके भीतर यही सोलहवीं शताब्दी की सोच काम कर रही है कि स्त्री उसकी निजी सम्पत्ति है लेकिन, इस सम्पत्ति की गुणवत्ता को वह कतई बढाना नहीं चाहता, उसे कमजोर करके रखने में ही अपनी सार्थकता, सुरक्षा समझता है। पुरूष के मन में यह भय, असुरक्षा की भावना और स्त्री को दबाकर, कुचलकर नियन्त्रण में रखने की इसकी विरोधी दृष्टि सदियों से काम कर रही है।"[19]

'समर्पण को सेवा का सार' कहकर प्रसाद जी नारी के उसी सामंती रूप को प्रोत्साहित करते हैं जो अपनी सारी आकांक्षाओं को पुरूष के चरणों में समर्पित कर देती है। अपने व्यक्तित्व को पुरूष के 'महान' व्यक्तित्व में गला घुला देती है। आधुनिक स्त्री नर–नारी समता में विश्वास करती है। जहाँ पुरूषों से वह किसी मायने में कम नहीं है। इस तथ्य को डॉ0 रमेशकुन्तलमेघ भी स्वीकार करते हैं– "आजकल नारी की ऐतिहासिक कर्मभूमिकाएं (गृहणी, धात्री, जननी, उपचारिका, सेविका, दासी आदि) जो शय्या और रसोई की धुरी में केन्द्रित थी, अब बदल रही है। वह गृह के बाहर काम धन्धों को अपना रही है। और गृह के अन्दर की नीरस मजदूरी से स्वतन्त्र हो रही है। गृह की धुरी के ढीला होने के साथ ही विवाह की संस्था के अस्तित्व के प्रश्न उठ रहे हैं अर्थात श्रम के विभाजन (घरे और बाहिरे) के सामंन्ती आधार टूट रहे हैं और नई स्त्री 'एक–यौनता' की धारणा को स्वीकार कर रही है।"[20] यह सच है कि सामंती समाज में स्त्री का दर्जा शूद्र का था, बल्कि उससे भी नीचे का था।

पूँजीवाद के उदय के साथ जीवन में आधुनिकता बौद्धिकता का प्रवेश होता है, वैज्ञानिक दृष्टि का विकास होता है, स्त्री–पुरुष के समान अधिकारों की घोषणा होती है। इसके साथ ही हजारों सालों की बेडियाँ एक झटके के साथ ही टूट जाती हैं और स्त्री के कदम आत्म सम्मान की दिशा में बढ़ चलते हैं। स्त्री को कानूनी अधिकार मिलतेहैं। सन 1956 ई0 के पहले स्त्री का कानूनी अधिकार शून्य

था। धीरे–धीरे उसमें बढ़ोत्तरी हो रही है और यहीं से स्त्री की अपनी स्वतन्त्र पहचान बननी शुरू होती है।

स्त्री विमर्श की महीन और व्यापक जानकारी पाने के लिए विश्वस्तर पर घटने वाली चार घटनाओं को रेखांकित करना बेहद जरूरी है।

एक, 1789 की फ्रांसीसी क्रांति जिसने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जैसी चिरवांछित मानवीय आकांक्षाओं को नैसर्गिक मानवीय आधिकार की गरिमा देकर राजतन्त्र और साम्राज्यवाद के वरक्स लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के स्वस्थ और अभीप्सित विकल्प को प्रतिष्ठित किया।

दूसरा, भारत में राजा राममोहनराय की लम्बी जद्दोजहद के बाद 1829 में सती प्रथा का कानूनी विरोध जिसने पहली बार स्त्री के अस्तित्व को मनुष्य के रूप में स्वीकारा।

तीसरा, सन् 1848 ई0 में सिनेका फालस न्यूयार्क में ग्रिम के बहनों की रहनुमाई में आयोजित तीन सौ स्त्री–पुरूषों की सभा जिसने स्त्री दासत्व की लम्बी श्रृंखला को चुनौती देते हुए स्त्री मुक्ति आन्दोलन की नींव धरी।

चौथा, 1867 में प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक और चिंतक जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा बिट्रिश पार्लियामेंट में स्त्री के वयस्क मताधिकार के लिए प्रस्ताव रखा जाना जिसने कालान्तर में स्त्री–पुरूष के बीच स्वीकारी जाने वाली अनिवार्य कानूनी और संवैधानिक समानता की अवधारणा को बल दिया।

संयुक्त रूप से ये चारों घटनायें एक तरह से विभाजक रेखाएं हैं जिसके एक ओर पूरे विश्व में स्त्री उत्पीडन की लगभग एक सी यूनीवर्सल परम्परा है तो दूसरी ओर इससे मुक्ति की लगभग एक सी तड़प और अकुलाहट भरी संघर्ष कथा।

भारतीय संदर्भ में स्त्री–विमर्श दो विपिरीत ध्रुवों पर टिका हुआ है। एक ओर परम्परागत भारतीय नारी की छवि है जो सीता और सावित्री जैसे जड़ पात्रों में अपना मूर्त रूप पाती है। दूसरी ओर घर परिवार तोड़ने वाली स्वार्थी(होम ब्रेकर) और कुलटा रूप में विख्यात पाश्चात्य नारी की छवि है जो अक्सर पुरानी फिल्मों में खलनायिका के रूप में उकेरी जाती रही है।

साहित्य जीवन की भावनात्मक अभिव्यक्ति होते हुए भी भावनाओं द्वारा अनुशासित नहीं होता। मूलतः वह बीज रूप में विचार से बंधा होता है जिसका पल्लवन–पुष्पन भविष्य में होता है तो जडों का जटिल जाल सुदूर अतीत तक चला जाता है। और अपने भौतिक अस्तित्व से ऊपर उठकर विराट को महसूसने की क्षमता ही लेखक के ज्ञान और संवेदना को उन्मुक्त और घनीभूत करते हुए विजन का रूप दे डालती है। यह विजन ही मुक्ति बोध के शब्दों में ज्ञान को 'संवेदनात्मक ज्ञान' और संवेदना को 'ज्ञानात्मक संवेदन' का रूप दे रचना में वांछित बौद्धिक संयम और अनुशासन बनाए रखता है। आलोचक को धड़कते जीवन से सीधे मुखातिब नहीं होना है, लेकिन एक हाथ जीवन की नब्ज पर रखकर दूसरे हाथ से जीवन को प्रतिबिम्बित करती रचनाओं की नब्ज को टटोलना है इसका दायित्व दोहरा और चुनौती भरा है। विमर्श का अर्थ है जीवन्त बहस। किसी भी समस्या या स्थिति को एक कोण से न देखकर भिन्न मानसिकताओं, दृष्टियों, संस्कारों और वैचारिक प्रतिबद्धताओं का समाहार करते हुए उलट–पुलट कर देखना, उसे समग्रता से समझने की कोशिश करना और फिर मानवीय संदर्भों में निष्कर्ष प्राप्ति की चेष्टा करना।

स्त्री विमर्श विपरीत दृष्टियों में बंधी स्त्री–छवि के परस्पर संघर्ष, स्खलन और भंजन का प्रमाणिक इतिहास है। भोर की खुमार भरी नींद तोड़ने के लिए 'देवरानी जेठानी की कहानी' और भाग्यवती सरीखी–रचनाओं को निश्शंक भाव से प्रभात फेरियों का दर्जा दिया जा सकता है। समाज सुधार के सजग और सायास गढ़े उददेश्य, पात्र कथानक और घटनाओं से बुनी इन रचनाओं में राजा राम मोहन राय, विधासागर, रानाडे, महर्षिकर्वे, महर्षि दयानंद तक के समाज सुधार आन्दोलन की परम्परा, अनुगूंज और छाप साफ दिखायी पड़ती है।बाल विवाह विरोध, विधवा विवाह समर्थन, स्त्री शिक्षा (जिसका पाठ्यक्रम अनिवार्यता स्त्रियोपयोगी विषयों जैसे सिलाई, बुनाई, कढ़ाई से अटा पड़ा था। लड़कों को दी जाने वाली विज्ञान जैसी आधुनिक शिक्षा से पूर्णतया वंचित) और आवश्यकता पड़ने पर आर्थिक स्वावलम्बन पर बल आज बहुत ही साधारण और हास्यास्पद से मुद्दे जान पड़ते हैं, लेकिन उस समय इनकी अहमियत थी। सन् 1860 ई0 में विद्यासागर बहुत ही मशक्कत के बाद कानूनी तौर पर लड़कियों के लिए विवाह की न्यूनतम आयु दस वर्ष करा पाय थे। सन् 1829 ई0 में बहुतेरे प्रयासों के बाद यह आयु बढ़ाकर तेरह वर्ष ही हो पाई थी। अठारह वर्ष न्यूनतम आयु का प्रावधान

शारदा ऐक्ट 1956 ई0 के बाद ही सम्भव हो पाया था जबकि 'भाग्यवती' श्रद्धाराम फिल्लौरी पं0 उमादत्त के जरिये लड़के और लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु क्रमशः ग्यारह और अट्ठारह का संदेह देकर वक्त से थोड़ा आगे चलने का संकेत देते हैं।

सदी का वर्क बदलने पर हिन्दी साहित्य में उभरने वाला स्त्री–विमर्श इतना जड़, उपदेशात्मक और इकहरा नहीं रह गया था। लेकिन यह भी तय है कि उसका रेखांकन अब भी पुरूष और परिवार के सन्दर्भ में ही किया जाता था। इसकी प्रमुख वजह थी सामाजिक राजनीतिक जीवन में पुरूष नायकों के साथ स्त्रियों की प्रत्यक्ष भागीदारी। प्रारम्भ में समाज सुधारकों के परिवारों की स्त्रियाँ प्रादेशिक स्तर पर आम जनता के उद्बोधन का मंत्र फूंकने आगे बढ़ाई गई थी, वक्त के साथ उन्होंने दो उल्लेखनीय कार्य किए। प्रथम, वैयक्तिक तौर पर परिवार के पुरूष अनुशासन। दिशा निर्देशन से मुक्त हो स्वायत्त सत्ता महसूस की। दूसरे ; अपनी आवाज को संगठित कर अखिल भारतीय पहचान देने की कोशिश की। सन् 1817 ई0 में वीमैंस इंडियन एशोसिएशन की स्थापना, सन् 1925 ई0 में 'नेशनल काउंसिल ऑव वूमैन इन इंडिया' की स्थापना और सन् 1927 ई0 में अखिल भारतीय महिला परिषद का अस्तित्व में आना अपने आप में ऐतिहासिक और क्रान्तिकारी घटनायें थीं। जिनकी अनुगूंज आज भी स्वतन्त्र भारत के संविधान और कानून में सुनी जा सकती हैं। सन् 1946 ई0 में 'अखिल भारतीय महिला परिषद' द्वारा प्रस्तुत अधिकारों और कर्तव्यों के चार्टर में वर्णित कुछ मांगों को भारतीय संविधान में ज्यों का त्यों स्थान दिया गया। जैसे धारा 44 के अन्तर्गत देशभर में समान सिविल कोड लागू किया जाना धारा 15 के अन्तर्गत लिंग, जाति धर्म के आधार पर सामाजिक आर्थिक, धार्मिक क्षेत्र में भेदभाव न किया जाना ; धारा 16 के अंतर्गत लिंग, जाति, धर्म के आधार पर सरकारी नौकरियों और दफ्तरों में भेद भाव न किया जाना। जिसने स्त्री को अपनी चिर–पोषित 'अबला' छवि को तोड़कर एक नये जुझारू व्यक्तित्व और रचनाशील भूमिका में आविर्भूत होने के लिए प्रेरित किया। सामाजिक उथल–पुथल के इस दौर में हिंदी कथा साहित्य भी नारी की स्वायत्तता और स्वतंत्र चेतना को शिद्दत से चित्रित करता। लेकिन विडम्बना यह रही कि इस बिन्दु पर आकर लेखक निर्वैयक्तिक नहीं रह पाया। उसका पुरूष अहं या संस्कार, जो भी कहें स्त्री की इस आत्मनिर्भर विचारवान संघर्षशील छवि को स्वीकार नहीं पाया।

हिन्दी के अति आरम्भिक उपन्यासों का उद्भव स्त्री–चेतना से ही हुआ, यह एक अटल सत्य है। स्त्री चेतना के बीज मन्त्र से हिन्दी के अति आरम्भिक उपन्यास अनुप्राणित रहे हैं और इनका प्रारम्भिक उद्देश्य स्त्री चेतना की सर्वप्रथम प्राथमिकता में स्त्री शिक्षा निहित है। प्रथम गद्य रचना 'देवरानी जिठानी की कहानी' से स्पष्ट है कि अशिक्षित और मूर्ख महिलाएं परिवार के जीवन को अत्यन्त दुःखद और शिक्षित महिलाएं नरकतुल्य घर को स्वर्ग जैसा सुखद बना देती हैं। "हिन्दी में उपन्यास की रचना का श्री गणेश स्त्री शिक्षा निमित्त ही हुआ था। इस स्त्री शिक्षा के मूल में स्त्री चेतना ही है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'वामा शिक्षक', 'भाग्वती' और 'सुन्दर शीर्षक' परीक्षागुरू–पूर्व उपन्यासों में स्त्री चेतना ही मूलाधार है।"[21]

आधुनिक काल में प्रेमचंद की निर्मला कितनी पच्चीकारी करके सामाजिक कुरीतियों की पृष्ठभूमि में निर्मला के जरिये औसत भारतीय स्त्री की आंसू भरी अनूठी तस्वीर गढ़ने की कोशिश की गई है, उसे तोड़कर सुधा के रूप–रंग–रेखा विहीन चरित्र की आउट लाइंस सी दिलोदिमाग पर हावी हो जाती है,निर्मला की पीड़ा और दीनता के सेलीब्रेसन से ज्यादा सुधा के चरित्र का आकस्मिक एंव अविश्वसनीय टर्न कहीं ज्यादा जरूरी लगता है।

दूसरा उदाहरण 'गोदान' की मालती के रूप में लिया जा सकता है जिसके पर कतरने के प्रयास में बेचारे प्रेमचन्द पसीने– पसीने हो गये हैं। मालती यानी सुशिक्षित, स्वतन्त्र चेता आत्मनिर्भर प्रोफेसनल युवती जो पुत्र की तरह घर के दायित्वों को संभाले है। और मित्र की तरह पुरूष मंडली में घूमती है। वर्जनाओं और कुन्ठाओं से मुक्त एक स्वस्थ व्यक्ति की तरह। उसकी यह पारदर्शिता वाली उन्मुक्तता 'मेहतानुमा'पुरूषों के लिये खतरा है। इसलिये वे खिसियाकर फतवेबाज़ी करने लग जाते हैं–"स्त्री में जब पुरूष के गुण आ जाते है तो वह कुलटा हो जाती है।"[22]। प्रेमचंद्र जो भी हों (मेहता या पुरूष) सर्जक के रूप में समाज को 'कुलटाओं' का रोल मॉड़ल अपनी रचनाओं के जरिये नहीं दे सकते थे। इसलिये मालती की उर्जा और तेजस्विता को 'चैनेलाइज' करते हुए उसे समाज सेवा और राष्ट्र सेवा के वृहत्तर आयामों से जोड़कर विपरीत दिशा की ओर मोड़ देते हैं। अब वह राष्ट्रवादनी है। साध्वी है। स्त्री अस्मिता और स्त्री सरोकारों से दूर स्वाधीनता संग्राम की एक सेनानी मात्र है। यहाँ अचानक 'सीमंतनी उपदेश' जैसी रचनाओं का ख्याल आ जाता है।

महादेवी वर्मा भी स्त्री प्रवक्ता की हैसियत से स्त्री की दुर्दशा पर निरन्तर लिखती रही हैं, लेकिन तुलनात्मक दृष्टि सें 'सीमंतनी उपदेश' और 'श्रृखंला की कडियों में बुनियादी फर्क है। महादेवी वर्मा जहॉ पितृ सत्तात्मक व्यवस्था के अभिजात प्रेम और अनुशासन को स्वीकारती हुई स्त्री के लिए थोड़ी सी 'मानवीय' ढील की अपेक्षा करती रही हैं, वहीं 'सीमंतनी उपदेश' की अज्ञात लेखिका उजड्ड गंवई मिजाज में स्त्रियों को चेताती है। चेताने की इस कोशिश में पुरूष सत्तात्मक व्यवस्था का शोषक रूप अनायास इस कदर बेनकाब हो जाता है कि घबराकर खुद ही अपनी नग्नता पर शर्मसार हो उठता है।महादेवी वर्मा के अनुसार "हमें न किसी पर जय चाहिए न किसी से पराजय, न किसी पर प्रभुत्व चाहिए, न किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिए जिनका पुरूषों के निकट कोई उपयोग नहीं है, परन्तु जिनके बिना हम समाज का उपयोगी अंग बन नहीं सकेंगी।"[23]

अपनी सीमाओं के चलते प्रेमचन्द भले ही युगानुरूप स्त्री की बदलती छवि अपनी रचनाओं में नहीं उकेर सके, लेकिन उन्हीं के समकालीन जैनेन्द्र ने निर्भीकता पूर्वक उसे मानवीय अस्मिता से दीप्त अवश्य किया, असल में हिन्दी कथा साहित्य में यहीं से पहली बार स्त्री विमर्श एक गम्भीर और मानवीय चिंता के रूप में नये आयाम और ऊंचाइयां लेने लगता है। कभी –कभी लगता है वह इंग्लैंड रिटर्न्ड मालती ही थी जो मेहता और प्रेमचन्द द्वारा थोपे गये कानूनों, वर्जनाओं, अनुशासनों के बीच भी अपने वजूद को पूरी ऊंचाई और फैलाव दे पाई। कोई सामान्य स्त्री होती तो शायद कल्याणी (उपन्यास–कल्याणी) की तरह स्वतन्त्रता और वर्जना, अस्मिता औार पति सापेक्ष पत्नी की परतंत्र भूमिका के निरंतर द्वंद्व तले पिसे आत्मपीड़न और हिस्टीरिया की शिकार हो जाती। यह ठीक है कि प्रेमचन्द की तरह जैनेन्द्र के यहाँ सामाजिक सरोकार अपनी तमाम स्थूलता और व्यापकता में उपस्थित नहीं हैं, लेकिन 'पत्नी' कहानी की सुनंदा और 'त्यागपत्र' की मृणाल (अज्ञेय रचित 'रोज' की मालती और 'नदी के द्वीप' की रेखा भी) क्या बहुत गहराई से उस व्यवस्था को प्रश्न चिन्हित नहीं कर देती जो स्त्री को तिल भर भी स्पेस देने को तैयार नहीं ?

यह वह दौर था जब स्त्रियाँ अपने अधिकारों के लिए निष्फल लड़ाई लड़ रही थीं। सन् 1867 ई0 में जॉन स्टुअर्ट मिल द्वारा वयस्क मताधिकार की मांग किये जाने के वावजूद सन् 1920 ई0 में अ़मरीका में तथा सन् 1928 ई0 में

ब्रिटेन में स्त्रियों को वयस्क मताधिकार मिल पाया था। जबकि पुरूष को लगभग सौ साल पहले सन् 1932 ई0 में (ब्रिटेन के सन्दर्भ में) यह अधिकार मिल चुका था। मानसिक रूप से सामंती युग में जी रहे भारतीय समाज में स्त्री की निजता और अस्मिता की स्वीकृति की अपेक्षा करना बालू से तेल निकालने का प्रयास करना था। स्वतंत्रता के तुरन्त बाद तमाम कोशिशों के बावजूद पार्लियामेंट में शारदा ऐक्ट को पास न किया जाना हमारी समाज व्यवस्था के इसी सामंती और जड़ चरित्र की कथा कहता है। अंततः सन् 1956 ई0 में दो किस्तों में बँटकर हिन्दू कोड बिल के रूप में पारित हो जाने के बावजूद क्या आज व्यावहारिक स्तर पर इसे जन स्वीकृति मिल चुकी है? बावजूद पिछले तीन चार वर्षों की कोशिशों के महिला आरक्षण बिल अभी तक संसद में पारित नहीं हो पाया है, बावजूद इस घोषित 'तथ्य' के कि हर राजनीतिक दल व्यक्तिगत तौर पर ऐसे बिल को तुरन्त पारित कर देने का पक्षधर है। जबकि स्त्री की सारी लड़ाई समानता और वजूद के लिए है।

स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में हिन्दी कथा साहित्य की पड़ताल करने के लिए उन धरातलों को पहचानने की जरूरत पड़ जाती है जिन्होंने यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में स्त्री विमर्श को एक खास उठान और गढ़न दी – इस दृष्टि से तीन प्रमुख धरातल स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं।

– अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष।

– सन् 1970 ई0 के आस–पास रचा गया साहित्य।

– इसका पूर्ववर्ती साहित्य एवं परवर्ती साहित्य।

सदी के आखिरी डेढ़– दो दशकों का स्त्री विमर्श अपेक्षाकृत अधिक जटिल, अनेक आयामी, धारदार और विवादास्पद है, फिर भी यहाँ अभी इन्सान अपनी इन्सानियत से इतना नहीं गिरा कि देह सम्बन्धों में संस्कार और वर्जनाओं को अंगूठा दिखाता चले, किन्तु रूग्ण मानसिकता वाले लोगों की सही जगह अस्पताल है या फिर पागलखाना। दूसरे, तमाम घोषणाओं के बावजूद साहित्य व लेखक का प्रलाप हो सकता है, न खिलवाड़ का मैदान। लेखक मूलतः स्रष्टा है, इसलिए आर्कीटैक्ट की तरह नई उर्ध्वगामी सम्भावनाों की तलाश और निर्माण उसका सतत् अन्वेषण है और अन्तिम लक्ष्य भी।

लिंग शब्द स्त्री की पुरूष से भिन्न शारीरिक प्राकृतिक मानसिक, बौद्धिक, नैतिक संरचना को उद्घाटित करते हुए उसकी स्वतंत्र और मानवीय अस्मिता को रेखांकित करता है, वहीं देह शब्द मानवीय पहचान के बुनियादी सवाल को दर किनार कर उसे भोग्या और वस्तु बना डालता है। अब तक उसे 'देवी' होने की वजह से 'पूजा' जाता था या देह बनने की कोशिश में 'नरक का द्वार' कहकर फटकारा जाता था। परन्तु वह देह के प्रति सचेत लापरवाही दिखाते हुए उन्मुक्त दैहिक सम्बन्धों को अपनी मुक्ति का पर्याय मान बैठी। क्योंकि उन्मुक्त दैहिक सम्बन्ध रजामंदी से स्थापित किये गये हों या बलात आरोपित किये गये हों, उनकी शारीरिक–मानसिक–भावनात्मक परिणतियों का शिकार मात्र स्त्री होती रही है।

स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास में बाधक होने के कारण विवाह संस्था के प्रति पूर्णतया अनास्थावान होते हुए भी विवाह द्वारा मिलने वाली सामाजिक मानसिक आर्थिक सुरक्षा ने उसे हमेशा निर्णायक रूप से दुर्बल बनाया। फलतः गालियों और आंसुओं के जरिये अपने आवेश और आक्रोश की 'पनीली' अभिव्यक्ति और फिर पुरूषों तथा पितृसत्तात्मक व्यवस्था के समक्ष विकल्पहीन समर्पण। उदाहरण के लिए शशि प्रभाशास्त्री के 'नावें' एवं 'सीढ़ियाँ' उपन्यास, मृदुला गर्ग का 'उसके हिस्से की धूप' मंजुल भगत का 'अनारो' कुसुम अंसल का 'उसकी पंचवटी', ऊषा प्रियंवदा का 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' और 'रूकोगी नहीं राधिका' मन्नू भण्डारी का 'आप का बन्टी'। इस दौर के कथा साहित्य की स्त्री व्यक्ति के रूप में अपने आप पहचानने और तत्पश्चात समाज के साथ अपने सम्बन्ध को पुनर्परिभाषित करने में संकोच करती है। बंधा–बंधाया दर्रा यदि सदियों से उसकी गुलामी का प्रतीक रहा है तो उसके विपरीत चलकर स्वतंत्रता हासिल की जा सकती है। ऐसे आसान नुस्खे बुद्धिजीवी लेखक और संवेदनशील समाज का चिंतन नहीं है। आज भी भारतीय समाज में (जिसमें शिक्षित समुदाय भी शामिल है) फेमिनिस्ट होना गाली समझा जाता है और इसका प्रतिकार करते हुए सीता–सावित्री नुमा भारतीय छवि को पोषित करने का दुराग्रह बढ़ा है।

साहित्य में कृष्णा सोबती को बोल्ड लेखिका के रूप में चौंकी हुई विद्रूप कोशिशें उनके कथा साहित्य का गम्भीर और गहन विश्लेषण करने में हमेशा बाधक रही हैं। "आज तक स्त्री के साथ समाज ने मानवीय ढंग से व्यवहार नहीं किया और न ही उसे पूर्ण मनुष्य के रूप में स्वीकृति दी है। इसलिए उसके

साथ अमानवीयपूर्ण व्यवहार को कृष्णा सोवती ने अपनी लेखनी में दिखाया है तथा इसके लिए पितृक सत्ता को दोषी ठहराया है जो उसके प्रति हिंसक दृष्टिकोण रखता आया है।"[24] कृष्णा सोबती के उपन्यास 'मित्रो मरजानी' की प्रमुख नायिका मित्रो निर्लज्जतापूर्वक मुंह खोलकर अपनी शारीरिक अतृप्ति का सार्वजनिक बखान करती फिरती है प्रतीक्षारत डिप्टी के साथ 'मिलन' की उत्कंठा में धड़कती– लपकती शोख मित्रो उपन्यास के अन्तिम पृष्ठों में अपने समस्त ताप, ओज और सौन्दर्य सहित उपस्थित हुई है। परिवार के महत्व को समझते हुए पुनः सरदारी की बाहों में समा जाती है जहाँ जीवन कभी खत्म नहीं होता, बचपन जवानी और बुढ़ापे के रूप में सम्पूर्णता और विविधता में अनन्तकाल तक बना रहता हैं। कृष्णा सोबती की नारी स्थूल दृष्टि से देखने पर कामनाओं द्वारा संचालित विशुद्ध देह के स्तर पर जीवन जीती नारी है, लेकिन जरा सी गहराई में उतरते ही वह स्त्री अस्मिता की ऊंचाइयों को छूने के प्रयास में जिन मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था व्यक्त करती है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। मित्रो और रत्ती के जरिए वर्जनात्मक स्त्री को उन्होंने पहले–पहल हिन्दी कथा साहित्य में इंट्रोड्यूस किया, वह पूरी ऊर्जा और उत्साह के साथ नब्बे के दशक में कर्मक्षेत्र में उतरी है। इसके विपरीत यह नारी बनी–बनाई कसौटियों को तोड़ने या उन पर स्वयं कसने के तनाव भरे द्वंद्व से मुक्त होकर समाज में अपनी पुख्ता पहचान बनाने के लिए विशेष रूप से आग्रहशील हुई है। मंदा (इदन्नमम), सारंग (चाक), और कदम बाई (अल्मा कबूतरी) इसकी उदाहरण हैं। आखिरी दशक के हिंदी कथा साहित्य की स्त्री तमाम कोशिशों के बाद सहचर पुरूष को उतना मानवीय नहीं बना सकी, लेकिन अपने लिए आत्म सम्मान पूर्वक जीवन जीने का रास्ता तलाश सकी है। "मेहरून्निसा परवेज ने निश्चित रूप से स्त्री लेखन की जरूरत को स्पष्ट किया है कि नारी के मौन को शब्द नारी ही दे सकती है। उसके दुःख को औरत ही समझ सकती है। वह ही पहचान सकती है। औरत के शरीर पर अंकित घावों के निशानों को। पुरूष के लिए स्त्री अब तक क्या थी? 'नारी तुम केवल श्रद्धा हो'। रमणी, प्रेयसी देह रूमानी ख्याल, यादों की सुन्दरी ! लेकिन स्त्री ने ही स्त्री की देह पर अंकित खूनी घावों के निशानों को दिखाया है कि किस प्रकार वह उत्पीड़ित, उपेक्षित है।"[25]

निजी सुखों की झोंक में क्या व्यक्ति समाज को बदरंग भविष्य नहीं देगा? ये कल्चर स्पर्म बैंक, सरो गेटेड मदर, ह्यूमन क्लोनिंग की सम्भावनाएं,

समलिंगी सम्बन्धों के प्रति बढ़ती आसक्ति। इन पर गम्भीरता पूर्वक पहली बार दो टूक राय उठाने का जोखिम उठाया है। मृदुला गर्ग ने 'कठ गुलाब' उपन्यास में। मृदुला गर्ग मानती हैं कि पुरूष अनादि काल से प्रकृति का अनवरत दोहन और स्त्री का मानसिक शोषण करता आया है जिसके चलते आज धरती और स्त्री दोनों बंजर हो गई है। दुलार और स्नेहिल स्पर्श से दोनों लहलहा सकती है। बशर्ते पुरूष डूबकर उनकी परिचर्या में जुट जाए। आने वाला समय यदि बीहड़ और बंजर है तो हुआ करे, उर्वर सम्भावनाओं के बीज तो मुट्ठी में बंद हैं उपन्यास का आस्थावादी स्वर तमाम वैज्ञानिक पेचीदगियों से मुठभेड़कर अंततः मनुष्यता का जयघोष करता है। इक्कीसवीं सदी का स्त्री–विमर्श का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण 'दीवार में एक खिड़की रहती थी' में देखा जा सकता है। विपिन के समरूप यहाँ रघुबर है और पत्नी सोनाली के आने से वह कार्य अपने स्तर पर तथा सोनाली के उपयोग के आधार पर करता है और सम्पूर्ण सृष्टि जैसे उसकी अभ्यर्थना में व्यस्त और नत हो जाती है।

पुरूष के सन्दर्भ में ही क्यों साहित्य और समाज दोनों जगह स्त्री की स्थिति/छवि पर विचार किया जाए ? स्त्री के सन्दर्भ में समाज और पुरूष की भूमिका, मानवीयता और दायित्व पर विचार क्यों नहीं पल भर के लिए किया जाता ? कई बार कोण बदल देने से सारे निष्कर्ष सिरे से बदल जाते हैं।

'मुझे चांद चाहिए' की तरह दैहिक जरूरतों के कीचड़ में सरोबार किया जा सकता है इसलिए आज जरूरी हो उठा है कि जो कुछ भी उपलब्ध है – समाज या परम्परा के रूप में, संस्थाओं, इतिहास और संस्कार के रूप में – उसका बेबाक भाव से मूल्यांकन किया जाए, वर्ग–वर्ण आदि लौकिक भेदों से ऊपर उठकर व्यक्ति को समाज तथा समाज को व्यक्ति के सन्दर्भ में पढ़–गुनकर उन्हें निरंतर ग्रो करने के लिए भरपूर स्पेस दिया जाए। स्त्री लेखिकाओं के लेखन के केन्द्र में स्त्री की भयावह समस्यायें हैं। पितृसत्तात्मक मर्यादाओं की तीखी आलोचना है जिसने स्त्री समाज का खुला दमन किया है । कृष्णा सोबती का लेखन हो अथवा महाश्वेता देवी का मन्नू भण्डारी का लेखन हो अथवा गगन गिल का, चित्रा मुद्गल का लेखन हो अथवा मेहरून्निसा परवेज का उसमें स्त्री मुक्ति के लिए जो फीड बैंक आ रही है वही स्त्री समाज की चेतना का विकास कर सकेगी। अभी इस दिशा में एक लम्बी, बीहड़ यात्रा तय करनी है।

भारतीय समाज में जो नारी जागरण उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ था उसे बीसवीं शताब्दी में विकास मिला और शिक्षा प्राप्त कर नारी सामाजिक राजनीतिक जीवन में आगे बढी। स्वतन्त्रता के आस–पास भारतीय नैतिक मूल्यों में जो परिवर्तन हुआ उसने नारी को भी आन्दोलित किया। मध्यवर्गीय मानसिकता से बाहर निकल कर उसने आधुनिक युग में प्रवेश किया और स्वतन्त्रता की मांग करने लगी। परन्तु पुरूष केन्द्रित समाज में यह सरल कार्य नहीं है। स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार गैर बराबरी पूर्ण इसलिए भी रहा है, क्योंकि अभी तक सामंती मानसिकता नहीं टूटी है। पारिवारिक सतर पर आज भी उनके साथ सामंती किस्म का क्रूर व्यवहार होता है। इतना ही नहीं जो लोग मंचों पर नारी मुक्त का प्रयास करते हैं, वही लोग अपने घरों में स्त्री के साथ बर्बरता पूर्ण, पक्षपात पूर्ण सामंती व्यवहार करते है। भारतीय समाज में कदम–कदम पर ऐसे तीखे विरोधाभास मौजूद हैं जिनके कारण स्त्रियों के प्रति हमारा व्यवहार पक्षपातपूर्ण, हिंसक एवं उत्पीड़न कारी रहा है। पितृसत्तात्मक समाज ने उनके लिए ऐसे मूल्य, नैतिक सिद्धान्त सुनियोजित ढंग से गढ़े हैं जिनमें आजीवन उनकी बेटियां, बधुएं, ढलती, गलती रहती हैं। पुरूष उनपर अपना वर्चस्व, प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है लेकिन औरतें न तो प्रभुत्व चाहती हैं आर न ही वर्चस्व, अपितु वे तो अपने स्वत्वाधिकारों, अस्मिता,गरिमा को चाहती हैं ताकि उनके साथ जो पक्षपातपूर्ण, अछूतों, उत्पीड़ितों जैसा हिंसक असभ्य व्यवहार होता है वह न हो। इस द्वन्द्व में हमारी पाम्परित पारम्परिक इकाइयां टूटने लगी हैं और इसका सीधा प्रभाव भारतीय नारी में देखा जा सकता है। नारी ने जो नयी शिक्षा प्राप्त की उससे उसमें नयी जागरूकता आयी और उसकी वैयक्तिक आकांक्षाएं भी सजग हुई। इससे मानव सम्बन्धों में एक नया तनाव उत्पन्न हुआ जिसका चित्रण मोहन राकेश ने अपनी रचनाओं में किया है। "स्त्री–पुरूष के निजी सम्बन्धों को उनके बीच विकसित नये पीड़ा–बोध, अलगाव और विघटन को जिस गहराई से राकेश ने समझा और अभिव्यक्ति किया है वैसे उनके समकालीनों में कोई नहीं कर सका।"[26]

मानवीय सम्बन्धों में जो परिवर्तन होता है उसका प्रभाव समाज की सभी इकाइयों पर पड़ता है और नारी पुरूष सम्बन्ध भी उससे अछूते नहीं रह सकते, क्योंकि पुरानी मर्यादायें टूट रही हैं औरएक नयी व्यवस्था जन्म ले रही है इस यथार्थ की पहचान उनके कथा साहित्य में देखी जा सकती है। दाम्पत्य

जीवन के परम्परित रूप में परिवर्तन हुए हैं, और स्त्री–पुरूष का जीवन अब सरल नहीं रह गया है। संस्था के रूप में 'विवाह' आज उसी तरह स्वीकृत नहीं है जैसे पहले। आज एक अजीब तरह की कुंठा–घुटन–ऊब पति–पत्नी सम्बन्धों में घर कर गये हैं। लहरों के राजहंस की भूमिका में मोहन राकेश लिखते हैं – "स्त्री–पुरूष का आमने सामने होना और एक–दूसरे तक अपनी बात न पहुँचा पाना, क्या यही उनकी वास्तविकता नहीं है।"[27] कहानियों में राकेश जी आदर्शवादी दृष्टि नहीं अपनाते, वे यथार्थ को लेकर आगे बढ़ते हैं। आधुनिक मध्यवर्गीय नारी की अपनी स्थितियाँ हैं और अपने स्वप्न। पुरूष भी स्वयं को अहं मुक्त नहीं कर पाता और इसलिए अहं की टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कई बार पति–पत्नी के बीच एक ठंडा मौन व्याप जाता है, जैसे सब कुछ ठहरा हुआ है। अपनी नारी दृष्टि में मोहन राकेश जिस यथार्थ से परिचालित हैं, उसे नारी–पुरूष सम्बन्धों में देखा जा सकता है। कई एक बार सजीव सी उदासी दिखाई देती है जिसे हम उनकी जीवन रेखाओं में भी पाते हैं।

आजादी के बाद भारतीय नारी के अधिकारों में मांग बढ़ी है और नारी का कार्यक्षेत्र भी बढ़ा है। शहरी जीवन में एक नया वर्ग पनपा है – काम काजी महिला वर्ग जिसकी अपनी विवशताएं हैं, काम करने की। पर इसी के साथ उसके अपने तनाव और दुख दर्द भी हैं। इनका चित्रण करते हुए राकेश जी उनके प्रति एक सहानुभूति का भाव रखते हैं।

आज आधुनिकता का समग्र मानदण्ड अस्तित्ववाद है और कुंठा, अकेलापन, अजनबीपन, परायापन, खालीपन, फालतूपन, आतंक, भय, मृत्यु, संत्रास आदि के इर्द–गिर्द ही अस्तित्ववाद की धुरी घूमती रहती है। इन विकारों से त्रस्त मानव की त्रासदी अति परिचय से अजनबीपन की मर्मस्पर्श पीड़ा है। भीड़ में रहते हुए भी अपरिचय और नितान्त अकेलेपन की विडम्बना ने सारे पारिवारिक सम्बन्धों को विघटित कर दिया है। बढ़ती हुई अपूर्व जिजीविषा प्रगतिशीलन, व्यवस्था के प्रति विद्रोह व नौकरी पेशा नारी की बदलती संवेदना, अपनी अस्मिता की पहचान में खुद से कटे हुए पुरूष, वैज्ञानिक उन्नति में यान्त्रिक संतानोत्पत्ति ने पति पत्नी पुत्र–पुत्री माता–पिता, भाई–बहन के सम्बन्धों को प्रश्नों में आबद्ध कर दिया है। असंगत स्थितियों में नर–नारी के शरीर को विवरण देकर उभारना भी आधुनिकता की देन है।

महायुद्धों के परिणामस्वरूप यन्त्रीकरण हुआ। इस यन्त्र सभ्यता के दबाव ने संवेदनशील व्यक्ति को उद्वेलित किया और शहरीकरण नेमानवीय सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न किया। स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कथा साहित्य में यही स्थिति अभिव्यक्ति पा रही है और इसे ही मूल्यों का संकट कहा जा सकता है। महानगरों की उमड़ती भीड़ जुलूस, आपाधापी, अजनबीपन की एक यान्त्रिक पीड़ा परिवारों को बेचैन करने लगी, पर जैसे–जैसे तनाव और दबाव बढ़ते गये वह बेचैनी एक बेचारगी में बदलती चली गयी। बहुत से शहरी, आपाधापी और यंत्र चक्र से स्तब्ध होकर रह गये, कुछ अंतर मंथन में लग गये। अंततः जब शहरी व्यक्ति को अनुभव होता है कि सबकुछ विश्रृंखलित और विपर्यस्त है तथा सार्थकता के प्रयत्न निरर्थकता में प्राप्य हैं तब वह पाता है कि पुराने मूल्य, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, भातृत्वभावना श्रद्धा सब मिटने की प्रक्रिया में है। मूल्यगत विघटन स्थितियों की भयावहता और उसकी अंतर्चेतना में धंस बैठा है, अकेलापन, अजनबीपन और त्रास साथ ही उसे अहसास है मानव सम्बन्धों की जटिलता और विडम्बना का।

बहुत से व्यक्तियों की एक वस्तु के प्रति एक सी धारणा उनके पारस्परिक संगठन का प्रतीक है। दो विरोधी धारणाओं का आविर्भाव संघर्ष को जन्म देता है, जिससे विघटन की स्थिति उत्पन्न होती है क्योंकि परस्पर विरोधी धारणाओं से समाज का मतैक्य विघटित होता रहता है। वर्तमान समाज में मतैक्य का अभाव है। यही कारण है कि वह प्रगतिशील होते हुए भी विघटित होता रहा है। आधुनिक युग में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, राजनीति आदि के प्रति नवीन धारणायें जन्म ले रहीं हैं अतः मूल्य परिवर्तन हो रहे हैं।

वर्तमान समय में स्त्री का कार्यक्षेत्र बदल गया है। अब वह पुरूष की भांति कारखानों में काम करने लगी है, अर्थोपार्जन में योग दे रही है। इस परिवर्तन के अनुसार उसके स्तर में भी परिवर्तन होना चाहिए था, लेकिन स्तर का निर्धारण मूल्यों के आधार पर होता है और मूल्य इतने शीघ्र नहीं बदलते। यही कारण है कि इस दिशा में अब नारी को पर्याप्त सम्मान नहीं मिला है उसे संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है। युग युगान्तर से मूल्यान्वेषण की जिज्ञासा मानव में बदलती रही है। सदियों से दार्शनिक व साधक यह जानने को उत्सुक रहे हैं कि वह अंतिम कसौटी कौन सी है जिस पर घिसकर हम किसी भी वस्तु की धातु को पहचान सकते हैं।

स्पष्टतः मोहन राकेश का कथा साहित्य स्त्री पुरूष सम्बन्धों से प्रारम्भ होता है और एक अर्थहीनता की अनुभूति के साथ समाप्त हो जाता है। उनका वह केवल एक अनुभव है इसका सबसे अधिक प्रभाव प्रेम पर पड़ा है, प्रेम को जो लोग क्षमता कहते हैं वे यह भी नहीं याद रखते कि यह क्षमता एक आदर्श भी है मूल्य भी है। आज तो वह केवल स्थिर भर है, जो क्षमता का नहीं विवशता का अनुभव है । आज हम न तो एक दूसरे के बिना रह सकते हैं और न एक दूसरे को बर्दास्त कर सकते हैं। हम त्याग करते हैं, नफरत करते हैं, भागते हैं या ऊब कर समझौता कर लेते हैं, इसी सिलसिले में जिंदगी बीती जाती है। प्रेम के सम्बन्ध में यही परिवर्तित मानसिकता मोहन राकेश के सम्पूर्ण कथा साहित्य का सार है।

स्वतन्त्रता के बाद हमारे चारों ओर जो परिवेश फैला है उसमें निरंतर एक बदलाव चल रहा है। समकालीन रचनाकार मानव मूल्य, नैतिकता, अनैतिकता, वैज्ञानिकता और टैकनोलाजिक प्रगति के बीच भूख, नवीन परिस्थिति में यौन सम्बन्ध आदि विविध प्रश्नों के समाधान ढूंढ़ना चाहता है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में विकसित व्यक्तिगत, स्वार्थ, अवसर वादिता, अनिश्चितता, ग्लानि, अलसता, असमंजस और सामाजिक बोध से घिरकर साहित्य की मनः शक्तियां उठीं है। उसकी चेतना भूमि में जो भी अंकुर पडता है वह विकृति है खण्डित है उसकी संवेदना से रिक्त होकर जो भी चित्र उभर रहे हैं वे भी भयावह, दंशक बाधाओं को कंपा देने वाला, भूख, भोग अनैतिकता और टूटते बिखरते सायों का ही प्रतिबिम्ब है कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास सभी में यह परिवेश हमें देखने को मिलता है। इनमें आधुनिक जीवन की तमाम विषमताएं, विसंगतियाँ अभिव्यक्ति हुई हैं जिसमें समूचे जीवन को रोये रेशे के साथ देखा जाता है। आज के रचनाकारों ने जो देखा है, भोगा है सहा है वही सब प्रामाणिक अनुभूति के आइने में छिपता–छिपाता दिखाई दे रहा है। आज के कथा साहित्य का चित्रण व्यक्ति के जीवन के उन्हीं त्रासद प्रसंगों एवं घटनाओं से प्रेरित है जो आज के नये मूल्यों की एक महागाथा के समान है।

मोहन राकेश इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि पुराने जमाने के दम्पत्तियों में स्त्री के प्रति सोच आज बदल रही है क्योंकि नये युग में औद्योगीरण तथा नगरीकरण की प्रक्रिया तेजी से फैल रही है, जिससे कस्बाती जीवन शुरू हो गया है। लड़कियाँ भी पढ़ाई कर रही हैं। नये युग के चकाचौंध

तड़क–भड़क ने आज के समूचे जीवन की जीवन प्रणाली को बदल दिया है एक तरफ यह नगरीय जीवन है दूसरी तरफ अतीत है, जिसकी स्मृतियाँ उसके मनोराज्य को कौंधती हुई उसे इन्सानी रिश्ते से जोड़ती हैं। इस पीडामय द्वन्द्व में मानव भटक गया है। वर्तमान के दम्पत्ति कई समस्याओं में उलझे हुए हैं। उनकी कल्पनाएं यथार्थ के ताप में जलकर झुलस गयी हैं, विवाह हुआ पर नौकरी नहीं, नौकरी मिली तो संतोषप्रद नहीं और जीवन की इच्छा पूर्ण कर सके इतनी आय नहीं है जीवन में एक निराशा फ्रस्ट्रेशन जम चुका है। स्वच्छ मकान की जगह अंधेरी कोठरी, बदबूदार वातावरण जीवन की आशाओं के सहारे सोचते विचारते ही जीवन का आगे चलते रहना? सौंदर्यवती स्त्री के बदले घर की स्त्री ऐसी हो गई है जिसके मुख पर तेज नहीं मात्र झुर्रियों की कांति है। दफ्तर से लौटते समय जीवन का आनंद नहीं ऐसा महसूस होता है जैसे बोझ ढोते चल रहे हों। पत्नी की खीज से पुरूष भीतर ही भीतर घुलता जा रहा है। उसका मन द्विधा में है वह अतीत को बेहतर समझता है वह अतीत में जाना चाहता है पर कुछ नहीं कर सकता। आखिर विवश भाव से सभी परिस्थितियों को आज के दम्पतित्व झेल रहे हैं। किसी के जीवन में आनंद नहीं उत्साह नहीं बस है तो टूटन, विवशता, ऊब तथा निराशा, जिससे वह मन ही मन डूबता उतरता रहता है।

दाम्पत्य सम्बन्धी विचारधारा में मोहन राकेश पारिवारिक विघटन में स्त्री–पुरूष दोनों के पढ़े लिखे को उत्तरादायी ठहराते हैं। क्योंकि दोनों का समान शिक्षित होना नौकरी करना और कुछ व्यक्तिगत कारणों से इच्छाओं के विपरीत जीते चले जाने के साथ–साथ तनाव में जीना एक दूसरे को अपने अनुपयुक्त समझकर नये ढंग से जीने का प्रयत्न आदि प्रमुख तत्व हैं। कुछ ऐसी स्थितयाँ हैं जिनमें कुछ घर टूटते हैं तो कुछ नये बनते दिखाई देते हैं। बच्चे पिता से छूटकर यातनामयी हो जाते हैं क्योंकि दोनों के साथ सामंजस्य बैठाने में वह टूट जाता है। सम्बन्धों के बीच आई यह दूरी नये सेतु का निर्माण नहीं कर पाती हैं। फलतः दम्पत्ति अलग–अलग स्थितियों में जीते हुए दुर्निवार पीड़ा व टूटन को झेलते हुए जीवन के अंतिम रूप में समा जाते हैं। स्त्री पुरूष के सम्बन्धों की यह स्थिति और परिणति पूरी कचोट भरी वेदना के साथ मोहन राकेश के सम्पूर्ण कथा साहित्य (गद्य लेखन) के केन्द्र में है। मानव जीवन की विसंगतियों से उपजा यह पीड़ा बोध न केवल मोहन राकेश के कथा साहित्य का विषय है वरन समूची पीढ़ी द्वारा मिश्रित कथा यात्रा का अनिवार्य सोपान है।

मोहन राकेश की दृष्टि स्त्री–पुरूष सम्बन्धों पर है और उनके कथा साहित्य में इन्हीं बदलते रिश्तों पर विवेचन करना ही प्रस्तुत शोध का विषय है।

सन्दर्भ

1. सोसाइटी, इट्स ऑरगनाअजेशन एण्ड ऑपरेशन – एण्डरसन पार्कर, पृ0 160
2. आक्सफोर्ड हिन्दी इंग्लिस डिक्सनरी :आर0 एस0 एम0 सी0 ग्रीगर, पृ0 609
3. Family is 'a group of persons united by the ties of marriage, blood or adoption constituting a single household, interacting and communicating with each other in respective social role, of husband and wife, mother and father son and daughter, brother and sister, an ! creating and maintaining a common culture-- Burgess and Lock, Family P.8.
4. The family is a group defined by sex-relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upbringing of children. Maclver and page, Society, P. 138.
5. Family is a more or less a durable association of husband and wife with or without children. Ogburn and Nimkoff, A Handbook of Sociology, P.459.
6. If there is no offspring born, it would be improper to speak of a family, for there is no such thing as a Childless family a more correct expression in such a case would be Childless marriage. M. F. Nimkoff, The Family , P.8. Quoted by P. H. Prabhu, lbid
7. Family is a group of persons relations to one another are based on consanguinity and who are therefore kin to one another. Kingsley Davis, Human Society.
8. प्रश्नचिन्ह के जंगल में परिवार ; आधुनिक परिवेश और नवलेखन – शिवप्रसाद सिंह, पृ0 36
9. काम सम्बन्धों का यथार्थ और समकालीन हिन्दी कहानी, – डॉ0 वीरेन्द्र सक्सेना, पृ0 276
10. Family disorganization includes any weakness, maladjustment, or dissolution of the ties binding members of this group together. – Elliott and Merrill, Ibid., P. 345
11. It is the disruption of the family relationship, however, is but the climax of long series of conflicts which have threatened the unity of the family. These confects

may be of any kind. This sequence of conflict may appropriately be called family disorganization. – Mowrer

12. Family disorganization means the breakdown of consensus and loyalty often the disruption of previous existing relationship or the loss of family consciousness and the development of detachment. – Martin Neumeyer

13. रूरल सोसियोलॉजी इन इण्डिया – डॉ० ए० आर० देसाई, पृ० 40

14. A nuclear family is a set of people who play biological roles and institutionalized social roles to one- another and, in so doing develop beliefs and values which inform set of expectations (roles) which are peculiar to them. C.C. harris, The Family, (1969). P. 70.

15. द ओरिजन ऑफ द फैमिली–फ्रीडरिख एंगेल्स– 1943, पृ० 79

16. Although marriage is a legal status it is a very personal relationship, in which the wishes, desires and attitudes of the spouses have become more important than the institutional structure. The nature of tensions and the way they contribute to the disorganization of the individual family have become correspondingly important. Burgess and Locks, The Family from Institution to Companionship, P. 456 Chap, 1.

17. Social disorganisation – Eltot Merril, P. 345.

18. The Family – Burgess and Locks, P. 590.

19. नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार, पृ० 51

20. क्योंकि समय एक शब्द है– डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, पृ० 506

21. आलोचना अंक अप्रैल–जून सन् 2002 ई०, पृ० 102

22. गोदान – प्रेमचन्द्र, 1993, पृ० 127

23. श्रृंखला की कड़ियां, अपनी बात भूमिका से – महादेवी वर्मा

24. 'कृष्णा सोबती का स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य' – नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार, पृ० 207

25. 'हिन्दी में स्त्री लेखन : दशा और दिशा' – नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार, पृ० 46

26. कहानीकार – मोहन राकेश – डॉ० सुषमा अग्रवाल, पृ० 15

27. लहरों के राजहंस – भूमिका अंश

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

परिन्दे, दोपहर का भोजन, वापसी, शेष होते हुए,
सम्बन्ध, मछलियाँ, नन्हों, यही सच है,
मित्रो मरजानी, टूटना, सेलर, पिता,
एक नाव के यात्री, गुलकी बन्नो,
खोई हुई दिशाएं

द्वितीय अध्याय

हिन्दी कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् परिवार का विघटन, सामाजिक सम्बन्धो का छिन्न भिन्न होना, यान्त्रिक विसंगतियां, राजनीतिक भ्रष्टाचार और मनुष्य के बीच फैले हुए व्यापक असंतोष ने नई कविता को जन्म दिया। नई कविता के माध्यम से आधुनिकता का दौर हिन्दी कहानी में आया। आज की कहानी में विस्तृत जीवन–परिवेश लिया है और उसके विविध पक्षो के उभरे दबे कोनों को उजागर करने का प्रयत्न किया है। यह आज की कहानी की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। आधुनिकतावादी दृष्टिकोण से ही कहानी के शाश्वत् मूल्यों में परिवर्तन हुआ जिससे पुरानी कहानी का आन्तरिक ढॉचा चरमरा कर टूट गया। आधुनिकता के दौर में लिखी गई कहानियों में घटनाओं का वाग्जाल, भाषा, परिवेश, पात्र, बिम्ब और संकेतों का तेवर बदला। आज की कहानी 'मै' से निकलकर 'वह' की कहानी हो गई है। आधुनिक बोध की कहानी जीवन बोध से जुडी है। आधुनिकता की प्रक्रिया में लिखी गई कहानियों में सहानुभूति की सच्चाई, भोगे हुए क्षण को लिखने की बाध्यता, शाश्वत् रूप से नवीनता की प्रक्रिया और सम्बन्धों की तलाश की सम्वेदना देखने को मिलती है। आज का कहानीकार बदलते जीवन मूल्यों में जिन्दा है इसलिए भौतिक दृष्टि से सुखी रहते हुए मानसिक और आत्मिक दृष्टि से अधिक तुष्ट रहना चाहता है। इसलिए आज के कहानीकार ने जीवन की परिस्थितियों से मोर्चा लेने के लिए पिटे–पिटाये लीक, टेकनीक और भाषा के तेवर को बदला है, साथ ही लेखक की अभिव्यक्ति का ढंग स्वयं का होता है जिससे कहानीकार की आत्म–स्फीति कहानी में मिलती है।

डॉ0 नामवर सिंह के अनुसार–" आज का जीवन ही कुछ ऐसा विरोधाभास पूर्ण हो गया है कि व्यक्ति स्वयं यातनाओं और पीड़ाओं के लिए उत्तरदायी है। वह किन्हीं भावनाओं को झेलने और स्वीकार करने के लिए मजबूर है। इसलिए आज के सजग कहानीकारों ने 'दर्द' से छटपटाते हुए आज के ऐसे व्यक्ति और समाज की दुःखती रग पर हाथ रखने की कोशिश की है जिससे यह भी पता नहीं है कि दर्द कहॉ है और क्या है।"[1] ? यह सच है कि आधुनिकता के दौर में लिखी गई कहानियों की प्रक्रिया जटिल है जिसे भाषा में बॉधना सम्भव नहीं है क्योंकि आधुनिक भावबोध की कहानी पुरानी कहानियों के शाश्वत आग्रह को अस्वीकार कर स्वानुभूति की सच्चाई को भिन्न–भिन्न ढंग से अभिव्यक्ति करती हुई निरन्तर प्रवाहमान है। सामान्यतः जीवन में

अनुभव का धरातल समान नहीं होता है। इसलिए व्यक्ति की अभिव्यक्ति में भिन्नता पायी जाती है। अनुभव और अभिव्यक्ति की प्रक्रिया अनवरत् गति से चलने वाली है। इसलिए आज की कहानी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति की विविधता और नित नवीनता के कारण परिवर्तित होने वाली प्रक्रिया है।

कहानी मे आधुनिकता का प्रारम्भ कुछ लोग प्रेमचंद की कहानी 'कफन' से मानते हैं। क्योकि 'कफन' कहानी ने परम्परावादी पारिवारिक सम्बन्धों के ढॉचे में कुछ हद तक परम्पराओं को तोड़ा है। इसमें उस समय के यथार्थ परिवेश का चित्रण हुआ है। कुछ हद तक पात्रों की अन्वेषित दृष्टिकी झलक मिलती है, पर इस कहानी में आधुनिकता की दृष्टिनहीं मिलती है। क्योंकि 'कफन' कहानी के पात्र निष्क्रिय रूप से गहनतम मानवीय संकट को झेलने में सक्षम हैं, पर कहीं भी उनके मन में अस्तित्व संकट के प्रति सवाल उत्पन्न नहीं हुआ, न तो कहीं क्रान्ति की लहर उठती है। बाप–बेटे सम्बन्धों के अजनबीपन एवं संशय की स्थिति में टकराते हैं यहीं आधुनिकता की झलक मिलती है। सन् 1950 से आधुनिकतावादी दृष्टिकी कहानियों का प्रारम्भ होता है। स्वतन्त्रता के बाद नवीन स्थितियों का उन्मेष हुआ। जीवन के हर क्षेत्र में उसका व्यापक प्रभाव दिखाई दिया। साहित्य में भी नये भाव–बोध का जन्म हुआ। क्योंकि आजादी के बाद मनुष्य के अस्तित्व सम्बन्धी अनेक प्रकार के संकट उपस्थित हुए। औद्योगिक काल की तेज रफ्तार, यन्त्रीकरण की स्थिति और युद्ध के परिणाम के कारण मनुष्य के मन में संघर्ष करने की प्रवृत्ति जन्म ले चुकी थी। जिससे व्यक्ति के आन्तरिक और वाह्य संघर्ष का प्रतिमान बदल चुका था। एक तरफ पुराने कहानीकार समस्या–प्रधान कहानी लिख रहे थे और समस्या को घटनाओं से ओत–प्रोतकर समस्या के समाधान का मार्ग प्रशस्त करते थे। दूसरी तरफ मानसिक संघर्ष की कहानियॉ लिखी जा रही थीं। परिणाम यह हुआ कि पुराने खेवे का रचना स्रोत धीरे–धीरे क्षीण होने लगा, और आधुनिकतावादी दृष्टिकोण को लेकर लिखने वाले कहानीकारों के रचना स्रोत में एक तीव्र बहाव आया। कहानी में पारिवारिक विघटन के बीज बिन्दु आधुनिकता की देन है इसलिए यह आधुनिकता का दौर सन् 1950 से लेकर अब तक है। बदलते पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि से स्वातंत्रयोत्तर हिन्दी कहानी के स्वरूप को डॉ0 रमेशचन्द्र लबानिया ने इस प्रकार रेखांकित किया है :– "टूटते हुए पारिवारिक सम्बन्ध, बनते हुए नवीन सम्बन्ध, नारी का आर्थिक संघर्ष, नारी का प्राचीन भावभूमि से निकलकर नवीन भावभूमि मे प्रवेश, बदलता हुआ परिवेश, मानव के अस्तित्व का प्रश्न, प्रेम और यौन सम्बन्धों की समस्याएँ एवं मनुष्य का टूटता हुआ व्यक्तित्व आदि।"[2] देश स्वतंत्र

हुआ और भारतीयों ने विज्ञान के साथ कदम मिलाये जिससे उसको आइडेंटिटी एवं रिकग्नेशन मिलने लगा। साथ ही इस देश में एक नई सभ्यता की बयार बहने लगी। जिससे व्यक्ति अपनी सडती परम्परा के शव को अपने ही हाथों कफन देने का प्रयत्न करने लगा। गॉव कस्बों की ओर, कस्बे नगराभिमुख होने लगे क्योंकि वह चमक दमक, आकर्षण, रोजगार, मनोरंजन तथा सुख–सुविधाओ के केन्द्र बने हुए थे। इन नगरों में एक अलग प्रकार का बोध पनपने लगा जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के लिए एक नई वस्तु थी। कस्बे में वही लोग बचे जो अपनी वृत्ति के साथ समायोजन करने में सक्षम थे, या जो नयेपन मे मिसफिट हो गये थे, ऐसे लोग नगरों में जाकर भी अपनी मनोवृत्ति को सॅजोये रहे। गॉव अभी वीरान नहीं हुए, क्योंकि वह पूरे हिन्दुस्तान के अस्सी प्रतिशत थे। वहाँ भी प्रायः रिटायर्ड, रिजेक्टेड, किसी अन्य काम और स्थान के अनुपयुक्त लोग रहने लगे या अपनी ग्रामीण स्वछन्द प्राकृतिक प्रवृत्ति से चिपके रहे और कुछ लोगों को ये तीनों ही पसन्द नहीं आये।

यह परिवर्तन सामाजिक स्तर के साथ–साथ व्यक्तिगत स्तर पर भी जमा हुआ है। मानव के सम्बन्धों में तथा विचारधारा में महान परिवर्तन हुए हैं। यान्त्रिकी के इस निविड वन मे सत वेगमय जीवन की अवकाश हीनता, निरर्थकता, अजनबीपन, संत्रास, घुटन, मृत्युबोध और अनेक कुॅठाएॅ तथा विकृतियॉ जन्म ले रही हैं। कहानी का कथा तत्व सिमट गया है और उसका आकार बिन्दु मात्र हो उठा है। उसकी प्रभाव–तीव्रता भी फलतः बिन्दु पर केन्द्रित है। उस बिन्दु में अपार जगत और समस्त काल–प्रवाह समाहित है। जीवन का संक्रमण इतना अबाध और अपार हो गया है कि कथाकार के मन में समा नहीं पा रहा है। मंथनों से भरा, जटिल ग्रन्थियों से उलझा अपना मानस सब के सुख–दुःख को वह कहानियों मे अंकित कर देना चाहता है। जीवन के व्यस्त क्षण, सत्रस्त क्षण, आवेगों को खोलते क्षण, परिवेश और परिस्थितिगत संस्थान् के बीच मानवीय भाव और संवेदना व्यापक किन्तु झीने होते जा रहे हैं। परिणामतः भाव की सघनता विरल और क्षीण होती जा रही है। वास्तव में आज का प्रत्येक क्षण अनगिनत साधारण तीव्रता वाले विविध अनुभव चक्रों का है न कि एक या दो प्रबल प्रचण्ड अनुभव का।

स्वतन्त्रता के बाद कहानी में बदलते पारिवारिक विघटन के सन्दर्भो को निम्न बिन्दुओं से पहचाना जा सकता हैः–

1. अकेलापन के कारण पारिवारिक विघटन।

2 परम्परागत मान्यताओं और नैतिक बोध के पतन के कारण पारिवारिक विघटन।

3. आधुनिक नारी के परिवर्तित जीवन के कारण पारिवारिक विघटन।

4. बदलते स्त्री–पुरुष सम्बन्धो के कारण पारिवारिक विघटन।

5. आर्थिक दबाव और मूल्यों के पतन के कारण पारिवारिक विघटन।

6. अस्तित्व रक्षा और उत्कट जिजीविषा के कारण पारिवारिक विघटन।

7. पीढी संघर्ष के कारण पारिवारिक विघटन।

अकेलापन के कारण पारिवारिक विघटन

परिवार मे आधुनिकता की दृष्टि तथा नवीनता का बोध एक नया संस्कार उत्पन्न कर रहा है। आधुनिक व्यक्ति परम्परागत मूल्यों से तो मुक्त हो रहा है, पर नवीनता को पूर्ण रूप से अपना नहीं पा रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सामने जिन्दगी का कोई मूल्य ही नहीं है। हर मूल्य उसके व्यक्तित्व को दबाना चाहता है, अतः मूल्यहीनता की स्थिति कहीं उसकी नियति है, जैसे जिन्दगी उसके हाथों से फिसलती जा रही है। जिन्दगी का संत्रास न मालूम उसे कहाॅ ले जायेगा। ऐसी स्थिति में आज का व्यक्ति अतीत व भविष्य दोनों से कटा हुआ है। वह अजीब रिक्तता भोगता हुआ अकेलेपन के अभिशाप को ढो रहा है।

नारी ही नहीं, पुरुष को भी अकेलेपन और संत्रास तथा तनाव से पीडित होना पडा है। विज्ञान की प्रगति ने हमारी संवेदना को ऐसा बना दिया है और परिणाम स्वरूप व्यक्ति की चिन्तना के आयाम सीमित होकर रह गये हैं वह आर्थिक वैयक्तिक हो गया है। उसकी यह वैयक्तिक प्रकृति उसे अकेलेपन के क्षेत्र में दूर तक खींच कर लेगयी है और वहाॅ उसने पाया है कि वह अकेला छूट गया है। इस अकेलेपन को लेकर वह शेष समाज से अपने को कटा हुआ महसूस करता है। उसके इस अकेलेपन के विक्षोभ में मध्यमवर्गीय हिन्दी कहानीकार भी सहयोगी है और उसने अपनी अनेक रचनाओं में पुरुष के इस अकेलेपन को और टूटन को अभिव्यक्ति दी है। आधुनिक व्यक्ति ऐसी स्थिति से गुजर रहा है जहाँ वह प्रत्येक क्षण अकेलापन अनुभव करता है। वह बोलना चाहता है पर वह ऐसा है कि उसके बोलने से उसका जायका खराब हो जाता है। उसकी जिन्दगी केवल समय काटने के लिए है। न वह मर सकता

है, न ही जी सकता है, परन्तु वह कुछ देर मे श्रोता से भी ऊब महसूस करने लगता है। उसका मन होता है कि वह सम्बन्धियों को गोली मार दे। वह गोली मारते समय उनके डरे हुए चेहरे देखकर हॅसना चाहता है निर्मल वर्मा के परिंदे एवं अमरकान्त की कहानी 'दोपहर के भोजन' में इस अकेलेपन के बोध को देखा जा सकता है।

डॉ० नरेन्द्र मोहन के शब्दों मे—"मानव स्थितियों को उजागर करने वाला बोध मूल रूप में महानगरीय है। महानगर के जीवन के उसके हुए परिवेश में यंत्रता, भय, अकेलेपन और व्यर्थता का अहसास जितना तीव्र और सघन है, उतना गॉव के परिवेश में नहीं। हॉलाकि गॉव और शहर की संक्रान्ति चेतना का गहरा संवेदानात्मक बोध इधर की कहानियों में हुआ है। महानगरीय तनाव और यातना और व्यक्ति का एहसास एकायामी न होकर बहुविध और जटिल होता है।"[3]

परिन्दे

'परिन्दे' निर्मल वर्मा द्वारा लिखित एक सशक्त कहानी है। लतिका एक छोटे से हिल स्टेशन पर स्थित एक गर्ल्स स्कूल में अध्यापिका और हॉस्टल की वार्डन है। सर्दियों में जब स्कूल की लम्बी छुट्टी होती है और हॉस्टल की सारी लडकियॉ अपने घर चली जाती है, परन्तु लतिका स्कूल के छात्रावास मे ही बनी रहती है, छुट्टियॉ बिताने कहीं भी नहीं जाती। हर साल यही होता है। घर जाने को तैयार लडकियॉ जब उससे पूछती हैं कि क्या वह अपने घर नहीं जा रही, तो लतिका कहती है—उसे हिमपात पसन्द है, इसलिए वह वहीं रहेगी। यह लतिका की विवशता है। वह अपने सारे सम्बन्धों एवं सम्पर्को से कटी हुई है। इसलिए वह यह नहीं सोच पाती कि कहाँ जाए और जाकर क्या करे? वह अपने उस अकेलेपन का अभिशाप भोगने के लिए विवश है और उसकी इस विवशता की पृष्ठभूमि में उसके जीवन का एक प्रेम—प्रसंग मूल कारण है। कुछ वर्ष पूर्व, एक पिकनिक के सिलसिले में डाक्टर मुखर्जी ने उसका परिचय मेजर गिरीश नेगी से कराया था। कालान्तर में इस परिचय ने उन दोनों के बीच अन्तरंग घनिष्ठता का रूप धारण कर लिया था। और लतिका को ऐसा लगने लगा कि अब वह अपने सारे अभाव को भर लेगी, परन्तु क्रूर नियति उन दोनों के बीच व्यवधान बनकर आ खडी हुई। एक बार मेजर नेगी जो कहीं गये तो फिर लौटकर ही नहीं आये। इस दुर्घटना ने लतिका को ऐसा आघात पहुँचाया कि वह उससे उबर नहीं पाती है। वह उसी स्मृति को सहलाती एक कटी हुई जिन्दगी जी रही है। इसी के समानान्तर कथा ह्यूबर्ढ़, डाक्टर मुखर्जी अपने—अपने रागात्मक—सम्बन्धों की पीडा और यंत्रणा को मन के भीतर सॅजोए अपने—अपने ढंग से लक्ष्यहीन दिशा की ओर बढते चले जा रहे हैं।

चैन किसी को भी नही है। अपने अतीत की कटु–मधुर स्मृतियों से कोई भी छुटकारा नही पा रहा है। सबका जीवन उन परिंदो के समान है जो प्रत्येक शीत ऋतु में अनजाने मैदानों की ओर उडते जाते हैं, बीच मे किसी पहाडी स्थान पर क्षण भर विश्राम कर फिर आगे बढ जाते हैं। प्रतिवर्ष यही होता है। इस कहानी के पात्र भी इन्हीं परिन्दो के समान हैं, जिनकी जीवन–यात्रा उसी एक सीमित दायरे में चक्कर काटती चलती रहती है–लक्ष्यहीन; अपने–अपने दर्द और उससे मुक्ति की आकांक्षा को मन में सॅजोए।

निर्मल वर्मा की परिंदे कहानी को डॉ0 नामवर सिंह नयी कहानी की पहली कृति मानते हैं क्योंकि इसमें वे समय की संगीतमय गूंज महसूस करते हैं–" परिंदे कहानी में पियानों के संगीत के सुर रुई के छुई–मुई रेशों से अब तक मस्तिष्क की थकी मांदी नसों पर फडफड़ा रहे हैं। संगीत के सुर मानों एक ऊॅची पहाडी पर चढकर हॉफती हुई सांसों को आकाश की अबाध शून्यता मे विखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं।"[4] इस तथ्य को डॉ0 नामवर सिंह ने एक साक्षात्कार में (सुरेन्द्र पाण्डेय से) 'परिंदे' के बारे में यह प्रतिक्रिया व्यक्त की–"एक स्थिति में कैद कुछ लोग परिन्दे की तरह से हैं और वह कहानी एक छटपटाहट, एक व्यापक छटपटाहट व्यक्त करती है और वह केवल प्रेम की छटपटाहट नहीं है, एक स्थिति से निकलने की बहुत व्यापक रूप से हो सकती है।"[5] प्रसिद्ध रूसी कथाकार चेखव ने रूसी कथासाहित्य में, नयी कहानी के रूप और ढॉचे मे एक नई क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। चेखव की नई शैली की कहानियों मे अपने समकालीन रूसी समाज की असहायता, विवशता और किंकर्त्तव्य–विमूढ़ता की सारी मनः स्थिति प्रतिबिम्बित हो उठी थी कि 'हम क्या करें' कहॉं जायें? निर्मल वर्मा की कहानियों का मूल स्वर भी यही है कि हम क्या करें? व्यक्ति मानों निरुद्देश्य, लक्ष्यहीन जीवन जीता चला जा रहा है। वह अपने अतीत की स्मृतियों से चिपटा और उन्हीं में डूबा यह सोच ही नहीं पाता कि उसे कहॉ पहुॅचना है, क्या करना है? परिन्दे आजादी के भारतीय समाज के एक वर्ग–विशेष में पनप रही इसी मानसिकता का सशक्त चित्रण करती है।

पक्षियों की तरह विहार करने की लतिका की ललक, फिर उसकी विषण्ण भाव–स्थिति, व्यक्तिवादी धारणा का सुन्दर उदाहरण है। नगरों में इसका और प्रकोप है, जिसे नगर बोध कह सकते हैं।" नगर बोध का यह आभाष बीतते समय के साथ लतिका को आतंकित करता रहता है और वह सोचती है कि वह भी अपनी सहयोगिनी मिस वुड के समान ओल्ड मेड बनकर रह जायेगी। दिनोंदिन बढ़ती जाती उसकी वय ने

उसके पहले वाले उत्साह को जैसे क्षीण कर डाला है मेजर नेगी की स्मृति ही जैसे उसके सम्पूर्ण अस्तित्व की चेतना बन कर रह गयी है अपूर्ण आनन्द की अनुभति के बाद सहसा जो खालीपन उसके जीवन में भर आया था, उसकीपूर्ति फिर सम्भव न हो सकी। इसलिए नेगी की याद आने पर उसके चेहरे पर एक उनींदा–सा खालीपन घिर आता है और डाक्टर मुखर्जी उससे पूछते हैं–"मिस लतिका, आप इस साल भी छुटिटयों में यहीं रहेंगी।"[6] लतिका से कोई जबाब देते नहीं बनता और सहसा लगता है, जैसे कहीं बहुत दूर बरफ की चोटियों से परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजाने देशों की ओर उड़े जा रहे हैं......... पहाडों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर जहाँ वह कभी जायेगी , अब उसमें जाने के लिए पहले जैसा उत्साह नहीं जगता। यही लतिका की विवशता हैं। पारिवारिक सम्बन्धों के सम्पर्कों से कटकर, अपने आप में सीमित रहने का भी एक मनोवैज्ञानिक सुख होता है लतिका इसी आत्मतुष्टि का अनुभव करती है।

असफल प्रेम आत्मपीड़न की मनोवाध्यता प्रेम की असफलता (गिरीश नेगी की मृत्यु) से कुंठित लतिका वर्तमान के असमायोजन में असमर्थ है, शीतकाल में परिन्दों के उड जाने से जो सूनापन आ जाता है उसी तरह प्रेम परिन्दे के उड जाने से उसका जीवन वीरान हो गया है, स्मृतियों से आत्मपीड़न ही उसके हाथ बचा है, वह प्रेम उसकी मनोवाध्यता बन गया है। उसे भुलाकर पुनः किसी पुरुष के वरण का साहस उसमें नहीं है। बीतता यौवन अतृप्तियाँ उसे पीडित करती हैं– पर गिरीश नेगी की स्मृतियों में वह मकड़ी के जाले की तरह उलझती जाती हैं। डॉ0 मुखर्जी लतिका को यही समझाते हैं कि मरने वाले के संग खुद थोडे ही मरा जाता है अथवा "किसी चीज को न जानना यदि गलत है, तो जानबूजकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह उससे चिपटे रहना यह भी गलत है।"[7] इस बीच लतिका में भी धीरे–धीरे अपने आप परिवर्तन होता है लतिका स्वीकार करती है कि अब वैसा दर्द नहीं होता है सिर्फ उसकी याद करती हूँ जो पहले कभी होता था। डॉ0 मुखर्जी लतिका से भिन्न स्वभाव वाला है। वह विधुर है, स्वयं दुःखी है परन्तु अपने दुःख के प्रति अनासक्त है। जिन्दगी के अनुभव ने उसे प्रौढ़ बना दिया है। वह हर स्थिति में स्वयं को उबार लेता है और जीवन को उसकी सहजता और सम्पूर्णता में जीता है। मुखर्जी लतिका से कहता है–"जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे जिन्दगी बेकार सी लगी थी। आज उस बात को अरसा गुजर गया और जैसा आप देखती है, मैं जी रहा हूँ, उम्मीद है काफी अरसा और जिऊँगा। .... इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं, अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था। आज भी करता हूँ।"[8]

दोनों ही बातें सच है पर, जैसे वह कहना चाहते हों, जिन्दगी इससे आगे भी चलती रहती है। लतिका डॉ0 मुखर्जी की इन्हीं बातो के कारण उन्हे बहुत मानती है। वह अपने को सम्हालने का अपने मन को बहलाने का बहुत प्रयत्न करती है, परन्तु अपने भावात्मक रीतेपन को भरने का कोई उपाय नहीं खोज पाती।

परिन्दों के माध्यम से प्रेम में इन्तजार को ही मानव नियति माना है। प्रस्तुत कहानी के सारे पात्र अपने लोगों को भूलते हुए प्रतीत होते हैं। लतिका गिरीश को भूल जाना चाहती है, डॉ0 मुखर्जी अपनी पत्नी को भूल गये हैं। यहाँ व्यक्ति निष्ठता है। सभी अपनी-अपनी दृष्टिसे निर्णय लेते हैं। परिन्दे की मूल संवेदना यही है क्योंकि कहानी के प्रमुख पात्र-लतिका, ह्यूबर्ट, डाक्टर मुखर्जी अपने-अपने रागात्मक सम्बन्धों की पीडा और यंत्रणा को मन के भीतर सँजोए अपने-अपने ढँग से लक्ष्यहीन दिशा की ओर बढते चले जा रहे हैं। चैन किसी को भी नहीं है। अपने अतीत की मधुर स्मृतियों से कोई छुटकारा नहीं पा सका है।

परिन्दे के माध्यम से मानवीय सम्बन्धों में एक नया मोड़ निर्मल वर्मा ने दर्शाया है क्योंकि घरेलू सम्बन्ध टूट रहे हैं। इस समस्या का समाधान कहीं नहीं दीखता। हर एक की आवाज अपनी आवाजे होती हैं, अपनी चुप्पी। जितना पुराना घर हो उतनी ही परिचित, उतनी ही भयावह। किस चुप्पी के होटों पर कौन सी आवाज ने अँगुली रखी है, क्या कभी कोई जान सकता है? नामवर सिंह का कथन है कि "परिन्दे से यह शिकायत दूर हो जाती है कि हिन्दी कथा साहित्य अभीपुराने सामाजिक संघर्ष के स्थूल धरातल पर ही 'मार्क टाइम' कर रहा है। समकालीनों में निर्मल पहले कहानीकार हैं जिन्होंने इस दायरे को तोडा है-बल्कि छोड़ा है और आज के मनुष्य की गहन आन्तरिक समस्या को उठाया है।"[9]

दोपहर का भोजन

'दोपहर का भोजन'- अमरकान्त द्वारा लिखित कहानी मध्य निम्न वर्ग के जीवन की ओर इशारा करती है। परिवार में पति चन्द्रिका प्रसाद पत्नी सिद्धेश्वरी एवं तीन बेरोजगार पुत्रों सहित कुल पॉच प्राणी हैं। इसमें माँ सिद्धेश्वरी आर्थिक तंगी को झेलती हुयी अपने पुत्रों को खाना बनाकर खिलाती है और अन्त में खाना न बचने पर स्वयं पानी पीकर सो जाती है क्योंकि उसके सामने विवशता है और इसी विवशता में उसे व्यवस्थित रहना है। पति बेरोजगार हो गया है एवम् बड़ा पुत्र रामचन्द्र (आयु) भी कुछ नहीं कमाता है, मझला (आयु) पढने में बहुत तेज नहीं है छोटा प्रमोद (आयु) अभी बहुत बडा नहीं हुआ है। फलस्वरूप मॉ झूठ बोलकर एक दूसरे को खुश करने की

कोशिश करती रहती है और किसी तरह परिवार रूपी इस संस्था को टूटने से बचाने का प्रयत्न करती है।

'दोपहर का भोजन' कहानी में पारिवारिक सम्बन्धों की नीरसता, घुटन एवम् माता–पिता और बेटों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को रेखांकित किया गया है। डॉ० नामवर सिंह के कथानुसार–''अमरकात प्रेमचंद्र परम्परा के कहानीकार हैं। उन्होने अपनी कहानियों में मानवीय मूल्यों को उभारने का प्रयास किया है। आज की कहानियों के पाठक का जो बहुत बडा वर्ग तथा कथित निम्न वर्ग–मध्यवर्ग के परिवारों में रहता है, उनकी जिन्दगी की तहों में भी खोजने को बहुत कुछ पडा हुआ है कितने ही प्राइवेट मजाक होते हैं, हाथ और मुँह के बीच में भी बहुत सी बातें पैदा होती रहती हैं, अमरकांत ने अपनी कहानियॉ यही से उठायीं और इस तरह हमारी ऑखों में हमारी ही जिंदगी के जाने कितने पर्दे उठ गये हैं। इस क्षेत्र में अमरकांत की कहानियॉ किसी भी नये लेखक के लिए चुनौती हैं।''[10]

यह सच है कि अमरकांत के सभी पात्र अंदर ही अंदर उस यथार्थ को महसूस करते हैं और उस घुटन में विवशता भी देखते हैं परन्तु जिन्दगी के ढर्रे में कोई परिवर्तन नजर नहीं आता है और तभी तो सिद्धेश्वरी–मुंशी चन्द्रिका प्रसाद तथा तीनों बेटे, बडा रामचन्द्र, मझला मोहन तथा छुटका प्रमोद अपने परिवार की जर्जर आर्थिक स्थिति को इतनी कम उम्र में ही जान गये हैं। खाना खाते समय मझला दार्शनिक अंदाज में कहता है कि ''नहीं रे बस! अव्वल तो भूख नहीं।''[11] यह कथन मोहन की उम्र के हिसाब से वक्त के हालात का है जिसने उसे माँ से इस रूप में बोलने पर विवश कर दिया है। मधुरेश के अनुसार–'' दोपहर का भोजन में जिस निर्मम तटस्थता के साथ, एक परिवार के माध्यम से समूचे निम्न मध्यमवर्ग के त्रासद अभावों को अंकित किया गया है, अपने समय की मूलधारा को अतिक्रमित कर पाने के कारण आज भी उस कहानी का ऐतिहासिक महत्व है।''[12] मॉ सिद्धेश्वरी जो परिवार की धुरी है, जिसके त्याग एवं बुद्धिमानी के कारण पूरा परिवार चल रहा है क्योंकि पति चन्द्रिका प्रसाद भी मकान किराया–नियन्त्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छँटनी हो चुकी है और वे काम की तलाश में इन्तजाररत हैं तीनों बच्चे भी समय के हिसाब से बेरोजगार हैं। सिद्वेश्वरी किसी तरह से एक दूसरे को खुश करके टूटा–फूटा खाना खिलाकर उन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करती है साथ ही यह भी कोशिश करती है कि वे एक दूसरे के प्रति स्नेह भी करते रहें। रामचन्द्र जो सिद्धेश्वरी का इक्कीस वर्षीय बड़ा लडका है स्थानीय दैनिक समाचार पत्र के दफ्तर में अपनी इच्छा से प्रूफरीडरी सीखता है और दिन भर घर में

नहीं रहता है पर खाना खाने के समय सिद्धेश्वरी उसे प्रेम पूर्वक खिलाती है–"सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली लाकर सामने रख दी और पास ही बैठकर पखा करने लगी। रामचंद्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भाँति देखा। कुल दो रोटियॉ, भरा कटोरा पनिऔआ दाल और चने की तली तरकारी। रामचंद्र ने रोटी को निगलते हुए पूछा, मोहन कहॉ है? .....किसी लडके के यहॉ पढने गया है। आता ही होगा दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीसों घन्टे पढ़ने में लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।"[13] मॉ सिद्धश्वरी एवं बेटे रामचन्द्र का यह संवाद इतना नीरस एवं वासा सा लगता है जैसे कि वे अपनी–अपनी जिंदगी से इतने व्यस्त एवं थक गये हों कि केवल खाने के समय ही समय मिलता है। मॉ भी झूँठ–मूठ का बहाना बनाकर किसी तरह से उसे उलझाये रखना चाहती है क्योंकि वह जानती है कि यह बात सच है कि उसका मझला लड़का दिन भर गायब रहता है, प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा है फिर भी रामचन्द्र से वह वास्तविकता को छुपा लेती है कि परिवार में भाइयों के प्रति कोई विवाद जन्म न ले।

'दोपहर का भोजन' कहानी में टूटते परिवार को बचाने का प्रयत्न है। मॉ स्वयं भूखी रहकर, पानी पीकर सो जाती है। परिवार के हर व्यक्ति से झूठ बोलकर लगाव और दिलचस्पी पैदा करती रहती है। किन्तु यह कथा का केन्द्र बिन्दु नहीं है, कथा का केन्द्र बिन्दु है गंगा शरण बाबू की लडकी की शादी तय हो गयी। लडका एम0ए0 पास है' इसे सुनकर उसे बड़ी निराशा होती है। सिद्धेश्वरी की सीमित संसाधनों के बीच यह विवशता है कि उसे उसी में सम्पूर्ण परिवार को खुश रखना है यदि वह खुद भी अपने शरीर को भूखा रखकर भी अपने बच्चों एवं पति का पेट भरती है तो इससे उसको आत्मसन्तुष्टि मिलती हैं मुंशी पति को खिलाकर जब स्वयं सिद्धेश्वरी खाने बैठती है तब उसे स्थिति के बारे में अन्दाज लग जाता है कि खाना शायद ही शेष बचा हो–"सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गयी। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोडी सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने अपने पास खींच लिया उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी और जली। उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा ही रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकडे को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकडे को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरान्त एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ

गयी। उसने पहला ग्रास मुँह में रखा और तब न मालूम कहाँ से उसकी ऑखों से टप–टप ऑसू चूने लगे।"[14] सिद्धेश्वरी की यह रोने की प्रवृत्ति अपने भाग्य तथा आर्थिक समस्याओं को लेकर तो है ही साथ ही आने वाले भविष्य के आहटपन की ओर भी है इसलिए जब पति मुंशी चन्द्रिका प्रसाद उसे गंगाशरण बाबू की लडकी की शादी के बारे में कहते है तब उसे ऐसा लगता है कि पता नही सिद्धेश्वरी जैसी हालत उस लडकी की भी हो सकती है इसलिए वह उदास हो जाती है।

'दोपहर का भोजन' नामक कहानी में अमरकान्त ने पारिवारिक सम्बन्धों की बदलती हुई स्थितियों के बारे में परम्परागत ढॉचे को न अपनाकर एक नया प्रयोग करने की कोशिश की है जिसमें मॉ रूपी सिद्धेश्वरी के माध्यम से यह सन्देश देना चाहा है कि माँ ही वह धुरी है जिसमें सम्पूर्ण परिवार बँधा रह सकता है।

परम्परागत मान्यताओं और नैतिक बोध के पतन के कारण पारिवारिक विघटन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय युवक एवं युवतियों ने परम्परागत मान्यताओं और रूढ़ नैतिकता के प्रति विद्रोह करना शुरू किया। विशेषकर युवकों ने परम्परागत मान्यताओं के बन्धन को तोड़ना मानों अपना धर्म ही मान लिया है। नई–नई वैज्ञानिक उपलब्धियों के साथ तथा आधुनिक संसार के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध जुड जाने के कारण भारतीय युवक ने पश्चिमी दर्शन, संस्कृति तथा रहन–सहन को स्वीकार किया जिसके माध्यम से परम्परागत भारतीय मूल्यों में परिवर्तन हुआ। नया भारतीय नवयुवक अपने सजग अस्तित्वबोध के कारण, परम्परागत आदर्शों के बारे में प्रश्न करने लगा और उनमें व्यापक परिवर्तन की मांग करने लगा। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही नये भारत में जीवन गत आस्था के दो स्पष्ट स्वरूप दिखाई देने लगे। एक वह था जो पुराने आदर्शों, मूल्यों और रूढ़ियों के साथ पूरी सच्चाई से जुड़ा हुआ था और उससे न मुक्त होना चाहता था न मुक्त होने की बात सोच सकता था। दूसरा वर्ग सभ्यता के नये उपकरणों को स्वीकार करने के साथ–साथ समस्त प्राचीन रूढियों और अन्धविश्वासों को समाप्त करके नये जीवन को अपनाने की बात करता था। इस प्रकार प्राचीन मूल्यों और आधुनिक मूल्यों में एक व्यापक टकराहट दिखाई देने लगी। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आज हर वस्तु और बात का परीक्षण किया जाने लगा, फलस्वरूप पारम्परिक आदर्शों के प्रति अंध श्रद्धा खत्म होने लगी है, प्राचीन भारत धर्म परायण था! तब समस्त कार्य धर्म सम्मत होते थे। किन्तु वैज्ञानिक प्रगति ने धर्म को अवैध सिद्ध कर दिया है। वर्ण

व्यवस्था एवं जाति–व्यवस्था भी आज के समाज में सम्भव नहीं हैं आज जीवन सम्बन्धी दार्शनिक मान्यताएँ भी अव्यावहारिक सिद्ध हो चुकी हैं क्योंकि जन्म–मृत्यु के कई रहस्य आज वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में उद्घाटित किये जा चुके हैं। अतः आज का व्यक्ति धर्म के प्रति आस्थावान दिखाई नहीं देता है।

कमलेश्वर के कथनानुसार–''परिवार मानवीय सम्बन्धों की एक महत्वपूर्ण इकाई है इसमें भी पारम्परिक कई मान्यताऍ आज खोखली सिद्ध हो गयी हैं। आज हमें परिवार का रूप विघटित हुआ तो दृष्टिगत हो ही रहा है किन्तु परिवारगत् भावना, सेवा, श्रद्धा आदि तत्व वहॉ दृष्टिगत नहीं होते। आज एक पिता को पुत्र चाहिए इसलिए कि वह वृद्धावस्था में उनकी सेवा कर सके, इसलिए नहीं कि वह अपना परलोक सुधार सके।''[15] आज व्यक्ति परलोक की नहीं इहलोक की बात सोचता है। पुत्र आज पिता की सेवा करे अथवा उसे वृद्धावस्था में घर से निकल जाने को विवश कर दे यह उसकी इच्छा की बात है। (वापसी–ऊषाप्रियम्वदा)। 'मझले' कितना कुछ सोचकर नौकरी से वापस घर आये पर उसे ऐसा ही लगेगा जैसे वह कोई अपने घर में न आकर नकली स्थान में आ गया है। (शेष होते हुए–ज्ञानरंजन)। 'मैं' किसी भी सदस्य के बारे में चाहे वह मॉ ही क्यों न हो सोचे कि इससे तो पीछा छुडाना ही है पर सम्बन्धों का चक्रव्यूह वह नहीं तोड सकता है–(सम्बन्ध–ज्ञानरंजन)।

वापसी

ऊषा प्रियंवदा की कहानी वापसी में आधुनिक मध्यवर्गीय शहरी परिवार की दो पीढियों के आन्तरिक वैषम्य का यथार्थ चित्र बडी सफाई और बारीक सहानुभूति से अंकित किया गया है। कहानी में गजाधर बाबू पुरानी पीढी के और उनके दूर रहकर पलने–पुसने वाले बच्चे, दो पुत्र, एक पुत्रवधू, एक पुत्र और उसकी माँ, जिसका होना यही है, कि वह इनकी मॉ, यानी पोषिक है....... नयी पीढी के हैं। गजाधर बाबू पारिवारिक व्यवस्थाक्रम के अनुसार परिवार से अलग नौकरी करने लगे हैं। पर जब अवकाश प्राप्तकर उल्लसित मन से बच्चों के बीच आते हैं। कुछ ही दिनों में यह यथार्थ स्पष्ट होने लगता है कि न तो वृद्ध गजाधर बाबू ही परिवार की व्यवस्था में अब खप सकते हैं, न बच्चे ही गजाधर बाबू की व्यवस्था में समा सकते हैं। कुछ भी आवेश–जन्य घटना घटित नहीं होती पर एक खामोश अन्तर्व्यथा, एक अनावश्यक असंतुलन परिवार की व्यवस्था को बिगाड जाता है। गजाधर बाबू को इसका अहसास होता है। एक दिन स्वाभाविक सहज ढंग से वे दूसरी नौकरी करने के लिए फिर से परिवार से निकल

पडते है। परिवार भी सहज ढंग से उन्हें विदाई देता है और फिर अपने काम में लग जाता है।

वापसी आधुनिक जीवन में पारिवारिक विश्रृंखलता को लेकर चलने वाली सहज, यथार्थ ओर मार्मिक कहानी है।वापसी के गजाधर बाबू न तो अनुपयोगी है और न ही फालतू। रिटायर होने पर भी गृहस्थी को चलाने योग्य सामर्थ्य उनमे है। वे आत्म निर्भर है, परोपजीवी नहीं। पर गृहस्वामी होते हुए भी गृहस्वामी के अधिकार उनके पास नहीं है। सामने तो नहीं, पर पीठ पीछे उनके बच्चे और उनकी पत्नी जब–तब उनके प्रति जो भाव व्यक्त करते हैं, वे घर में उनकी स्थिति को बाहरी आदमी की स्थिति बना देते हैं। छोटा बेटा कहता है–बाबू जी को बैठे–बैठे यही सूझता है।"[16] साथ ही बडा बेटा कहता है, "बूढे आदमी हैं, चुपचाप पडे रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं?" पत्नी ने बडे व्यंग्य से कहा "कुछ और नहीं सूझा तो तुम्हारी पत्नी को ही चौके में भेज दिया।"[17] अभिप्राय यह कि पूरा परिवार उनके प्रति उपेक्षा का भाव रखे हुए हैं।

आखिर वह क्या है जिसने गजाधर बाबू की स्थिति अपने ही घर में परदेशी–बाहरी आदमी की स्थिति बना दी है इसका उत्तर पाने में कहानी का स्वर पकड मे आ जाता है– " घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुर्सियो को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली सी चारपाई डाल दी गयी थी।"[18] डॉ0 कुसुम वार्ष्णेय के शब्दों में–"कहानी में अकेलेपन की अनुभूति असंगत होने की स्थिति की उपजीव्य है, कहानी का थीम अकेलापन नहीं, 'मिसफिट' होने का एहसास है जो नायक में अकेलेपन को भी गहरा करता है।"[19] लेखिका ने शुरू से ही जो बिम्ब केन्द्र में रखा है वह गजाधर बाबू की असंगत स्थिति को प्रकट करता है–"अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है........पत्नी की कोठरी में झांका तो अचार, रजाइयों और कनस्तरों के बीच अपनी चारपाई लगी पाई। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टांगने को दीवार पर नजर दौडाई फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपडे खिसकाकर, एक किनारे टांग दिया।"[20] रिक्त स्थान की पूर्ति बहुत जल्दी हो जाती है, किन्तु जो स्थान पहले ही भरा हो, उसमें किसी चीज का समा जाना कठिन होता है। अन्य वस्तुओं को खिसकाकर ही नयी वस्तु वहाँ 'फिट' होती, किन्तु यदि वस्तु जीवंत हो और जीवंत लोगों के बीच ही उसे 'फिट' होना हो, तो इस नयी व्यवस्था के लिए कोई तैयार नही होता। जैसे कोई एक 'घेरा' है जिसमें लोग

अपने स्वभाव और व्यक्तित्व के अनुसार उसमे फिट है, उस जीवन को जीने के आदी हो गये हैं। कोई दूसरा व्यक्ति जब उसमें प्रवेश करता है, तो उसे फिट करने के लिए दूसरे व्यक्तियों को खिसकना पडता है, जिसके कारण खिसकने वाले व्यक्तियों में उस आगन्तुक व्यक्ति के प्रति स्वागत और सौहार्द का भाव नही वरन् खीज, उपेक्षा और ऐसा ही कुछ और पैदा होने लगता है– ऐसा व्यक्ति उस सकुचित स्थिति मे चुपचाप पडा रहे तो ठीक अन्यथा सुनना पडता है–"बूढे आदमी है, चुपचाप पडे रहें। हर चीज में दखल क्यों देते हैं।"[21] किन्तु चुपचाप पडे रहने पर भी तो गजाधर बाबू की स्थिति संगत नहीं हो पाती वे अपने को सिकोड़ लेते हैं, किसी की बात में हस्तक्षेप नहीं करते। और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया है कि "अब वह घर की किसी बात में दखल न देंगे... पर किसी बात में हस्तक्षेप न करने के लिए निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातवरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी।"[22]

'वापसी' पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन की स्पष्ट अभिव्यक्ति परिवार के ढाँचे में आये मूलभूत परिवर्तन की ओर संकेत करती है। क्योंकि एक ऐसा व्यक्ति जो सभी लोगों के लिए शिकायत का मौका देता रहता है कारण यह है कि गजाधर के आने से अन्य लोगों का अस्तित्व संकुचित हो जाता है, जिससे सबको शिकायत रहती है: "अमर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थीं। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा बैठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने–जाने वाला हो तो कहीं बैठाने की जगह नहीं। अमर को अब भी छोटा समझते थे औरमौके–बेमौके टोक देते थे।"[23]

"हमारे आने से पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?" गजाधर बाबू ने पूछा, पत्नी ने सिर हिलाकर जताया कि नहीं। पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था।.. . बहू को कोई रोक–टोक न थी, अमर के दोस्तों का प्रायः यही अड्डा जमा रहता था और अंदर से नाश्ता चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसंती को भी यही अच्छा लगता था।"[24] गरज यह कि सब अपने ढंग से जी रहे थे। गजाधर बाबू के आने से व्यवधान पडता है। कोई उन्हें खपा नहीं पाता, अपनी जीवन–गति का अंग नहीं बना पाता, अपने मनो–विनोद तक में शामिल नहीं करना चाहता।

यह कैसा अन्तर्विरोध है कि आदमी परायों में अपना है और अपनों में पराया बन गया है। एक ओर गजाधर बाबू का अवकाश प्राप्ति के बाद परायो के बीच से आने का दृश्य है और दूसरी ओर अपनों के बीच से लौटने का दृश्य।

"गजाधर बाबू ने कमरे में जमे सामान पर एक नजर दौडाई"—दो बक्स, डोलची, बाल्टी—"यह डिब्बा कैसा है, गनेशी?" उन्होंने पूछा। गनेशी विस्तर बॉधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुःख, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिये हैं। कहा, बाबूजी को पसन्द थे, अब कहॉ हम गरीब लोग आपकी खातिर कुछ कर पायेगे।" घर आने की खुशी मे भी गजाधर ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।........ रेलवे क्वार्टर का वह कमरा जिसमें उन्होंने कितने ही वर्ष बिताये थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था।"[25] दूसरा दृश्य है, घर से वापसी का :

"नरेन्द्र ने बडी तत्परता से विस्तर बॉधा और रिक्शा बुलाया। गजाधर बाबू का टिन का बक्स और पतला सा विस्तर उस पर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिए गजाधर बाबू रिक्शे पर बैठ गये...। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली। फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आये, बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलियेगा न? बसन्ती ने उछलकर कहा, भइया हमे भी।" गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गई। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लायी और कनस्तरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा अरे नरेन्द्र, बाबू जी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।"[26] क्या स्थितियों की यह विषमता विसंगत जीवन—स्थिति का संकेत नहीं करती? यह विसंगत स्थिति ही तो है, जिसने गजाधर बाबू को अकेला छोड़ दिया है। पर क्या वे अकेलेपन से ऊबकर घर से भागते हैं या कि विसंगत बनकर रहने की असहनीय स्थितियों से उबरने के लिए? यह ठीक है कि वह दूसरों की स्थिति नहीं बदल सकते, दूसरों के स्वभाव नहीं बदल सकते, पर अपनी स्थिति तो बदल ही सकते हैं, खुद को उनसे काट तो सकते हैं। और अपने को विसंगति स्थिति से बचाने के लिए ही वे लौट पडते हैं, जहॉ वे पहले स्थापित थे। डॉ0 प्रेमनारायण सिन्हा की टिप्पणी महत्वपूर्ण है—"वापसी के द्वारा अपने ही घर में व्यर्थ हो गये एक रिटायर्ड आदमी को दुनियॉ की भीड में घर से वापस भेजकर दिखाया गया है कि आज का आदमी, सम्बन्धों का नहीं, संसर्गो का हो गया है। उपयोगिता ने आदमी को जितना आवश्यक बनाया है, उपयोगी नहीं होने पर उतना ही अनावश्यक भी बना दिया है। बिगड़े हुए रेडियो या बन्द घड़ी की व्यर्थता की तरह रिटायर्ड आदमी की भी व्यर्थता हो जाती है, इसी दृष्टि से वापसी का नायक भी व्यर्थ है।"[27] डॉ0 नामवर सिंह

ने निष्कर्ष रूप में यह कहा है कि वापसी कहानी अकेलेपन की अनुभति को लेकर लिखी गयी है, वह अकेलापन बहुत व्यापक भेले ही न हो, पर है वास्तविक और सामाजिक ही–"यह सच है कि वापसी के नायक का अकेलापन आज बहुत व्यापक नही है, किन्तु इतने ही से यह अवास्तविक नही हो जाता और न किसी कहानी के लिए अग्राह्य ही..... गरज यह कि वापसी का अकेलापन सारे समाज का भले ही नहो, किन्तु वह सामाजिक तो है ही। अकेलापन, जाहिर है कि व्यक्ति को ही महसूस होता है किन्तु वह व्याधि तो सामाजिक ही कही जायेगी।"[28] दूसरी ओर डॉ0 इन्द्रनाथ मदान इसे आधुनिकता से जोडते हुए लिखते हैं कि "बाबू गजाधर की दोबारा वापसी में जब वह अपने घर मे मेहमान बन जाता है, बेघर हो जाता है। आज इन्सान अपने परिवेश से इतना कटता जा रहा है कि उसे परायेपन, अजनबीपन, बेगानेपन का बोध होने लगता है, यह नगर बोध का परिणाम है, जिसके साथ आधुनिकता का बोध जुड़ा हुआ है।"[29]

शेष होते हुए

ज्ञानरंजन की कहानी 'शेष होते हुए' में फासला पीढियों के बीच का है। कहानी बाहर से घर लौटने वाले एक मँझले भाई के दृष्टिकोण से लिखी गयी है, जो पारिवारिक स्थिति पर अफसोस कर रहा है। सदस्यों के बीच निकटता और संप्रेषण लगभग समाप्त है। बडे भाई और उसकी पत्नी ने पिछवाडे अलग कमरे बनवा लिये हैं, बेटी ने अपने कमरे के लिए बरामदे में पार्टीशन खडा कर लिया है, और उसके दरवाजे पर स्कूल जाते समय ताला लगा देती है। छोटे भाई ने छत पर अकेला कमरा हथिया लिया है। बच्चे अपने–अपने दोस्तों की खातिरदारी शेष परिवार से अलग अपने–अपने कमरों में करते हैं। खाने का वक्त सबका अलग–अलग है। मँझले यह देखकर महसूस करता है कि एक घर में यहाँ कई घर हो गये हैं, एक–दूसरे से अलग और स्वतन्त्र। कहानी में सहानुभूति की दिशा अपरिभाषित है। बच्चे बेहद खुदगरजी से माता–पिता के कमरे से अच्छी–अच्छी सब चीजें अपने कमरों में उठा ले जाते हैं। पिता भी अन्य मध्यवर्गीय पिताओं जैसे गुर्राते रहते हैं। माँ आहत नजर और दुःखी आवाज के साथ झाड–पोंछ में व्यस्त रहती है और बच्चे इससे आँखें चुराते रहते हैं। कहानी का अन्त भविष्य की ओर रेखांकित कर यह कहकर समाप्त हो जाता है कि मँझला जब अगली बार यहाँ आयेगा तो हालात और भी बिगड चुके होंगे क्योंकि शायद अभी लोग पूरी तरह टूटे और विखरे नहीं है क्योंकि अभी संक्रान्ति अपनी परिणति की ओर केवल शुरू हुई है।

'शेष होते हुए' कहानी में मानवीय सम्बन्धों के बदलाव और विघटन का बोध कराया गया है। पिता, माँ, भैय्या, भाभी टीनू–सबका अलग–अलग ससार है। पूरे घर में दमघोटू वातावरण रहता है। माँ गुमसुम रहती है और पिता चिडचिडे। उमंग गुम हो गयी है पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियां झेल रहे हैं। कहने को यह एक बडा परिवार है और इतने लोग एक साथ रहते हैं पर यथार्थ यह है कि परिवार के सभी बड़े और छोटे सदस्य एक–दूसरे से बचना चाहते हैं तथा अपने–अपने घेरे में सिमटे हुए है। इस कहानी में 'शेष होते हुए' सम्बन्धों की प्रामाणित पहचान करायी गयी है घर पहुँचने पर मझले की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य औपचारिक, निरुत्साहित और ठंडा रुख–वात्सल्य और स्नेह जैसी मनोवृत्तियों के स्रोत के सूख जाने का बोध कराता है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए हैं। और एक दूसरे से अलग और कटे पडे है यहाँ एक ही घर में कई घर हो गये हैं। सब एक दूसरे से इस प्रकार कटे–कटे रहते हैं कि कोई भी एक दूसरे का सामना नहीं करना चाहता। पूरा घर अंदर ही अंदर खण्डित होता चला जाता है किन्तु बचाव का उपाय किसी के पास नहीं है। परिणाम स्वरूप पूरी कहानी में एक दर्द है–मध्यमवर्गीय पारिवारिक सम्बन्धों के अभिशाप का दर्द, जिसमें सब कुछ शेष होता चला जा रहा है। यहाँ कोई संघर्ष नहीं किया जा सकता, सिर्फ ध्वंश को निज के टूटने तक किसी तरह सहा जा सकता है।

'शेष होते हुए' कहानी में मझले ने लौटते समय परिवार की स्थिति को इस प्रकार देखा–"एक ही घर में कई घर हो गये हैं। हर व्यक्ति के कमरे दूसरे से अलग एक स्वतन्त्र और पृथकता ज्ञापित करने वाला स्वभाव है। निजी व्यवस्था की प्रवृत्ति कुछ लोगों में छोटे पैमाने पर अन्दर ही अन्दर प्रयत्नशील है। ऊपर वाले कमरे में टीनू ने एक अलमारी में शीशे की रकाबियाँ गिलास, प्याले और स्टोव भी छोड़ रखा है। उसके दोस्त वही चाय पीते हैं।.... टीनू अपने कमरे में केवल अपने कमरे को अच्छा से अच्छा रखता है। दूसरे कमरों की अच्छी चीजें ला–लाकर अच्छा कर लेता है।"[30] मझले ने यह भी देखा कि–"भाभी का कमरा गुदड़ी बाजार है लेकिन दैनिक उपयोग में आने वाली सबसे नयी सुन्दर और फैशनेबल चीजें उन्ही के कमरे में हैं। प्रसाधन सामग्रियों की जैसी सुगंध भाभी के कमरे में व्याप्त रहती है वैसी कहीं नहीं होती।"[31] मझले के लिए यह प्रवेश अग्नि से कम दाहक नहीं है। उसे यह प्रतीत होता है जैसे वह किसी नकली जगह के सामने व्यर्थ खड़ा हो गया है। मझले इन और कठोर दृश्यों को स्वीकार कर लेता है–"माँ–पिता के कमरे में कुछ नहीं है।"[32] ..... 'सबका मन कडुवा हो

गया है।"[33] ..."पिता कहने लगे, तुम क्या जानो, मेरी छाती में हमेशा हाहाकार मचा रहता है।"[34] टीनू गुस्सा और बदतमीजी करने लगा है।"[35] वह कहता है "माँ को नये मैनर का नहीं पता है। ... घर में सात लोग हैं, सात बार टेबुल पर खाना रखा जाता है।"[36] ...."घर अंदर ही अंदर खंडित हो रहा है।"[37] सहानुभूति की दिशा यहाँ अपरिभाषित है क्योंकि बच्चे बेहद खुदगरजी से माता–पिता के कमरे से अच्छी–अच्छी सब चीजें अपने कमरों में उठा ले जाते हैं। पिता "हर दूसरे मध्यम वर्गीय पिता सरीखे।"[38] माता पर गुर्राते हैं कि सारा दोष उसका ही है। माँ आहत नजर और दुःखी आवाज के साथ झाड़–पोछ में व्यस्त रहती है और बच्चे इससे ऑखें चुराते हैं। मॅझला भी अपने स्वागत में मॉ की ओर से एक ठण्डापन महसूस करता है क्योंकि उसके मध्यमवर्गीय संस्कार जवान बेटे को छाती से भींचकर प्यार करने नहीं देते। स्थिति की पीडा उस समय और सघन हो जाती है जब मझला यह सोचता है कि किसी तरह इससे संघर्ष नहीं किया जा सकता है। कहानी वहाँ और नुकीली हो जाती है जब मझला छुट्टी समाप्त होने पर घर से जाना चाहता है तो सोचता है कि सूटकेस लेकर निकलेगा तो–"टीनू छत से उतरकर आ जायेगा, और तारा पार्टीशन से बाहर। भाभी–भैय्या को पीछे से बुला लायेगी और वे दोनों शान्त मझले के चले जाने की प्रतीक्षा में खडे रहेंगे। मझले को जाहिर होगा कि ये सब लोग किसी एक स्थान से नहीं, अलग–अलग जगहों से आये हैं, जब वह वापस नौकरी पर लौटता होता है। घर के लोगों के इकट्ठे होने का दृश्य इसलिए मझले को बडा झूठा और अटपटा सा लगता है।"[39]

इस मध्यमवर्गीय वातावरण में बच्चों के भीतर एकान्त ओर स्वतन्त्रता की आकांक्षा का होना डरावना प्रतीत होता है। आपस में एक दूसरे के और माता–पिता के लिए किसी लगाव का न होना, अलगाव और परायेपन को ही रेखांकित करता है। जाते समय मझले ने समय की क्रूरता और निरंकुशता को तीव्रता से अपने भीतर घँसते पाया "अगली बार जब मझला घर आएगा तब काल उसके सामने कुछ और बिगड़े हुए तथा कठोर दृश्य उपस्थिति करेगा। क्योकि अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं है। अभी संक्रान्ति अपने अन्जाम की तरफ केवल शुरू हुई है।"[40] स्पष्ट है कि बच्चों ने ही घर में रहते हुए भी माता–पिता की उपेक्षा आरम्भ कर दी है, और ये बच्चे अभी वैसे समृद्ध बालिग भी नहीं हैं जिनके लिए मॉ की जरूरत खत्म हो जाती है। और मजा यह कि यहाँ गलती किसी की नहीं है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि शेष होते हुए (ज्ञानरंजन) का घर अब पुराना घर (स्वीट होम) नहीं रह गया है जो दुर्दम्य आकर्षण से मनुष्य को अपनी ओर खींचता था और स्नेह की अटूट डोर में बँधा हुआ मनुष्य खिंचा चला आता था। नयी परिस्थितियों में घर एक कृत्रिम सेट सरीखा हो गया है जिसका काम पूरा हो चुका है, अब वह केवल नष्ट हो जाने के लिए बचा है। इस सेट सरीखे परिवार में सदस्यों के बीच स्नेह सूत्र विरल हो गये हैं। घर के सभी सदस्य उन सम्बन्धों का निर्वाह करने वाले अभिनेता हैं। बदले हुए सामाजिक ढॉचे में परिवार के वृद्धजन, युवा पीढ़ी के आश्रय में निरंतर निरादर और अपमान झेलने के लिए विवश है। मूल्यों और सम्बन्धों के विघटन से पुरानी और नयी पीढी का वैषम्य निरन्तर बढ़ रहा है यह 'शेष होते हुए' कहानी में स्पष्ट हो जाता है।

सम्बन्ध

'सम्बन्ध' कहानी ज्ञानरंजन द्वारा लिखित माँ–पुत्र के सम्बन्धों पर एक नया प्रश्न चिन्ह खड़ा करती है। इसमें एक अजनबी श्रोता के साथ एकालाप की शैली अपनाई गई है। कहानी उत्तम पुरूष में कही गयी है। क्रिया पर कम, भावना पर अधिक जोर दिया गया है। युवक एक खुशनुमा दिन बिताकर घर लौटता है, और घर को मनहूस पाता है, मॉ से यह भी सुनता है कि छोटा भाई आत्महत्या की धमकी देकर घर से चला गया है। जागने पर देखता है कि वापस आ गया है। युवक के मन में मॉ के प्रति जबरदस्त आक्रोश है साथ ही भाई के प्रति एक तटस्थ सहानुभूति भी रखता है। युवक परिवार के प्रति स्वीकार करता है कि मैं ऐसा सौभाग्यशाली व्यक्ति नहीं हूँ जो माता–पिता के प्यार से खुश रहते हैं। कहानी का उद्‌देश्य अगर सहानुभूति को भाई और माँ की ओर मोडना है तो भी वक्ता की भावनाओं के ब्यौरे ही बहुत से पाठकों की संवेदनशीलता को अखरते रहते हैं।

ज्ञानरंजन की सम्बन्ध कहानी में पारिवारिक विघटन का स्वरूप मॉ एवं बेटे के नये रूप को उभारता है। कई प्रश्न अनुत्तरित से दिखते हैं जैसे माँ के विरुद्ध बेटे की गाली–गलौज इतने बेतुके ढंग से हिंसात्मक है कि कहानी का पूरा उद्‌देश्य माँ पर आक्षेप नहीं, बल्कि बेटे का परदाफाश करना है। उपेन्द्रनाथ अश्क के अनुसार–"यह कहानी' आज के युवक की संवेदना पर एक व्यंग्य है: कितनी गलत बात है कि लोग इस कहानी को समझते नहीं।"[41] कहानी कहने वाले युवक के मन मे परिवार के सम्बन्धों के प्रति गहरा रोष है–" बस , सोचकर रह जाता हूँ कि जिस तरह आपकी माँ बचपन में मर गयी थी, मेरी भी मर गयी होती।"[42]... पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति वितृष्णा

को उजागर करते हुए युवक कहता है कि– "मै अपने भाई के बारे में यह सोचने पर मजबूर हो गया कि उस बेचारे को मर ही जाना चाहिए।"[43] इसके आगे कहने वाला युवक यह भी स्वीकार करता है कि –"मैं उन सौभाग्यशाली महापुरुषों में नहीं हूँ जो अपने माता–पिता और घर की खौफनाक कल्पना की आसानी से हत्या कर चुके है।"[44]

कहानी में लेखक पारिवारिक सम्बन्धों के द्वन्दों और तनावों से ऊपर उठकर एक व्यापक सामाजिक, बेकारी की समस्या को झेलता हैं कहानी का नायक 'मैं' बेकारी में भाई की दुर्दशा पर भावुक नहीं होता, अपितु उसकी मृत्यु तक की कल्पना कर लेता है। माँ उसके लिए मॉ न होकर मॉ का भ्रम है जिसके प्रति उसके मन मे कुछ ऐसा तीखा व तिक्त है कि वह उसे 'यू वूमैन' कहकर अपने भीतर का पूरा जहर बाहर उगल देना चाहता है। घर में सबके प्रति उसके सम्बन्ध धीरे–धीरे समाप्त होते चले जा रहे हैं। कही कुछ घटित नहीं होता, सब कुछ पूर्वत रेंगता रहता है वाह्य स्थितियॉ चट्टान की तरह दृढ़ हैं जबकि व्यक्ति का अन्तर बदलाव के लिए तड़पता रहता है। इसी कुलबुलाहट में वह जडवत् हो जाता है। यह है पूर्ववर्ती पीढी की कारगुजारी जो स्वयं तो अपने बंद दिमाग की सडांध गंधाती ही रहती है, युवा पीढी में विकास को भी अवरुद्ध करती है। कहानी कहने वाला मैं अपनी भावनाओं का विश्लेषण नहीं करता। उसके वक्तव्य एवं व्यंग्योक्तियों की सीमा चरम पर है। दरवाजा खुलने पर मॉ को देखकर कहता है:–

"निःसन्देह वह एक मानव आकृति थी। यह अधिकांश घरों में रहने वाली परिचित आकृति है जो दिन ब दिन मानवीय होती जा रही है। इस तरह के चेहरों, आकृतियों को देखकर, मैं समझता हूँ आप स्वस्थ नही सकते। हॉ उसके दरवाजे पर आ जाने के बाद मुझे लगता रहा कि मेरे शरीर ने किसी बर्फीली सुरंग से गुजरना शुरू कर दिया है।"[45] लड़के की शिकायती टिप्पणियों की ध्वनि को कुछ उपहासपूर्ण, कुछ गंभीर रखकर और उसकी तीव्र भावनाओं के औचित्य का कोई कारण न देकर कहानीकार ने पाठक को वक्ता के संसार में प्रवेश करने से रोक दिया है। कुछ संकेत मॉ के सम्बन्धों के प्रति विवादास्पद से दिखते प्रतीत होते हैं–" आप यह भी देखिए कि समय मानवीय सम्बन्धों के सिलसिले में किस तरह से काम करता है। एक लम्बे समय तक जो स्त्री मेरे लिए केवल माँ थी अब कभी–कभी ही माँ लगती है या मॉ का भ्रम। बल्कि कभी–कभी अब ऐसा हो जाता है, न चाहते हुए भी कि जबडे दब गये हैं और अन्दर से एक–दो शब्द हिचकिचाती हुई खामोशी के साथ निकल जाते हैं, 'यू वूमैन' (ध्वनिः गेट

आउट फ्राम माई लाइफ)। 'यू वूमैन' के उच्चारण में तीखा कटा–फटा ग्राफ भी बनता होगा। फिर भी मुझे इसका अफसोस नहीं होता क्योंकि यह बात अब बहुत ठंडी हो गयी है।"[46] कही–कही उसे मॉ के प्रति एकाधिकार भाव का बोध एवं प्यार झलकता दिखायी देता है और बीमार भाई के लिए उसके झुकाव से क्षुब्ध है–"उसके ऊपर लोगो की कृपा निरन्तर बढती जा रही थी और मैं नही चाहता कि खतरा भयानक रूप से बडा हो जाए। वह अपने मरने तक सब कुछ बचा और सुरक्षित देखते रहने की तमन्ना लिए खडी है, चाहे वह घी का खाली डिब्बा हो, कुर्सी हो या छोटे भाई का शरीर। प्रेम और घृणा की अस्पष्ट भावनाओं की ओर संकेत किया गया है–"यह बात दूसरी है कि बचपन में पिता की बलिष्ठ मुट्ठी में पकड़े और बेंत से बेतहाशा पीटे जाने के वक्त केवल मॉ के आने की ही प्रतीक्षा होती थी। लडका जल्दी ही इस मधुर स्मृति से बाहर निकलकर कहता है–'लेकिन अब कल और आज के तरीके से बिल्कुल सोचा नहीं जा सकता। तालमेल खत्म हो गया है जैसे या एक बिल्कुल बदला हुआ तालमेल बन गया है'"[47]

सम्बन्धों का उद्देश्य अगर सहानुभूति को भाई और मॉ की ओर मोडना है तो भी वक्ता की भावनाओं के ब्योरे ही बहुत से लोगो की संवेदनशीलता को अखरते हैं मॉ की ऑखों को देखकर आखिर कौन कहेगा कि "वे ऑखें इस तरह की थी जैसे खाल को चाकू से चीर दिया गया हो और लहू समाप्त होकर लपलपाती हुई सफेदी में बदल गया हो।"[48] अधिकांश कथाकारों ने अपनी कथा में माता–पिता और सन्तान में से किसी एक पक्ष के साथ सहानुभूति को स्पष्ट रूप से जोड़ा है लेकिन ज्ञानरजन ने अपनी इस सम्बन्ध कहानी में छाये अलगाव–बोध के लिए दोषी कोई को या फिर कोई को भी नहीं दोषी ठहराते हैं लेखक इस ओर संकेत करता है कि समय और परिवर्तन निश्चित रूप से पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन लायेंगे। मधुरेश के अनुसार–" एक तेजी से संक्रमण शील समाज में ज्ञानरंजन मूल्यों के संघर्ष को तीखी विडम्बना के साथ अंकित करते हैं। प्रेम विवाह और दाम्पत्य जैसी संस्थाएँ हों या फिर मॉ और पिता जैसे सम्बन्ध, लेखक को यह पाकर खुशी होती है कि अब कहीं भी लोग फालतू भावुक नहीं है.... चीजें जैसी वे हैं, उन्हें उनके लिए सही और वास्तविक रूप में पकडने की कोशिश ही ज्ञानरंजन की कहानियों का मूल कथ्य है।"[49]

आधुनिक नारी के परिवर्तित जीवन के कारण पारिवारिक विघटन

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय नारी के जीवन में पर्याप्त परिवर्तन आया है पारिवारिक सन्दर्भो की दृष्टि से स्वातन्त्रयोत्तर कहानी में इसका वर्णन मिलता है। एक

ओर जहॉ परिवार का परम्परागत स्वरूप टूटा, वहीं दूसरी ओर स्त्री स्वतन्त्रता के कारण नवयुवक स्त्रियों के स्वरूप में परिवर्तन आया। जो स्त्रियॉ आजीविका के साधन स्वयं जुटाती थीं, उनकी मानसिकता में धीरे–धीरे व्यापक परिवर्तन आया और इस प्रकार उन्होंने जीवन और चिन्तन के स्तर पर पुरुषों के समान ही स्वयं को प्रस्तुत करने की कोशिश की। स्वातन्त्र्योत्तर नारी के इस नये रूप को लेकर नये कहानीकारो ने अनेक कहानियॉ लिखीं, जिसमें पारिवारिक विघटन से लेकर नारी के इस नये अहंपोषित स्वरूप तक का चित्रण किया गया है।

आज नारी स्वतन्त्र जीवन जीना चाहती है। इसलिए वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पदार्पण कर रही है। वह पुरुष की दासी बनकर जीवन नहीं जीना चाहती। वह अपने जीवन का रास्ता स्वयं ही तय करना चाहती है। नारी और पुरुष अपनी–अपनी जगह पूर्णत्व की खोज में प्रयत्नशील हैं, किन्तु खोज की हर दिशा उनके व्यक्तित्व को खण्डित कर रही है। इस खोज में आधुनिक नारी के कई चित्र उभर रहे हैं। परम्परागत वर्जनाओं से आधुनिक नारी जैसे–जैसे मुक्त हो रही है, नवीन समस्याओं का सामना करने लगी है। आर्थिक स्वावलम्बिता और मानसिक–स्वतन्त्रता के कारण वह अपने जीवन को अच्छा या बुरा बनाने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु इस आत्मनिर्भरता का यह मतलब नहीं कि वह बिना पुरुष के सम्पर्क के जीवन व्यतीत कर सकती है। पुरुष के साथ रहना उसकी प्राकृतिक आवश्यकता है, चाहे वह परम्परागत पत्नी–धर्म का निर्वाहन करती हो। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे कई विपरीत स्थितियों का सामना करना पडता है। विचित्र बात यह है कि आधुनिक स्त्री, चाहे वह कितनी ही स्वतंत्र हो अब भी पुरुष संस्कार से आक्रान्त है। इसका एक कारण शायद यह है कि हजारों वर्षो की परम्परा से पुरुष–संस्कार का प्रभाव स्त्री के मानसिक संगठन का हिस्सा बनकर रह गया है। इस मानसिक गुलामी से मुक्ति पाना इतनी जल्दी संभव भी नहीं है। दूसरा कारण यह भी है कि पुरुष अब भी स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का हिमायती होकर भी, स्त्री को पुरुष संस्कार से मुक्त नहीं होने देता।

उषा प्रियम्वदा की 'मछलियॉ', शिव प्रसाद सिंह की 'नन्हों' तथा मन्नू भण्डारी की 'यही सच है' कहानी आधुनिक नारी के अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण की कहानियाँ हैं। अपने पूर्ण व्यक्तित्व की खोज में नारी कई बार ऐसे विविध बिन्दुओं पर आकर रुक जाती है, जहॉ उसके लिए यह फैसला करना कठिन हो जाता कि उसका मार्ग किस दिशा को जाता है। आधुनिक नारी अब उस पारम्परिक पत्नी–बोध से मुक्त हो गई है जिसमे केवल पतिव्रता धर्म ही उसके जीवन का प्रमुख सार था। अब वह पति और प्रेमी

दोनों में वैसे कोई भेद नही करती। पति के होते हुए किसी पर–पुरुष से प्रेम करना उसके लिए पतिव्रता–भंग नहीं है। यौन–मुक्ति जहॉ जीवन की आवश्यकता है वहॉ एक ही पुरुष के साथ सारी जिन्दगी बिताने में क्या स्वार्थ है, किन्तु ऐसी स्थितियों में आधुनिक नारी के मन मे द्वन्द्व चलता रहता है और वह भीतर–भीतर टूटती रहती है।

मछलियाँ

उषा प्रियम्वदा की कहानी 'मछलियॉ' परम्परावद्ध भारतीय लड़की विजी पर केन्द्रित है। विजी अपने मंगेतर के साथ रहने और विवाह करने की इच्छा से भारत से अमेरिका आती है लेकिन पाती है कि उसमें अब मंगेतर की कोई दिलचस्पी नहीं है। उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया अपनी बंगाली प्रतिद्वन्द्विनी मुकी से प्रतिशोध लेने की है। इसी ने तो अपनी आधुनिकता से लड़के को जीत लिया है। कहानी में मनीष लडके या मुकी के लिए कोई सहानुभूति नहीं जगाई गयी है। मूल्यबोध की पृष्ठभूमि एक परम्परागत ढॉचे का अनुसरण करती है। भली लडकी की तरह पहले विजी इस आशा और प्रतीक्षा में बनी रहती है कि लड़के का हृदय–परिवर्तन होगा। लड़के (मनीष) में कोई व्यक्तित्व गत आकर्षण नहीं है लेकिन परम्पराओं से ग्रस्त विजी सगाई को विवाह जैसा अनुबन्ध ही मानती है। मंगेतर के कैनाडा चले जाने और उसे पुन पाने की सभी सम्भावनाओं के नष्ट हो जाने के बाद वह नटराजन की तरफ ध्यान देना शुरू करती है जिसने उसके आगमन के समय ही उससे दोस्ती कर ली थी। मगर यहाँ भी बहुत देर हो चुकी है। नटराजन मुकी के साथ विवाह की योजना बना रहा है। नटराजन का मुकी के साथ कोई शारीरिक सम्पर्क नहीं रहा है; वह उसके प्रति आकर्षण का कारण स्वयं समझ नहीं पाती है। क्योंकि परम्परागत भारतीय वातावरण से बाहर निकलकर उन मनोवैज्ञानिक तत्वों के विश्लेषण की योग्यता विजी में नहीं है। जो ऐसे प्रेम–सम्बन्धों में सक्रिय रहते हैं। दोनों पुरुषों को खो देने का दोष मुकी पर डालते हुए वह उससे यह कहकर बदला लेती है कि वह नटराजन के साथ प्रेम व्यापार चलाए हुए है। अपनी सारी आधुनिकता के बावजूद मुकी भी स्थिति के विश्लेषण व परीक्षण के लिए तैयार नहीं है। केवल मुकी के कथन के आधार पर ही वह नटराजन के साथ निश्चित हुए विवाह को झट तोड़ देती है।

'मछलियां' में भारतीय और अमरीकी संस्कारों की टकराहट उजागर होती है। विजी जो भारतीय परिवेश में पली एक लडकी है, अमरीकी वातावरण में अपने–आपको मिसफिट पाती है इसके माध्यम से कथाकार ने प्रेम–सम्बन्धों के खोखलेपन को व्यक्त किया है। मछलियां में चार व्यक्तियों को आधार बनाया है–विजी,

मनीष, नटराजन और मुकी। अनमे आपसी सम्बन्ध सुलझते कम हैं, उलझते अधिक हैं और उलझन एक तरह की गुंजलक बनती गई है। इन चार व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों में तीन तिकोन बनते हैं–विजी–मनीष–नटराजन, विजी–मनीष–मुकी और मुकी–नटराजन–विजी। इन तिकोनो, हर व्यक्ति दो के बीच तीसरा बनकर आता है और तीसरा व्यक्ति सम्बन्धों में पेंच डाल देता है। 'मछलियां' कहानी मे विजी हर तिकोन मे है, लेकिन तीसरे तिकोन में वह तीसरा बिन्दु बनकर रह जाती है। उसकी वफादारी कहानी के अन्त तक मनीष के लिए बनी रहती है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार–"आधुनिक पारिवारिक विघटन की समस्या मछलियॉ में ऑका गया है। इसलिए इसमें 'वापसी' कहानी की सरलता नहीं है, सम्बन्धों की जटिलता है। इसे पॉच तरह के सम्बन्धों में आंका जा सकता है–विजी–मनीश, विजी–नटराजन, मुकी–नटराजन, मनीष–मुकी और विजी–मुकी इनके सम्बन्धों में तनाव है जो आधुनिकता के बोध को उजागर करता है।"[50] हर सम्बन्ध पूरा न होकर अपनी जगह अधूरा और कटा हुआ है। इसके बावजूद प्रेम की सबसे अधिक मधुरता विजी और नटराजन के सम्बन्धों में है और सबसे अधिक कटुता विजी और मुकी के तनाव में है–"अब मुकी की गर्दन पकडकर उसे भींचने की इच्छा होती है, मन होता है कि उसकी काफी में जहर पिला दे, उसके एपार्टमेण्ट में आग लगा दें और सिल्क की तहों में लेटी मुकी लपटों में घिर जाये और उसकी चीखें और चटखती लकडियों में खो जायें। .... विजी चाहती है कि कुछ ऐसा कर सके जिससे मुकी तड़पकर रह जाये, जिससे बहुत–बहुत दिनों तक उसके मुख पर हॅसी न आये, और वह ऊँचा, दर्प भरा सिर नीचे झुक जाये।"[51]

डॉ0 गार्डन चार्ल्स एंडरमल के अनुसार–"पाठक की सहानुभूति शायद विजी के साथ रहती है क्योंकि वह परम्परागत पृष्ठभूमि से आयी है और अपने लिए चुने गये पुरुष के प्रति वफादार रहने की पूरी कोशिश करती है। परम्परागत भारतीय वातावरण से बाहर निकलकर उन मनोवैज्ञानिक तत्वों के विश्लेषण की योग्यता उसमें नहीं है जो ऐसे प्रेमसम्बन्धों में सक्रिय रहते हैं"[52] विजी पर भारतीय संस्कार हावी हैं और वह अपने प्रेम में दृढ़ है। उसे मुकी का यह कहना कि मनीष के लौटने पर इस बात को सामने करेंगे कि उनकी भावी पत्नी को उनके एक मित्र ने हडप लिया है, विजी को बुरा लगता है। मनीष के साथ सम्बन्ध टूट जाने पर भी विजी नटराजन को एक मित्र की तरह समझाती है। वह प्रेमी या पति उनकी दृष्टि में कभी हो ही नहीं सकता। डॉ इन्द्रनाथ मदान के अनुसार–"इसका अंत भी खुल जाने की गवाही देता है जब मुकी नटराजन के घोषित विवाह पर प्रश्न चिन्ह लग जाता है। इनके टूटते सम्बन्ध में

आधुनिकता की संवेदना है।"[53] मछलियां कहानी में एक नया मोड आता है। विजी और मनीष के बीच नटराजन नहीं आता, मुकी आ जाती है और मुकी के निकट आकर मनीष यह अनुभव करने लगता है कि विजी के लिए उसके मन में अब कुछ नहीं रह गया है। वह सीधी और सरल लडकी है और इसलिए आधुनिक नहीं है। उसमे मनीष को बॉधने के लिए न तो मानसिक गहराइयॉ हैं और न ही वह उसे सन्तोष दे सकती है। उसे तो ऐसी पत्नी चाहिए जो मुकी जैसी कलात्मक और यौगिक हो। मुकी की अपनी स्थिति स्पष्ट है कि वह यदि मनीष को विजी से बेहतर लगती है तो इसमें उसका दोष नहीं है और न ही यह उसका अपराध है विजी के लिए यह स्थिति असह्य है। विजी इन दोनों के प्रेम–सम्बन्ध से परिचित होकर शोर मचाती है–"आज भी नारियां ईर्ष्या से जल रही हैं, वे किसी औरत के बनते कामों को फूटी ऑखों नहीं देख सकती हैं।"[54] एक नया मोड मनीष–मुकी के टूटते सम्बन्ध की ओर भी उठता है। मनीश को मुकी भी नहीं बॉध सकी। वह यह अनुभव करने लगती है कि मनीष ने विजी से छुटकारा पाने के लिए उसका नाम बीच में घसीट लिया है। उधर विजी इस परिणाम पर पहुँचती है कि मनीष की जगह नटराजन तो ले नहीं सकता, लेकिन वह नटराजन के साथ नयी जिन्दगी घड सकती है। इस बीच नटराजन और मुकी अपने गठबंधन का निश्चय कर चुके हैं। नटराजन इस परिणाम पर इसलिए पहुँचता है कि मनीष के लिए विजी के मन में उतना ही प्यार है जितना की पहले था। मुकी के साथ अपना विवाह सम्पन्न कर नटराजन अनुभव करता है कि विजी जितनी मन में अपनी है, वह मुकी कभी नहीं हो सकती। नटराजन की इस कमजोरी का लाभ उठाते हुए विजी, मुकी से बदला लेने का और उसे नीचा दिखाने का निश्चय करती है। वह नटराजन को लिफ्ट देती है और भारत लौटने के लिए उससे एक हजार डॉलर मांग लेती है। वह अमरीका से विदा लेने से पहले मुकी को यह भी बता देती है कि नटराजन उसे बराबर मिलता रहा है और यह पैसा उसे इसलिए दिया गया है कि ताकि वह डाक्टर के पास भी जा सके और भारत भी लौट सके। इस तरह उषा प्रियम्वदा ने कहानी में इनके आपसी सम्बन्धों के विघटन के बीच एक और पेंच डाल दिया है। कहानी का अन्त एक संकेत से किया गया है कि विजी, एक छोटी मछली भी पलटकर मुकी पर, बडी मछली पर बदला लेने के लिए भरपूर वार करती है जिससे मुकी और नटराजन का गठबन्धन एक बार तो खटाई में पड ही जाता है।

निष्कर्ष रूप में कान्ता (अरोड़ा) मेंहदीदत्ता ने इस कहानी का विश्लेषण इस प्रकार किया है–"मछलियां एक जटिल मानसिकता की कहानी है। इस जटिलता

की स्थिति को पॉच विविध स्तरों पर अंकित किया गया है—विजी—मनीष,विजी—नटराजन, मुकी—नटराजन, मुकी—मनीष, मुकी—विजी इनके पारस्परिक सम्बन्धों मे तनाव को ही कहानी का आधार बनाया गया है। कहानी में अधिकांशतः भावनाओं के स्तर पर उलझने हैं, केवल अंत में मोहभंग की अनुभूति मुकी और नटराजन के सम्बन्ध विच्छेद के साथ धनी हो पायी है। कहानी मे मछलियों का संकेत कहानी के भीतर से उभरकर इसके अनेक स्तरों को अन्वित के एक ही धागे में बॉधे रख सका है। यह इसलिए भी संभव हो सका है कि कहानी के मूल स्वर में व्यक्ति की मानसिक विरूपताएँ, उच्चाकांक्षाएँ, अभावपूर्ति के लिए प्रयोग में लाया जाने वाला नारी सुलभ छल गहराता गया है, हँलाकि इसे वर्गीय मानसिकता तक खींच लाने का प्रयास इस कहानी को एक विशिष्ट नारी की मानसिकता की कहानी बना देता है।''[55]

नन्हों

नन्हों शिव प्रसाद सिंह की एक सशक्त कहानी है। जिसमें भारतीय नारी के अनन्य प्रेम का चित्रण है। 'नन्हों' माँ बाप द्वारा निश्चित किये अपने भाग्य को भाग्य मान लेती है। नन्हों के माता—पिता एक विश्वासघात के चक्कर में फॅसकर विकलांग व्यक्ति से उसकी शादी कर देते है, कुछ दिनों बाद नन्हों का पति स्वर्ग सिधार जाता है, फलस्वरूप देवर रामसुभग उसकी देखरेख में रह जाता है, मूलरूप से नन्हों के माता—पिता ने रामसुभग से ही शादी का प्रस्ताव रखा था परन्तु बाद में लडका बदलकर नन्हों की शादी मिसरीलाल से हो गयी थी। अतः ममेरा भाई होने के कारण नन्हों उसे देवर ही मानती थी, एक सहज आकर्षण में रामसुभग उसे (नन्हों) प्यार करना चाहता है परन्तु नन्हों विधवा से सधवा नहीं होना चाहती है यह उसके चरित्र की विशेषता है जो पुरानी मान्यताओं की ओर संकेत करता है।

शिव प्रसाद सिंह की नन्हों कहानी में पारिवारिक विघटन पति—पत्नी के बीच एक तीसरे व्यक्ति के आ जाने से होता है। यह एक सशक्त कहानी है जिसमें भारतीय नारी के अनन्य प्रेम का चित्रण है। नन्हों माँ बाप द्वारा निश्चित किये गये अपने भाग्य को भाग्य मान लेती है तथा शादी के कुछ ही दिनों बाद जीवन पर्यन्त विधवा हो जाती है। देवर रामसुभग के प्रयत्न करने पर भी वह उससे यही कहती है कि वह अपने वैधत्य को छोड़कर सधवा नहीं होना चाहती। यह उसके चरित्र की विशेषता है। नन्हों एक भारतीय संस्कारों में पली बढी स्त्री है। सप्तशती को नन्हों दिल से मानती है और जो उसके साथ घटित होता है उसे भूलना चाहती है परन्तु रामसुभग जो देवर है भाभी को नहीं भूल पाता है उन्मादवश अपनी भौजी की बाँह पकड लेता है। नन्हों कहती

है–"सरम नहीं आती तुम्हें...! नन्हों सापिन की तरह फुफकारती हुई बोली, 'बडे मर्द थे तो सबके सामने बॉह पकडी होती, तब तो स्वांग किया था, दूसरे के एवज बने थे, सूरत दिखाकर ठगहारी की थी, अब तुम्हें दूसरे की बहू का हाथ पकडते सरम नहीं आती।"[56] रामसुभग के अन्तरमन में दबी वासना, नन्हों के प्रति आकर्षित करती रहती है परन्तु इस अपमान ने उसे घर छोडने पर मजबूर कर दिया। डॉ0 मिथिलेश रोहतगी के अनुसार–'अपनी कर्तव्य भावना को विजयी बनाकर आदर्श विधवा का जीवन जीने का प्रयास करती है पर राम सुभगसिंह को मन से नहीं निकाल पाती। नन्हों की विशेषता है कि जब वह चूड़ियॉ पहनना नहीं जानती थी, जबरदस्ती पहना दी गई। अब जब वह उतारना नहीं चाहती थी, उतार दी गई हैं।"[57] शादी ब्याह दो दिलों का संगम होता है और वह औरत जो अपनी शादी पर न सोचे और एक ऐसी औरत जिसकी शादी उसकी जिन्दगी में दस्तावेज बन गयी हो जिन्दगी सिर्फ नन्हों की गिरो ही नहीं बनी बल्कि उसने तो नन्हों के समूचे जीवन को रेत–भरी परती की तरह वीरान भी कर दिया। पति मिसरी लाल लंगड़ा उस पर अकाल मृत्यु ने अंदर से उसे तोड़कर रख दिया। अब देखभाल के लिए रामसुभग ही बचा था। परन्तु पिछली घटना ने उसे नन्हों के आगे आने में साहस से पराजय करनी पडी, उसे इतना भी साहस नहीं हुआ कि उसे सांत्वना भी दे सके–"कॉच की चूड़ियॉ भी किस्मत का अजीब खेल खेला करती हैं। नन्हों जब इन्हें पहनना नहीं चाहती थी तब तो ये जबरदस्ती उसके हाथ में पहनायी गयीं, और अब जब वह इन्हें उतारना नहीं चाहती, तो लोगों ने जबरदस्ती हाथों से उतरवा दीं।"[58] अपनी गलतियों के प्रति जब रामसुभग भौजी से माफी मांगता है तो नन्हों कहती है–"कसूर कैसा लाला तुम जिसे कसूर कहते हो वह मेरे भाग्य का फल था। तुम समझते हो कि बाबूजी को कुछ नहीं मालूम था। मालूम तो उन्हें तभी हो गया जब डोला भेजने की बात हुई। बिगड़ने वाली बात को सभी पहले से जान लेते हैं, जिनके पास बल है, उसे नहीं होने देते, जो कमजोर हैं उसे धोखा देकर छिपाते हैं।"[59] कलकत्ता से आया रामसुभग को अपने प्रति भौजी के दृष्टिकोण में परिवर्तन नजर आता है उसके मन में एक नया उत्साह पैदा होता है और वह सोचता है कि –"क्या भाग्य की गणना फिर सही हो जायेगी? पर नन्हों से कुछ कह पाना उसके लिए सदा ही कठिन रहा है। वह आज भी पिछली घटनाओं को भूला नहीं था, पर नन्हों भी तो ऐसी पहले न थी।"[60] मधुरेश के अनुसार–"इसमें स्त्री प्रेम को अवरुद्ध औरकुंठित करने वाली सामाजिक संरचना को विश्लेषित करने की कोशिश प्रमुख दिखाई देती है। नन्हों सामाजिक–विधि निषेधों को, उसमें निहित पीडा और अवसाद को, गहरी संवेदनशीलता

से उभारती है। आवेग और अवरोध का तनाव कहानी में बहुत जीवन्त और विश्वसनीय रूप में अंकित हुआ है। मुँह दिखाई में दिया गया रुमाल रामसुभग को लौटा देने से ही समाप्त नहीं समझा जा सकता।"[61] एक जवान स्त्री का पति यदि स्वर्ग सिधार गया हो और वह असमय विधवा हो, गयी हो साथ ही सामने एक जवान खूबसूरत नौजवान जिसे वह स्त्री अपना पहला प्यार मानती हो और समय की क्रूर विडम्बना उसे वह सब करने से रोके जो उसे प्रकृति की तरफ से सहज रूप में प्राप्त हुआ है। नन्हों का यह दुःख उसका दुःखी देवर रामसुभग समझता है परन्तु अब नन्हों कहती है कि "लाला मैं तो दुःख की साझीदार हूँ, सुख कहाॅ है अपने पास, जो दूसरों को दूँ। उदासी में पली, उदासी में ही बढ़ी। जन्मी तो माॅ मर गयी, बडी हुई तो बाप की बोझ बनी। मैं भला दूसरे की उदासी क्या दूर कर सकूॅगी।"[62] नन्हों की यह उदासी समय की क्रूर नियति ने पैदा की है कुछ उसके संस्कारों के बॅधे होने के कारण जो न चाहते हुए भी उसे रामसुभग से सम्बन्ध स्थापित करने से रोकती है। हॉलाकि रामसुभग यह सब चाहता है परन्तु पुरानी घटनायें उसे ऐसा नहीं करने देती हैं, अन्त में रामसुभग ने भौजी नन्हों के घर से अपने घर जाने की आज्ञा मॉगी तो–"नन्हों ने आंचल से हाथ निकाला और रामसुभग की ओर हाथ बढाकर कहा, यह तुम्हारा रुमाल है लाला।"[63] एक बार तो ऐसा लगा जैसे नन्हों ने रुमाल देकर रामसुभग से अपने सम्बन्धों को बिल्कुल समाप्त कर लिया और रामसुभग को मानों काठ ही बना दिया हो पर नन्हों के स्पष्टीकरण ने उसे भविष्य के प्रति सचेत कर दिया। नन्हों कहती है–"बाबू ने तुम्हारा मुँह देखकर मुझे अनदेखा सुहाग सौंपा था, तुम्हारी माँ ने उसी के अमर रहने के लिए रूपये दिये थे, आशीर्वाद में। बड़ों ने जो दिया उसे मैंने माथे पर ले लिया। मैं कमजोर थी बाबू, भाग्य से हार गयी। पर आज तो मैं अपने पैरों पर खडी हूॅ, आज तुम मुझे हारने मत दो। तुम्हारा रुमाल मेरे पॉव बॉध देता है लाला, इसे लौटा रही हूॅ, बुरा न मानना।..... रामसुभग ने धीरे से रुमाल ले लिया। नन्हों उसका जाना भी न देख सकी। आँखें जल में तैर रहीं थी। दीये की लौ जटामांसी के फूल की तरह कई फांको में बॅट गयी। नन्हों ने किवाड तो बन्द कर लिया, पर सॉकल न चढ़ा सकी।"[64] यह सामान्य अहं नन्हों को रामसुभग की ओर आकर्षित होने से रोकता है और वह अंदर ही अंदर टूटती विखरती जाती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह इड और इगो का संघर्ष है–" नारी जन्य स्वाभाविक इच्छा उसे (नन्हों) रामसुभग की ओर आकृष्ट करती है, पर पतिव्रत धर्म और सांसारिक मर्यादा और रिश्ते का यथार्थ उसके पैर रोक देते हैं।

इसलिए किवाड बन्द करके भी वह कुण्डी नहीं चढा पाती। इड और इगो यही संघर्ष नन्हों का कथ्य है।"[65]

यही सच है

मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' की नायिका दीपा एक पढी–लिखी लडकी है। किशोरावस्था में वह निशीथ के सम्पर्क में आती है और उससे प्रेम करने लगती है। वह रात–दिन उसके प्रेम में खोई रहती है। कुछ समय बाद निशीथ कहीं बाहर चला जाता है और फिर लौटकर नहीं आता। दीपा धीरे–धीरे उसे भूलती चली जाती है। बाद में संजय उसके जीवन में आता है और दीपा उसके प्रति आकर्षित हो उससे प्रेम करने लगती है। संजय के प्रति उसका यह प्रेम उसके हृदय से निशीथ के प्रति प्रेम को पूरी तरह से भुला देता है। अब वह संजय के प्रेम में ही पूरी तरह से डूबी रहती है, इस समय निशीथ की उसे याद तक नहीं आती। उसे लगता है कि निशीथ से उसका प्यार करने लगना उसकी किशोरावस्था की मूर्खता मात्र थी। वह सोचती है कि किशोरवस्था के प्रेम में केवल वेग होता है, गहराई नहीं रहती। इसी कारण वह जिस तीव्र गति से उठता और पनपता है, उतनी ही तेजी से शीघ्र समाप्त भी हो जाता है और तब अपने उस प्रेम और प्रेमास्पद के लिए दीया के नन में एक गहरी उदासीनता और विरक्ति भर जाती है परन्तु जब निशीथ उस शहर को छोडकर चला गया था, तब दीपा स्वयं को कितनी अकेली और असहाय महसूस करने लगी थी। परन्तु अब संजय के प्यार को पाकर तो उसे ऐसा लगता ही नहीं कि उसने जीवन में निशीथ से कभी प्यार भी किया था उस पहले प्यार को उसकी सम्पूर्णता में कभी जिया भी था। अब तो संजय ही उसका सर्वस्व बन गया है, वह अहर्निश उसी के प्रेम में डूबी रहती है।

कहानी 'यही सच है' पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन की दृष्टि से एक नया आयाम उत्पन्न करती है। यह एक घोर यथार्थवादी प्रेम–कहानी है। इसमें प्रेम सम्बन्धों के पुराने आदर्श परक रूप की पूर्ण अवहेलना करते हुए नर–नारी के पारस्परिक प्रेम सम्बन्धों को एक तर्क पूर्ण यथार्थवादी दृष्टि से समझने–समझााने का प्रयत्न किया गया है। दीपा के जीवन में दो प्रेमी एक के बाद दूसरे क्रम में आते हैं, वह परिस्थिति वश कभी संजय की ओर झुकती है और कभी निशीथ की ओर। वह जिस स्थिति में होती है और उस स्थिति में उसका जो प्रेमी उसके निकट सम्पर्क में आ जाता है, वह उसी के प्रति अपने प्रेम को सच्चा समझने लगती है। संजय के प्यार ने उसके खालीपन को भरा और उसे महसूस ही नहीं हुआ कि उसने कभी निशीथ जैसे प्राणी से प्रेम किया था। एक बार नौकरी के 'इन्टरव्यू' के सिलसिले में दीपा कलकत्ता जाती है।

वहाँ रेस्तरां में अचानक निशीथ से उसकी मुलाकात हो जाती है पहले तो दीपा केवल औपचारिकता निभाती है परन्तु निशीथ की सहायता ने दीपा को एक बार उसकी अतीत की स्मृतियों को जगा दिया और वह निशीथ के प्रति सहानुभूति और आत्मीयता के साथ पेश आने लगती है। निशीथ के उस अव्यवस्थित और उखडे हुए से जीवन को देख दीपा यह महसूस करने लगती है कि उसकी इस दशा के लिए वह स्वयं जिम्मेदार है। दीपा सोचती है कि उसके विरह मे ही निशीथ ने अपनी यह हालत कर रखी है। निशीथ का अविवाहित रहना, साथ ही मुलाकातों में मौन रहने की प्रवृत्ति दीपा को शंकित कर देता है। वह सोचती है–"मैं जानती हूँ, तुम कुछ नहीं कहोगे। सदा के मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिए मैं तुम्हारी तरफ देखती रहती हूँ। पर तुम्हारी नजर तो लेक के पानी पर जमी हुई है....शानित, मौन। .... और आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जाएँ, पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम चाहे न कहो पर मैं जानती हूँ... तुम भी मुझे अपना ही समझते हो। तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है।"[66]

मन्नू भण्डारी प्रेम की विषम परिस्थितियों में नारी के निर्णायक क्षण को द्वन्द्व के रूप में चित्रित करती है। उनकी नारी जटिल परिस्थिति में अनिश्चय के मध्य खडी हुई है। व्यापक सामाजिक सन्दर्भों में उनका यह व्यष्टि–चिंतन संवेदना के आधार पर किया गया है। 'यही सच है' की दीपा इसी प्रकार की पात्र है वह संजय और निशीथ दोनों में से किसे चुने, निर्णय नहीं कर पाती। कलकत्ता प्रवास में निशीथ के सम्पर्क ने दीपा को यह सोचने पर मजबूर किया कि व्यक्ति का पहला प्यार ही सच होता है फलस्वरूप वह मन ही मन निशीथ को प्यार करने लगती है। संजय के प्रति उसका दूसरा प्यार तो, निशीथ के चले जाने पर, उसके उस प्यार के अभाव की पूर्ति मात्र था। वह सचमुच प्यार नहीं था। वह तो उसके माध्यम से निशीथ को भूलने का प्रयत्न कर रही थी। वह अपने आप में एक भुलावा भर था। उन क्षणों में वह सोचती है कि उस समय संजय ने उसके प्रति जो सहानुभूति और सम्वेदना प्रदर्शित की थी, उसी के आभार स्वरूप वह संजय के प्रति आकर्षित हो उठी थी। यह सोचती हुई वह अपने उस प्रथम प्रणय के सुखद सपनों में खो जाती है। उसका मन करता है कि वह निशीथ को यह बताकर कि संजय के साथ उसकी शादी होने जा रही है, उसके मन में कचोट उत्पन्न कर दे और इसी सन्दर्भ में वह सोचती है कि क्या जो निशीथ में उसे सहज मिला और संजय में खोजने पर भी नहीं मिल सका और यह सब सोचते हुए उसे लगता है कि निशीथ के प्रति उसका प्यार ही सच है। डॉ० इन्द्रनाथ मदान के

कथनानुसार–"मन्नू भण्डारी ने प्रेम को आधार बनाकर भी कहानियाँ लिखी हैं। इस दृष्टि से 'यही सच है' उनकी सफल कहानी है। इस कहानी में प्रेम तिकोन को एक नई दृष्टि से उठाया गया है।"[67] दीपा संजय एवं निशीथ के सम्पर्कों को समय के अनुसार पूरा तवज्जो देती है। क्योंकि अपने कलकत्ता प्रवास में दीपा ने जितने दिन गुजारे वह निशीथ के रोमान्टिक प्रेम में डूबी रही और मन मे उसी प्यार की गहरी छाप लिए कानपुर लौट आती है। कानपुर लौटकर भी वह बराबर अपने पहले प्यार की गहरी अनुभूति में डूबी रहती है, बराबर निशीथ के प्रेमपत्र की प्रतीक्षा करती रहती है। अब उसका मन संजय से भी मिलने को नहीं करता। उसे कलकत्ता से लौटे बहुत दिन बीत गये हैं, परन्तु निशीथ का एक भी पत्र नहीं आता। काफी लम्बी प्रतीक्षा के उपरान्त वहाँ से समाचार आता भी है तो उसकी कलकत्ता रहने वाली सहेली द्वारा भेजे गये तार के माध्यम से। उसमें इरा उसे उसकी नियुक्ति की सूचना और बधाई देती है। उस तार को पढकर दीपा को यह धक्का लगता है कि उसे यह सूचना निशीथ ने स्वयं क्यों नहीं दी, यह उसी की भाग–दौड का फल था। निशीथ द्वारा की गई अपनी इस उपेक्षा से दीपा के मन को बडी ठेस पहुँचती है और वह डगमगाने लगती है, यह सोचकर कि क्या निशीथ उससे प्यार नही करता? अपनी उसी अस्थिर मन. स्थिति में जब वह अपने कमरे में सजे डरे परदे, बुकरैक, फूलदान टेबल आदि को देखती है तो उसे संजय की याद हो आती है, क्योंकि ये सारी चीजें संजय ने ही उसे उपहार में दी थीं। पर तभी उसके मन में सूनापन भर आता है और उस सूनेपन पर निशीथ की याद उभर आती हैं।

निशीथ का कलकत्ते से औपचारिक पत्र दीपा को आहत कर देता है वह स्वयं को बिखरा–बिखरा सा महसूस करती है, उसका मन अवसाद से भर जाता है। निशीथ के प्रति उसकी सारी कोमल भावनाएँ चूर–चूर हो जाती हैं। तभी एक दिन संजय अचानक उसके पास पहुँच जाता है और उसे देखकर भाव–विह्वल हो उठता है, वह रजनीगन्धा के ढेर सारे फूल लिए मुस्कराता उसके सामने आ खडा होता है। दीपा, संज्ञाहीन सी क्षण भर उसे देखती रह जाती है, जैसे पहचानने का प्रयत्न कर रही हो। फिर, जैसे उसकी खोयी हुई चेतना लौट आई हो, वह विक्षिप्त सी दौड़कर उससे लिपट जाती है। भाव विह्लता के उन क्षणों में जैसे उसके अन्तर में छिपा सत्य निकला हो, वह संजय से आतुर सी होकर कहती है–"तुम कहाँ चले गए थे संजय।"[68] वह संजय की बाहों में समा जाती है। और उन्हीं क्षणों में दीपा के सामने एक और सत्य उभरता है कि यही सच है.....यह स्पर्श, यह सुख, यही क्षण ही सत्य है; वह जो बीत गया–सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार–"इस कहानी में आत्मीयता के

क्षण ही सच हैं, भले ही वह अनकहे रह जाये। कहानी में उसी सच की अभिव्यक्ति है।''[69] कला जगत में एक सिद्धान्त मान्य है–क्षणवाद। जीवन में हमें सुख के प्राप्ति के जो क्षण मिल जायें, वे ही अपने होते है। हमें उनकी अवहेलना कर अप्राप्य की मृग मरीचिका में नहीं भटकना चाहिए। दीपा मानों इसी क्षणवाद में आस्था रखने वाली एक सामान्य चरित्र वाली लडकी है। कुछ लडकियॉ ऐसी होती हैं कि बहुत जल्दी ही दूसरों से प्रभावित हो उठती हैं, उनके प्रति जो भी व्यक्ति सहानुभूति और सम्वेदना दिखाता है, वे उसी से प्रभावित हो प्रेम करने लगती हैं। उनके लिए प्रेम की एकनिष्ठता, शाश्वतता आदि अपरिचित से शब्द होते हैं। ऐसी लड़कियॉ अत्यधिक भावुक होती हैं और भावुक व्यक्ति अस्थिर स्वभाव का होता है। दीपा ऐसी ही भावुक लड़की है। ऐसी लड़कियॉ जब किसी से प्यार करने लगती हैं, तो उसी प्यार को सच समझ रात–दिन अपने प्रेमी के ध्यान में ही डूबी रहतीं हैं। प्रेम करना उनका स्वभाव सा बन जाता है। वस्तुतः इस क्षण को कथा साहित्य में एक कमजोर लडकी की कहानी कहा जा सकता है और समाज में ऐसी कमजोर लड़कियों की कोई कमी नहीं है। इसी धरातल पर आकर यह कहानी विशुद्ध यथार्थवादी बन जाती है। दीपा परिस्थितियों के विरुद्ध संघर्ष नहीं कर पाती। नई परिस्थितियॉ उसे प्रभावित कर अपने अनुसार मोड लेती हैं। उसका प्यार परम्परावादी रोमांटिक प्यार के समान न तो आदर्शवादी ही है और न विरहवादी। विरह उसे सताता अवश्य है, परन्तु अधिक समय तक नहीं। उसका सरल और भोला भावुक मन वर्तमान को ही सत्य समझ अतीत से अपना पीछा छुड़ा लेने में किसी भी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करता।

दीपा वह नारी है जो कार्यशील बनकर आत्मनिर्भर बनती है जीवन को भटकाने वाले भावुक क्षणों में वह अधिक देर न बहकर ठोस वर्तमान में लौट आती है जीने के लिए। दीपा अब तक की प्रचलित प्यार की रूमानी, आदर्शवादी तसवीर को तोड़ती है। प्यार की दो स्थितियों को वह अपने अनुभूति के क्षणों में सम्पूर्णता से स्वीकार करती है और उनके आनुषंगिक अनुभवों को भोगती है। स्थिति के गुजर जाने के बाद वह व्यर्थ ही उसके पीछे छूटे हुए अवसाद से देर तक नहीं चिपकी रहती, उससे ऊबकर दूसरे विकल्प को अपनाने की भी क्षमता रखती है। इस अर्थ में अपनी समकालीन अन्य कहानी–नायिकाओं से वह भिन्न है। परिन्दे की लतिका से भी वह अलग है विगत से चिपके रहने की लतिका वाली रोमांटिक जिद दीपा में नहीं है। यो वह आधुनिक नहीं है। एक तरफ वह हिन्दुस्तानी लड़की की बहुत सारी कमजोरियॉ लिए हुए है। पर, प्यार की तरफ उसकी अप्रोच जरूर आधुनिक है। दो प्यार के बीच

उसकी उडेलती मनः स्थिति किसी अस्थिर मन की द्योतक नहीं, भाव प्रवण लडकी के व्यक्तित्व की एक अनिवार्य स्थिति मात्र है.... ऐसे क्षण शायद सभी संवेदनशील व्यक्तियों के जीवन में आते हैं, जब उन्हें दोनों ध्रुवों का सत्य बराबर उचित लगने लगता है।

इस तरह 'यही सच है कहानी' बीसवीं सदी की प्रेमिका के एक नये बदलते रूप रंग की तस्वीर प्रस्तुत करती है। आज प्रेमिका की भूमिका ही नहीं बदली है, उसे अर्थपूर्ण बनाने वाले सम्बन्धित मूल्य भी क्रमशः बदलते चले गये हैं। भावुक, रोमांटिक, आदर्शवादी, अमूर्त प्रेम–मूल्य की जगह यथार्थवादी भौतिक आत्मीय प्रेम ने ले ली है जिसमें गहराई भी है और सम्प्रेषण भी है। पहले के भावात्मक प्रेम की तरह वह मौन नहीं है। दीपा का यही सच है का प्यार इसी परिवर्तित प्रेम मूल्य का अवश्यम्भावी बोध कराता है।

बदलते स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के कारण पारिवारिक विघटन

देश की आजादी के बाद स्त्री–पुरुष सम्बन्धों में एक विशेष परिवर्तन नजर आता है। यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन है जिसे स्वातन्त्रयोत्तर सभी कहानीकारों ने अपनी कहानियों में रूपायित करने का प्रयत्न किया है। तमाम दुनिया की भाषा कुल मिलाकर दो स्त्री–पुरुषों की बातचीत है जो उनके सम्बन्धों के मुताबिक बदलती रहती है। राजेन्द्र यादव, निर्मल वर्मा, मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, श्री कान्त वर्मा आदि अनेक समकालीन कहानीकारों ने स्त्रीरुपुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों में होने वाले इसी परिवर्तन का चित्रण किया है। चाहे वह सम्बन्ध पति–पत्नी का हो या प्रेमी–प्रेमिका का, उनका जो स्वरूप आज की कहानियों में देखने में आता है वह पूर्ववर्ती कहानियों में चित्रित स्त्री–पुरुष के सम्बन्धों से नितान्त भिन्न है।

आज स्त्री और पुरुष दोनों स्वतन्त्र व्यक्तित्व चाहते हैं। यही कारण है कि आज विवाह जैसे परम्परागत बन्धन ढीले पड़ गये हैं। एक जमाना था, जब किसी पिता की पुत्री किसी पिता के पुत्र के साथ एक झटके के साथ जुड जाती थी। अग्नि और ब्राह्मणों की साक्ष्यों में, जाति के कुछ सदस्यों की उपस्थिति में सात फेरे खाकर पुरुष के साथ जन्म–जन्मान्तर के लिए हो जाती थी। विवाह एक आकस्मिक घटना थी। वह एक एक्सिडेन्ट मात्र था। पति अच्छा हो या बुरा, जुल्मी हो या दयालु, शराबी हो या जुआरी, पत्नी के साथ ईमानदार हो या न हो, स्त्री की जीवन–चर्या में वैसे कोई फर्क नहीं पडता था। भाग्य और भगवान पर भरोसा रखकर पति सेवा में सारी जिन्दगी बिता देने के अभिशाप को झेलना उसकी मजबूरी थी। वह विवाह से पहले पिता की पुत्री,

विवाह के बाद पति की पत्नी और उसके बाद पुत्रों की माँ इन रूपों में जिन्दगी भर गुलाम बनकर रहती थी। पर आधुनिक नारी कानूनी रूप से और उससे ज्यादा आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है। उसकी आर्थिक स्वावलम्बिता ने उसे अपने लायक पुरुष चुनने एवं न चुनने की शक्ति दी है। यही कारण है कि परम्परागत विवाह संस्था नाकारा साबित होने लगी है। एक ओर पुरुष स्वतन्त्र रूप से 'सेक्स जीवन की मांग कर रहा है तो दूसरी और स्त्री विवाह–संस्था को अपने व्यक्तित्व रक्षा के अनुसार मोड़ना मरोड़ना चाहती है। इन दो मॉगों के आपसी तनाव पर स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के कई प्रश्न समस्याओं का नैरन्तर्य बरकरार है। इस पर टिप्पणी करते हुए डॉ0 लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय लिखते हैं–"कहानीकारों (साथ ही उपन्यासकारों) ने यदि सबसे अधिक लिखा है तो जीवन के बदलते हुए पति–पत्नी, या कहना चाहिए स्त्री–पुरुष के नये सम्बन्धों के बारे में।" कृष्णा सोबती की 'मित्रो मरजानी' एक ऐसी पात्र है जो सामाजिक मर्यादाओं को ताक में रखकर सारे परम्परागत निषेधों को एक ही झटके में खत्म कर देती है। राजेन्द्र यादव की 'टूटना' का नायक किशेर भी सामंती अभिजात्य में पली लीना से सामंजस्य नहीं बिठा पाता और दोनों अंदर ही अंदर टूटते–बिखरते रहते हैं।

मित्रो मरजानी

'मित्रो मरजानी' कृष्णा सोबती की एक लम्बी कहानी है। गुरदास घर का मुखिया है। पत्नी धनवन्ती सहित तीन पुत्र एवं उनसे तीन पुत्र वधुएॅ हैं। प्रमुख कथानक द्वितीय पुत्र सरदारी लाल एवम् उसकी पत्नी मित्रो को लेकर घूमता रहता है। मित्रो मरजानी नई धारणाओं में विश्वास करने वाली असाधारण व्यक्तित्व तथा असाधारण चरित्र की नारी है। मित्रो मरजानी चूॅकि अवैध संतान है इसलिए उसपर अपनी माँ सहित ससुराल का दबाव नहीं रहता है। अतः उसका चरित्र अत्यन्त उन्मुक्त, मन अत्यन्त उच्श्रृंखल मद–मदान्ध हाथी के सदृश मस्त है। वह अपने पति सरदारी लाल से संतुष्ट नहीं है। उस पर पौरूष हीनता का आरोप लगाकर मित्रो मरजानी स्वयं दूसरे पुरुषों के प्रति आकर्षित है। वह अपनी सास धनवन्ती से अपने पति की पौरूष हीनता की बात कहते हुए संकोच नहीं करती। उधर पति सरदारी लाल इस नारी को पाकर विक्षिप्त तथा असंतुष्ट रहता है असमान भावनाओं के मध्य वह अपने को सबसे बड़ा भाग्यहीन मानता है। कहानी के अन्त में मित्रो मरजानी अपने पति सरदारी लाल के प्रति आकर्षित होकर प्रेम करने लगती है क्योंकि उसकी मॉ सरदारी लाल की ओर आकर्षित हो गयी थी। कहानी का कथ्य मुख्य रूप से वर्जनाविहीन समाज की भविष्य कल्पना में रत दृष्टिगत होता है।

मित्रो मरजानी कृष्णा सोबती की लम्बी कहानी जो बाद में कहानी के पेट से निकला हुआ लघु उपन्यास बन गया है। नई कहानी आन्दोलन में कम कहानी लिखकर कृष्णा सोबती ने उपनी विशेष पहचान बनाई है। कृष्णा सोबती की कहानियॉ को मोटे तौर पर तीन वर्गों में बॉटा जा सकता है "प्रथम में जिन्हें आमतौर पर स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की कहानियॉ कहा जा रहा है। मित्रो मर जानी इसी तरह की कहानी है।"[70] मित्रो मर जानी में आधुनिक नर–नारी सम्बन्धों के विखराव को कृष्णा सोबती ने रोमांटिक बोध से हटा करके आधुनिक बोध में रेखांकित किया है। इस कहानी में चार पति–पत्नी परम्परागत परिवार की परम्परा को निभाते दृष्टिगत प्रतीत होते हैं। "कृष्णा सोबती ने आधुनिक बोध को अपनी कहानियों में यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति दी है। उनकी कहानियों में प्रेम, वासना, वात्सल्य, जीवन की घुटन, व्यक्ति तथा समाज के परस्पर सम्बन्ध आदि विभिन्न आयामों को देखा जा सकता है। गुरुदास–धनवन्ती का पारिवारिक जीवन भारतीय परम्परा के अनुसार आदर्श पति–पत्नी का है। दोनों में परस्पर सहानुभूति, सह्रदयता की भावना पाई जाती है। ढलते दाम्पत्य जीवन की संध्या में भी दोनों के स्नेह की गहराई अत्यन्त गहन रूप में दृष्टिगत होती है।–"एक नहीं अनेक बीती पुरानी मीठी बातें आखों में घूम गई। रह–रहकर धनवन्ती अपने सुख–दुख के साथी के पॉव पर हाथ फेरती रही और रोती रही।"[71] यह उदाहरण सम्बन्धों की गहराई एवं गम्भीरता को एक नया आयाम देता है। बनवारी–सुहागवन्ती का पारिवारिक जीवन भी बिना किसी अवरोध के चलता रहता है क्योंकि सुहागवन्ती प्राचीन मान्यताओं में विश्वास करती है। वह अपनी देवरानी मित्रो को कामुकता से विमुख करने के लिए गृहस्थ की शिक्षा मर्यादा का उपदेश देती है "देवरानी, बहू–बेटियों के लिए तो घर–गृहस्थी की रीति ही लच्छमन की लीक। जाने–अनजाने फलांगी नहीं कि...."[72] मधुरेश के अनुसार–"कृष्णा सोबती बौद्धिक और किताबी सहानुभूति से बचकर जीवंत परिवेश के बीच से हाड़–मांस की वास्तविक स्त्री को मित्रो के रूप में गढकर मित्रो मरजानी में एक सम्पूर्ण और कद्दावर औरत को जैसे पहली बार हिन्दी कहानी की जमीन पर खड़ा करती हैं। उसकी जिंदा दिली, चुहल और खिंलदरापन, उसे एक ऐसा व्यक्तित्व देते हैं जो आतंक और पीड़ा एक साथ उपजाते हैं। उसका अंग–संग में पूरा होना और उतने ही मुँहफट तरीके से इस 'होने' को व्यक्त करना जैसे सारे परम्परागत निषेधों को एक ही झटके में ध्वस्त कर देता है।"[73] इस कहानी का तृतीय दम्पत्ति सरदारी लाल–मित्रो है कृष्णा सोबती ने मित्रो के चरित्र विश्लेषण पर ही विशेष ध्यान दिया है। उसके प्रेम का स्वरूप वासना का रूप धारण कर लेता है परन्तु यह प्रेम

रोमांटिक स्वरूप से भिन्न स्वरूप का है। वासना के इस रूप को इन पंक्तियों में आंका जा सकता है–"सात नदियों की तारू, तवे सी काली मेरी माँ और मैं गोरी चिट्टी उसकी कोख पडी। कहती है इलाके के बडभागी तहसीलदार की मुँहादरा है मित्रो। अब तुम्ही बताओ, जिठानी तुम–जैसा सत–बल कहाँ से पाऊँ–लाऊँ? देवर तुम्हारा मेरा रोग नहीं पहचानता..... बहुत हुआ हफ्ते–पखवारे..... और मेरी इस देह में इतनी प्यास है, इतनी प्यास की मछली सी तडपती हूँ।"[74] मित्रो अपने भरे पूरे परिवार में अकेलापन महसूस करती है। वह अपने पति सरदारी लाल से संतुष्ट नहीं हैं। उस पर पौरुषहीनता का आरोप लगाकर स्वयं दूसरे पुरुषों के प्रति आकर्षित है। वह नारी–जीवन की सार्थकता अपनी देह को लुटाने में समझती है और जीवन को भोगने में मानती है। परिवार में इस भूख को मिटाने के लिए साधन सीमित हैं। घर में पुरुष शालीनता के कारण अपनी सीमाओं का उल्लंधन नहीं करता और इससे मित्रो की भूख और बढ़ जाती है। उसके लिए नारी का सती होना उसके जीवन का आधार नहीं है, वह जीवन के लिए शारीरिक आधार को महत्व देती है "जब तक मित्रो के पास यह इलाही ताकत है, मित्रो (किसी की मार से) मरती नहीं।"[75]

मित्रो के चरित्र में लेखिका ने नये समाज के नये प्रश्नों को उभारा है। मित्रो नामक पात्र भारतीय पारिवारिक सम्बन्धों के सभी स्वरूपों का उल्लंघन करती नजर आती है। इससे स्पष्ट होता है कि क्या नारी "हिन्दू संस्कृति की शालीनता को बिल्कुल त्याग चुकी है क्या लज्जा उसके चरित्र का आभूषण केवल मात्र पुस्तकों की थाती बनकर रह गया है? क्या शील नारी के सौन्दर्य में बाधक है? मित्रो इन प्रश्नों के प्रत्युत्तर में अति निर्लज्ज, कामुक–चरित्र की स्त्री है। सरदारी लाल इस नारी को पाकर विक्षिप्त तथा असंतुष्ट रहता है। असमान भावनाओं के मध्य वह अपने को सबसे भाग्यहीन मानता है। सरदारी लाल कहता है–"यह कूड़ा मेरे भाग था? इससे तो कोई चूडी चमारन अच्छी थी।"[75] मित्रो मरजानी में मित्रो एवं सरदारी का पारिवारिक सम्बन्ध विघटन की चरम सीमा को पार कर रहे हैं। इस असफलता का कारण नारी सुलभ शालीनता का अभाव है अन्त में कृष्णा सोबती ने प्राचीनता में नवीनता का आख्यान कर प्राचीन मूल्यों की ओर लौटने का संकेत देकर टूटते परिवार को एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया है। मित्रो सरदारीलाल की ओर अपनी माँ के चरित्र से भयभीत होकर अपने पति की ओर आकर्षित होती है। मित्रो कहती है–"सिर हथेली ओंठो से लगा झूंट की थूकर बोली–कहीं मेरे साहिब जी को नजर न लग जाए इस मित्रो मरजानी की!"[77]

पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टिकोण से माँ एवं पुत्री के बदलते स्वरूप पर लेखिका ने एक नया संवाद स्थापित किया है। मित्रो की तरह उसकी माँ वालो भी अपने पारिवारिक जीवन में पति का सानिध्य नहीं प्राप्त कर सकी है फलस्वरूप उसके जीवन में अनेक पुरुष आये हैं उनसे अपनी भूख मिटाते–मिटाते नीरस होकर बालो निकम्मी हो चुकी है। मित्रो को अपनी माँ से जलन होती है जो नित नये रास–रंग करती है। वह अपने यौवन को लुटाकर पुरुषों को आकृष्ट करना चाहती और माँ बालो उसे एक से बँधा देखकर जल उठती है। वह अपनी बेटी को अपने प्रेमी के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भेज देती है लेकिन बालों का इगो इसे सहन नहीं कर पाता है कि उसकी बेटी उसी के प्रेमी के साथ सम्बन्ध स्थापित करे। यह उसका अपमान है उसकी पराजय है......"माँ को नाक–मुँह चढा मित्रो छज्जे वाली पैड़ियों में पाहुन को मिलने चली तो नीचे खडी बालो के दिल पर सुहागा चल गया। ऐसी हूक उठी, ऐसी टीस जगी की देह–की–देह भखने लगी अरी खप्पनी बालो! एक दिन जो डिप्टी सौ–सौ चाव तेरी शरणी आता था, आज वही इस लौंडिया से रंगरेलियाँ मनाएगा। थू, री बालो, तेरी जिन्दगी पर!"[78] परिणामस्वरूप बालो मित्रो को 'ऐसा' करने से पहले ही बुला लेती है। माँ की आखों में वासना को सुलगता देख, मित्रो अपने को तथा अपनी माँ की नियत को भाँप लेती है। उसके भीतर भी एक तडप जाग उठती है मित्रो कहती है–"तू सिद्ध भैरों की चेली, अब कभी खाली कड़ाही में मेरी और मेरे खसम की मछली मलेगी? सो न होगा, बीबो कहे देती हूँ! फिर तीर की–सी छलाँग मार ओसारे से देहरी कुलाची और माँ को ठेलते–ठेलते सरदारी लाल वाली बैठक की कुंडी चढा ली।"[79] कृष्णा सोबती ने माँ–बेटी के संवाद एवं सम्बन्धों के विघटन को नये साहस और खुलेपन में व्यक्त किया है जो काम सम्बन्धों को एक विशिष्ट आयाम देता है। मित्रो का व्यक्तित्व, नये साँचे में ढला हुआ है वह अपनी वासनाओं को बचाये रखने की कोशिश में है जिससे उसका व्यक्तित्व बचता है। वह अपनी माँ की विकृतियों की छाया बनकर अपनी कामकुण्ठाओं को खोना नहीं चाहती। उसकी एक मात्र शक्ति उसकी अपनी देह सम्पदा है।

'मित्रो मरजानी' में एक विशिष्ट परिवार फूलवन्ती एवं गुलजारी लाल का है। फूलवन्ती एक अहंवादी नारी है। वह पति गुलजारी लाल से अनुरक्त होते हुए भी अपने सास–ससुर (धनवन्ती–गुरुदास) से सम्बन्ध अच्छे न बनाये रख सकी। हर समय फूलावती का मन कुण्ठित रहता है। वह बनावटी रोग का बहाना बनाये पति को क्षुब्ध रखती है, परिवार में थोड़ी सी कलह से अपने पति को माता–पिता के यहाँ भेजकर

भाइयों की मदद से अलग रहने का विचार बना लेती है। फलस्वरूप गुलजारी लाल घर जमाई हो जाते है। ससुराल प्रवास से गुलजारी लाल का पारिवारिक जीवन सम्बन्ध बिखर जाताहै वह कराह उठता है वह पत्नी फूलावन्ती का पिछलग्गू बन जाता है। फूला ही नहीं उसकी माता मायावन्ती भी उसपर शासन करती है। माँ फूलावन्ती से पूछती है–"क्यों री अब आया कान्ह तेरे राह पर।"[80] कृष्णा सोबती ने इन दोनों दम्पत्तियों के माध्यम से नई उद्‌भावनाएँ स्थापित करने की कोशिश की है। फूलवन्ती में आज का नारी समाज उपस्थित हो गया है। वर्तमान में नारी पति गृह से सन्तृष्ट नहीं–रहतीं अपने घर, अपने पति को ले जाकर सन्तुष्ट जीवन व्यतीत करना चाहती हैं। आज के जीवन में पुत्र स्वयं पत्नी का पक्षपात करके पत्नी के साथ रहने को चले जाते हैं। गुलजारी लाल स्वयं अपनी माँ से कहता है–"अम्मा, तुम्हारी बहू का गुजारा अब इस घर में नहीं।"[81] परिवार टूट जाता है गुलजारी ससुराल में भी सुख से नहीं रह पाता है यही विडम्बना सभी जगह व्याप्त नजर आती है। डॉ० रमेशचन्द्र लबानियां के अनुसार–"यह न तो रवीन्द्र की ओस जैसी नारी है, न शरत् या जैनेन्द्र की विद्रोहिणी; गुत्थी। इसे आदर्श का कोई मोह नहीं है, न समाज का भय, न ईश्वर का। इसके लिए किसी विश्लेषण कीआवश्यकता नहीं है। यह मात्र मांस–सज्जा से बनी नारी है जिसमें स्नेह भी है, ममता भी, माँ बनने की हौस भी और एक अविरल बहती वासना–सरिता भी।"[82] वर्तमान समाज की अति कामुकता मर्यादाहीनता मित्रो में साकार हो गई है जो न तो प्रेम की बात सोचती है और न ही अपने व्यक्तित्व को विखरने देती है। उसका प्रेम वासना में परिणत हो जाता है जो सभी हौसें समाने का बोध रखती है जो सम्बन्धों में वर्जनाहीन समाज के भविष्य की कल्पना में रत दृष्टिगत होती है।

टूटना

राजेन्द्र यादव की 'टूटना' कहानी एक अत्यन्त उलझे हुए व्यक्ति के तनाव, तल्खी और आक्रोश की अनुभूतियों को खूबी से अभिव्यक्ति करती है। दो वर्गों के संस्कारों के टकराव, उस टकराव से मिली कुण्ठाओं और उन कुण्ठाओं से जन्में अन्तर्विरोध को 'टूटना' कहानी में अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। जीवन के पहले दौर में नायक किशोर वर्गभेद के वाह्य और आन्तरिक वैषम्य के कारण हीनता की ग्रन्थि पाल लेता है, तो दूसरे दौर में धन और पोजीशन से प्राप्त प्रतिष्ठा द्वारा उस वैषम्य को समाप्त कर, जो आत्म विश्वास वह प्राप्त करना चाहता है, या कर लेता है, उससे वह दूसरे स्तर के मानसिक संघर्ष में पड जाता है। न नॉर्मल जिन्दगी वह लीना के साथ रहने पर जी पाया था और न लीना से सम्बन्ध 'टूटने' के बाद। विवाह के बाद विदा

करते लीना के पिता दीक्षित की अपने प्रति उपेक्षा और हिकारत की दृष्टि का प्रभाव उसके दिमाग से कभी नहीं गया। और इसी उपेक्षा दृष्टि ने उसे अहंवादी बना दिया है। जिससे किशोर की पत्नी लीना कसूर की बलि चढ जाती है। एक–एक प्रसंग नया किशोर की बातचीत और व्यवहार आदि के आशय से परिचित होते जाना मार्मिक अनुभव से गुजरने के समान लगता है।

'टूटना' कहानी में किशोर एवं लीना के सम्बन्ध अपने ही अन्तर्द्वन्द्वो में उलझते, लड़ते, जीतते–हारते और टूटते नजर आते हैं यह स्थिति इन पात्रों ने स्वयं पैदा की है, कोई दूसरा इसके लिए जिम्मेदार नहीं है, फिर भी ये पात्र एक–दूसरे को उसका जिम्मेदार ठहराते हैं और मन–ही–मन एक–दूसरे को प्रतिद्वन्द्वी ठहराकर उससे लडते रहते हैं। प्रेम सम्बन्धों की यह लड़ाई लडने में वे स्वयं और एक दूसरे के टूटने का कारण बनते जाते हैं। मधुरेश के अनुसार–"एक अप्रत्यक्ष और अदृश्य रूप से लडी गई लड़ाई कितनी भयंकर और जानलेवा हो सकती है, नसों को चटखाने और तोड़ने वाली, टूटना से स्पष्ट है। लड़ने से पैदा हुई थकान ही उसके बचाव का कारण बन सकती है। लेकिन तब तक बहुत कुछ नष्ट हो चुका होता है।"[83]

विवाह के बाद लीना के पिता की अपने प्रति उपेक्षा और हिकारत की दृष्टि का प्रभाव उसके दिमाग से कभी नहीं गया–"मुँह की ओर बढता सिगरेट वाला हाथ, और सॉवले होठों का उसे पकडने के लिए उदग्र हो आना–बाई–फोकल चश्में से बाज जैसी तेज आँखों का झांकना–सुप्रीम कॉन्फिडेन्स और हर चीज को आर–पार भेदकर उसको जाने बैठे होने का दम्भ–सब मिलाकर एक ऊँचाई पर खडे, हिकारत से नीचे देखते व्यक्ति की ललकारती भॅगिमा।"[84] किशोर के मस्तिष्क पर सदैव यह तस्वीर छायी रही, जिसने उसे लीना के साथ सहज होकर नहीं जीने दिया। लीना में वह उसके बाप की निगाहों की प्रतिच्छाया देखता रहा।

किशोर और लीना का संघर्ष मात्र पति–पत्नी के व्यक्तिगत जीवन का नहीं है अपितु समाज के दो भिन्न परिवेशों का संघर्ष है, अभिजात्य वर्ग और निम्न वर्ग जीवन–मूल्यों का संघर्ष है और एक दिन मूल्यों का यह संघर्ष इतना बढ गया कि दोनों का साथ रहना भी असम्भव हो गया। किशोर को लीना के पिता का आभिजत्य हर समय आतंकित करता रहता है। इसलिए वह लीना की नफासत, उसकी खास तरह की जिद्दी और दृढ़ मुद्रा तथा निर्णय–दृढता के सामने अपने को बहुत अधिक नर्वस और हीन महसूस करता है। पर अपनी आत्महीनता की कुण्ठा वह दूसरे रूप में प्रकट करता है। उसे आभिजात्य समाज के तौर–तरीकों से चिढ हो जाती है और वह उनकी उपेक्षा

कर आत्म–तुष्ट होता है–"वह लीना के साथ खाते समय, खाना खत्म करके छुरी–कॉटे को क्रास की स्थिति में ही रखता.....।"[85] जो बात लीना को नहीं पसन्द वही करता है–" उसका गट–गट पानी पीना, चप–चप खाना, और 'हरिओऽम' की लम्बी डकार के साथ तृप्ति का सन्तोष प्रकट करना–लीना को पसन्द नही है–यह जानते हुए भी वह उसे चिढाने के लिए यही करते हुए खाता।"[86] उसे लगता, इसमें लीना की व्यक्तिगत नापसन्दगी उतनी नहीं है, जितनी हिकारत की यह भावना कि "तुम्हे सभ्य समाज में उठने–बैठने का मौका नहीं मिला, इसलिए शायद यह नहीं जानते कि यह अशिष्टता है, कोई चीज स्वादिष्ट लगती, तो जल्दी जल्दी सड़ाकेदार आवाज के साथ मुँह भर लेता, और झूम–झूम कर गुनगुनाते हुए उसका स्वाद लेता और लीना की आँखों में पढ़ता–"शायद पहली बार ही खा रहे हो न ?"[87] किशोर यह सब कल्पना में सोचता रहता है जाने कैसे उसे विश्वास हो गया था कि अब लीना को उसके साथ आने का अफसोस होने लगा है, क्योंकि इधर वह बहुत सुस्त और उदास रहने लगी है और अपने ही पाले भ्रम के कारण वह लीना और मेहता के सम्बन्धों की कल्पना कर लेता है। अभिप्राय यह कि अपनी हीनताएँ ही वह इन विभिन्न रूपों में व्यक्त करता है। लीना से सम्बन्ध टूटने के बाद जब तात्कालिक आवेग समाप्त हो जाता है, तब प्रत्यावलोकन के क्षणों में वह उनका सही विश्लेषण कर पाता है।

'टूटना' का किशोर एक विभिन्न प्रकार के तनाव में ग्रस्त है, वह दो स्तरों पर जीता है। एक स्तर लीना के साथ उसकी सामान्य मध्यवर्गीय विवाहित जिंदगी जीने में लीना के आभिजात्य आग्रहों के कारण उसे जीना पडता है, इस स्तर पर इन दोनों के बीच जो 'टूटना' सम्भव हुआ है वह लीना के आभिजात्य आग्रहों के कारण टूटना नहीं हुआ जितना कि उसके पिता की आतंकित कर देने वाली छाया के कारण, वह छाया लीना और किशोर के बीच इस सीमा तक हावी हो जाती है कि यह पहले लीना के सहज आभिजत्य आग्रहों को रूप देती है और फिर किशोर के भीतर एक नपुंसक विद्रोह पैदा कर तनाव की ऐसी स्थिति ला पटकती है जहाँ दोनों एक दूसरे से अलग होना चाहते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि अब दोनों इतना टूट चुके हैं कि वैसा कदम उठाना सम्भव नहीं रहा। किशोर घृणा इसलिए करता है ताकि वह उस व्यक्ति को दिखा सके, जिसके कारण उसमें कुण्ठा पैदा हुई थी, आत्महीनता को उसने भोगा था। फलस्वरूप आत्महीनता वाले व्यक्ति से वह घृणा करने लगता है। ऐसे व्यक्ति को अपमानित करने में उसे क्रूर सन्तोष मिलता है इस तरह वह उन तमाम वातों से घृणा

करने लगता है, जो अतीत के किशोर में थी। और जब यही स्थिति लीना के साथ करता है तो सम्बन्धों में दरार पैदा हो जाती है।

आत्महीनता और घृणा के आकर्षण में लीन किशोर जिन्दगी के पहले दौर की अनुभूतियॉ उसे दूसरे दौर में भी क्षुब्ध किये रहती हैं और उसे सहज नहीं होने देती। वह बात सामने करता है पर मन में कुछ और ही विचार चलते रहते हैं। फोन पर गर्ग से बात करते समय, वह लीना के पत्र पर अपनी प्रतिक्रिया दे बैठता है; जयंत से बात करते समय, वह लीना और मेहता के बातचीत और उठने–बैठने के प्रसंग यादकर विचित्र विचारों से भर उठता है। गर्ग को मिसेज लाल चंदानी के साथ घूमने के लिए गाड़ी देकर उसे विशेष तृप्ति होती है, रामन को देर तक अपने साथ काम में उलझाये रखकर पति–पत्नी के बीच व्यवधान डालने में उसे विशेष तृप्ति मिलती है। जो सुख उसने नहीं भोगा, वह सुख दूसरे भी न भोग सकें, यह मनोविज्ञान उसकी इन तमाम अभिव्यक्तियों से प्रकट होता है। अपने और लीना के बीच उसने मेहता को जिन बातों के कारण व्यवधान के रूप में पाया था, वैसा ही व्यवहार वह पति–पत्नियों के बीच में स्वयं बनना चाहता है।

कुण्ठाओं के कारण किशोर में निर्णय लेने की क्षमता नहीं रही है। इसी कुण्ठा ने किशोर को पहले पत्नी से सम्बन्ध विच्छेद करवाया, और उस सम्बन्ध के टूटने का मनोविज्ञान किशोर को धन और पोजीशन की ऊँचाइयों पर ले जाकर भी भीतर से तोड़ता चला जाता। टूटता वह इस अपराध–बोध के कारण ळै क्योंकि पति–पत्नी के सम्बन्ध उनके अपने तनावों के कारण नहीं टूटे, वरन् एक तीसरे व्यक्ति लीना का पिता दीक्षित और जिस दिन वह यह एहसास कर लेता है कि वास्तविक लड़ाई तो उसकी दीक्षित से थी, लीना से नही तो वह अपराध बोध से घुटने लगता है–"जिस दिन लीना नाम का परदा बीच से हटा या उसने जाना कि लीना सिर्फ मेज का तख्ता थी और वे दोनों उसपर अपनी–अपनी कोहनियॉ टिकाये शक्ति आजमा रहे थे उसी दिन महसूस किया कि असली लड़ाई दीक्षित साहब से है....।"[88] अपनी कुण्ठाओं से लड़ते हुए उसने बेकसूर लीना की बलि चढा दी। क्योंकि दीक्षित को हराने की प्रक्रिया में किशोर यह समझता रहा कि उसने इस दीक्षित नाम के व्यक्ति को मिटा दिया, उसकी हत्या कर दी किन्तु उसे मारने से उसने अपनी ही हत्या कर ली, यह वह न जान सका। वह सदैव दीक्षित की हत्या का भ्रम पालता रहा, पर दीक्षित के व्यक्तित्व का अपने में आरोपण कर, उसने अपने को मिटा दिया, अपनी ही आत्महत्या कर ली, यही हीनता ग्रन्थि किशोर के पारिवारिक जीवन में विघटन के बीज बो गई। डॉ0 रामदरश मिश्र 'टूटना'

कहानी की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि– "इसमें हेमिंग्वे के उपन्यास "OLD MAN AND THE SEA" के बूढे द्वारा पंजा लड़ाने वाली घटना से प्रतीक को गूँथा गया है। टूटना कहानी के नायक किशोर की वास्तविक लडाई उसकी प्रेमिका लीना से न होकर उसके पिता दीक्षित साहब से है।"[89]

आर्थिक दबाव और मूल्यों के पतन के कारण पारिवारिक विघटन

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कहानी में बदलते हुए आर्थिक परिवेश का परिवारों के विखरने में एक महत्वपूर्ण कारण सिद्ध हुआ है। आज जीवन क`मूल्य बदल गये हैं। अब अर्थ ही जीवन मूल्य बनकर रह गया है। व्यक्तित्व का मूल्यांकन अर्थ से ही होता है। इस आर्थिक संकट ने परम्परागत पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। पति–पत्नी के सम्बन्धों में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है उसका कारण अर्थ ही है। इस आर्थिक संकट ने पति के परम्परागत मूल्य 'स्वामित्व' को भी नष्ट कर दिया है। आज सभी सम्बन्धों के पीछे आर्थिक प्रभुत्व की भावना प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती है। पति–पत्नी में से जो भी इस दृष्टि से प्रभावशाली होता है उसी के मूल्य को मान्यता प्राप्त होती है और परिवार में उसी का प्रभाव रहता है। परिणाम स्वरूप एक ओर मूल्य आत्मनिष्ठ होते जाते हैं दूसरी और सम्बन्धों की निरपेक्षता भी बढ़ती जाती है।

आर्थिक कठिनाइयाँ आजकल एक समस्या बनी मुँह बाये खड़ी है। नव दम्पत्ति के बहुत से स्वप्न इसी चट्टान पर टूटते हैं। आज के युग में स्त्री–पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध परिवार तथा समाज में उनकी आर्थिक स्थिति अर्थ पर ही निर्भर करते हैं। अगर पत्नी पति से छह गुना कमाती है तो उससे छह गुना बड़ी भी है। ऐसी स्थिति में पति का अर्थ उसके लिए केवल इतना रह जाता है कि उसकी आड़ में (पति का अर्थ कुछ भी नहीं) समाज को धोखा देकर अपनी पोजीशन के किसी दूसरे व्यक्ति से सम्बन्ध स्थापित करने में कोई परहेज नहीं है।

आर्थिक दबावों से व्यक्तित्व के टूटने के कारण चिन्तन का सन्तुलन बिगड़ना स्वाभाविक है और परिणाम स्वरूप सर्जनात्मक पुरुष अपनी सन्तान की पिटायी करने में भी नहीं हिचकता है। रामकुमार की कहानी 'सेलर' का नायक अपने पुत्र मुन्नू को अकारण इसलिए पीट देता है कि मुन्नू उसके सपने को साकार करने में सक्षम नहीं है। परन्तु इस कुण्ठा में उसकी आर्थिक समस्या सुरसा की भाँति मुँह बाये खड़ी रहती है।

सेलर

'सेलर' रामकुमार की बहुचर्चित कहानी है। कहानी का मुख्य पात्र 'वह' है जो अपनी ससुराल में पुत्र मुन्नू के साथ रह रहा है। नायक की पत्नी मर गयी है। सौ रूपये की नौकरी करता हुआ आर्थिक स्थिति में पिसता हुआ नायक जीवन व्यतीत कर रहा है। ससुराल में सास–ससुर तथा अपने साले एवं उनकी पत्नियों के तानों के बीच 'पेइंग गेस्ट' की हैसियत से रह रहा है। ससुराल वाले उसे एक कमरा दे रखे हैं और उन लोगों की इच्छा है कि वह कमरा किराये पर उठा दिया जाये। और मेहमान को अंदर ही सबके साथ रहने पर विचार विमर्श करते हैं। परन्तु इन सब परिस्थितियों में नायक (वह) अपने पुत्र को 'सेलर' बनाना चाहता है परन्तु मुन्नू उसकी अपेक्षाओं में खरा नहीं उतरता नजर आता है फलस्वरूप वह मुन्नू को पीट देता है। कहानी नायक के अतीत में खोजाने वाले विचारों के साथ समाप्त हो जाती है जिसमें भविष्य के प्रति भय सा दिखता प्रतीत होता है।

'सेलर' कहानी पारिवारिक विघटन की त्रासदी को आर्थिक आधार पर रेखांकित करती है इसमें कथानायक 'वह' विवेचनात्मक शैली में अपनी दास्ता बयां करता है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार–"कहानी में शून्यता रिक्तता, उदासीनता व्याप्त है। खोया–खोया इन्सान इसका कथ्य है।"[90] आज जब भौतिकता अपनी चरम सीमा पर है तब भी बाप–बेटा का भविष्य बनाने की चेष्टा में रहता है इसे समय की विडम्बना ही कहा जायेगा नायक 'वह' सब कुछ चाहते हुए भी अपनी ससुराल को नहीं छोड़ पा रहा है मानव सम्बन्धों की विकृतियाँ इतनी तिक्त हो जायेंगी यह कल्पना भी नहीं की जा कि एक दामाद को उसके अपने ही सास–ससुर पैसे लेकर खाना देते हैं–"लगभग एक ही मास तो हुआ, ठीक से उसे याद नहीं आया, जब ससुर ने अपने कमरे में बुलाकर छोटी सी भूमिका के बाद कहा था कि अपने और अपने पुत्र के खर्चे के जो सौ रूपये वह हर महीने देता है, वे इस बढ़ती हुई मंहगाई में पर्याप्त नहीं हैं। अपने कथन को सत्य साबित करने के लिए उन्होंने आटा, दाल घी, चावल आदि के दाम बतलाये थें। फिर बिजली, पानी, महरी और उसका कमरा.... उन्होंने यह भी कहा था कि उसका पुत्र बड़ा होता जा रहा है, जिससे उसकी खुराक भी बढती जाती है।"[91] पारिवारिक सम्बन्धों का यह विघटन इतना नीचे चला जायेगा। मुन्नू के पिता को इसका एहसास ही नहीं हो सका क्योंकि उसकी सास उसके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाए हुए है शायद यही झूठी सांत्वना उसे सन्तोषप्रद महसूस होती है–"हमारे लिए डूब मरने का दिन है कि जमाई अपने खाने–पीने का खर्च खुद देता है और बहुओं के

तुम्हारी दो रोटियाँ सेंकनी भी अखरती हैं। और दबे स्वर में उन्होंने यह सुझाव दिया कि वह अपना अन्य ठिकाना देखें, यही बेहतर होगा।"[92] मूल्यों के प्रति सास तत्पर तो दिखती है परन्तु टूटते सम्बन्धों को बचाने के लिए स्वयं को कष्ट में नहीं डालना चाहती है यही आधुनिकता भारतीय संस्कृति को खतरे में डाल रही है।

सम्बन्धों की त्रासदी का चित्रात्मक रूप में रामकुमार ने वर्णन किया है क्योंकि नायक वह की पत्नी जीवित नहीं है और ससुराल में उसका रहना सबको अखरता है—"उसके ससुर का पिचका हुआ, बिना दाँतों का चेहरा उसके सामने आ गया।... वे फिर तकाजा करेंगे और उसे याद दिलायेंगे। उसके बड़े साले की पत्नी प्रायः कर्कश स्वर में कहती सुनायी देती कि उससे इतनी रोटियाँ सेंकी नहीं जातीं। और जब उसकी सास उससे धीमें स्वर में कहती कि नीचे जमाई सुन रहा है, तो उसकी आवाज और भी तेज हो जाती, 'मुझे किसी का डर नहीं है! सच्ची बातें कहने से हिचकूँ ऐसी औरत मैं नहीं हूँ।"[93] सम्बन्धों के टूटने की त्रासदी झेलता नायक इतना दृढ़ नजर आता है कि उसको किसी की बातें बुरी लगने पर भी बुरी नहीं मानता क्योंकि सोचना उसकी नियति बन चुकी है एक दिन नायक ने "मुन्नू को देखा, तो सूखी टहनियों—जैसे उसके हाथ—पाँव देखकर उसका बडा सा सिर बहुत बेडौल जान पडा था और यह भी उसने ससुर या शायद बड़े साले को कहते सुना कि उसकी कोठरी के आसानी से चालीस रूपये किराये के आ सकते हैं।"[94] एक तरफ ससुराल वालों का यह कहना कि मुन्नू की खुराक बढ़ रही है दूसरी तरफ कोठरी को किराये पर उठाये जाने की बात एवं तीसरे उस के सरहजों के द्वारा उसका कथित ब्याह हो जाना ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें नायक अपने विरुद्ध एक सुनियोजित षडयन्त्र सा देखता है। यही सोच उसे घर में नहीं रुकने देती और नौकरी से आते समय वह गार्डेन में घूमने चला जाता है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार—"कहानी में मानवीय अंतर्वेदना का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। प्रस्तुत कहानी की रचना चित्रात्मक धरातल पर हुई है।"[95]

नायक 'वह' की इच्छा है कि उसका पुत्र बड़ा होने पर अर्थात मैट्रिक की पढ़ाई पूरी करने पर जहाज पर चला जाये। सहसा एक दिन उसने पुत्र मुन्नू से पूछा—"तुम पढ़—लिखकर कुछ तो बनोगे न? ऐसे ही तो नहीं रहोगे? कोई डाक्टर बनता है, कोई वकील, कोई व्यापारी, कोई सेलर।"[96] सेलर बनाने की यह ख्वाहिश अपनी विवशताओं के सामने पूरी नजर होती नहीं आती है क्योंकि केवल खाना खाकर और कुछ सोचकर ही सपने पूरे नहीं हो सकते हैं उसके लिए कड़ी मेहनत एवम् पक्का इरादा होना अति आवश्यक है। मुन्नू का पिता मुन्नू के प्रति सहानुभूति रखते हुए उसे

मारने के लिए इसलिए मजबूर होता है क्योंकि शायद जो सपना उसने पूरा नहीं किया है उसे उसका बेटा पूरा कर दे, परन्तु मुन्नू के रोने से सहसा उसे अतीत की ओर झॉकने में मजबूर कर दिया–"मुन्नू की ऑखो में भी जैसे कुछ खो गया है, जैसा कि उस इतवार को शीशे में अपनी ऑखों को देखकर उसने महसूस किया था। मुन्नू की खुली–खुली, शून्य सी ऑखें, जैसे कोई बन्द दरवाजा खुल गया है, जिस के बीच में से दूर–दूर तक वह झांक सकता है। भीतर क्या है, इसे जानने के भय से उसने अपनी ऑखें बन्द कर लीं।"[97] डॉ० मिथिलेश रोहतगी के अनुसार–"रामकुमार के पात्रों के व्यक्तित्व की मूल कुण्ठा है अतीत से न मुक्त हो पाने की विवशता।"[98] मुन्नू के पिता की यह अतीत के प्रति अधोघोषित लड़ाई या द्वन्द्व उसे एक अजीब घुटन, त्रास एवं विघटन की ओर खींच ले जाता है जिसके मूल में आर्थिक समस्या गहराई से पंख कुतर रही है।

पीढ़ी संघर्ष के कारण पारिवारिक विघटन

स्वातन्त्रयोत्तर भारतीय परिवारों में दो पीढियों (नई व पुरानी पीढी) में संघर्ष दिखाई देता है। पुरानी पीढी के लोग जो पुरानी मान्यताओं और विचारों के समर्थक हैं और नई पीढी के लोग इन पुरानी मान्यताओ को तोडना चाहते है, बदलना चाहते हैं। अतः इन दो पीढियों में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। स्वतन्त्रता के बाद नवयुवक वर्ग की मानसिकता में भी एक व्यापक परिवर्तन दिखाई दिया है। आज का नवयुवक स्वतन्त्रता पूर्व के नवयुवक की भॉति अमहत्वाकांक्षी अथवा सामाजिक स्थितियों के प्रति तटस्थ नहीं है वरन् उसमें स्वतन्त्र देश के एक नागरिक की सम्पूर्ण महत्वाकॉक्षाएँ तथा हर नई स्थिति से जुड़ने की आकॉक्षांए विद्यमान है। पुरानी पीढी नयी पीढी पर अपना अधिकार जमाये रखना चाहती है। वह इस नयी पीढी को भी अपने ही आदर्शों पर चलते रहना देखना चाहती है। एक ही परिवार के दो पुश्तों में मानसिक संघर्ष की तीव्रता दिन–ब–दिन अधिक तीव्र होती जा रही है। और यही तीव्रता मानसिक सामंजस्य न बिठा पाने से सम्बन्धों में दरार पैदा करती है। और वर्तमान जीवन की त्रासदी भी रेखांकित करती है।

ज्ञानरंजन की कहानी पिता में नायक के पिता एक चट्टान की तरह दृढ हैं समय रूपी पहिया आगे बढ़ता जारहा है परन्तु 'पिता' है कि टस से मस नहीं होते–'उसे' महसूस होता है कि पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खडे हैं जिससे टकरा–टकरा हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं, कहानी

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नैतिक पारिवर्तन की मांग को रेखांकित करती है साथ ही उस जडता को भी समाप्त करना चाहती है जो परिवर्तन की प्रक्रिया मे अवरोधक बनती है।

'एक नाव के यात्री' में कथाकार शानी ने पीढ़ी संघर्ष के फैसले को पाश्चात्य सभ्यता के ढॉचे में ढालकर रेखांकित किया है। हर माता–पिता की एक तमन्ना होती है कि उनके बेटे पढ़कर उनके संस्कारों एवम् पारिवारिक कार्यों में हिस्सा बटायेंगे तथा सम्बन्धों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करेंगे। मॉ–बाप को ठेस जब पहुॅचती है तब उनके बेटे उन्हें उचित सम्मान न देकर अपनी होने वाली पत्नी और पत्नी के परिवार के सदस्यों को देता है।

पीढ़ियों का यह यह बढ़ता संघर्ष तथा नूतन एवम् पुरातन के संघर्ष में नूतन पीढी अपने मॉ बाप को ट्रान्जिस्टर की तरह बिगडा हुआ समझकर उन्हें कोई महत्व नहीं देते हैं जो यान्त्रिक युग की प्रयोग करो और फेंकने के सिद्धान्त पर चलना चाहते हैं। जिसमें केवल वे और उनके बच्चे ही परिवार रूपी संस्था (एकल परिवार) में रहना चाहते हैं।

पिता

'पिता' कहानी में ज्ञानरंजन ने पिता–पुत्र संघर्ष को दो पीढियों के मूल्य विघटन के रूप में चित्रित किया है बदलते जीवन–सन्दर्भ मूल्य और स्थितियों के बीच परम्परा और प्रगति के संघर्ष को रूपायित करती यह कहानी वास्तव में एक रेखा चित्रांकन है। पिता रामायण और गीता के सांस्कृतिक परिवेश में हैं। नयी पीढी का अहंकार उन्हें एकदम सहन नहीं है। पिता पंखे के नीचे नहीं सोते हैं। पसीने और उमस में बाहर उन्हें आराम है। गुसलखाने में शाबर लगा है पर वे लॅगोट बॉधे, तेल चुपडे आँगन में बाल्टी का पानी रखकर नहाते हैं। उनके गँवारपन को लेकर शीतयुद्ध चलता है। काफी तनावपूर्ण स्थिति रहती है। पुरानेपन की कठोरता से लड़कों का मन कटु हो जाता है। उनमें नागरिक सुख–सुविधाओं का अहंकार है। पिता की तरह यही अहं उनके नये बेटों की पीढ़ी को है। इसलिए पुत्र उन पर चिल्लाकर कहते हैं कि पिता तुम हमारा निषेध करते हो क्योंकि तुम ढ़ोंगी वज्र एवं अहंकारी हो। अन्त में पिता के जगते रहने पर से पुत्र को नींद नहीं आती है।

कहानी में दो पीढियों के संघर्ष का चित्रण है। मॉ–बाप, भाई–बहिन आज सभी एक दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। इस सत्य को ज्ञानरंजन ने बडे ही यथार्थ एवं कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कहानी में चित्रित किया है। पिता कहानी में पिता का व्यक्तित्व

चट्टान की तरह दृढ है। वक्त आगे निकलता चला जा रहा है, स्थितियाँ, बदलती चली जा रही हैं, किन्तु पिता हैं कि टस से मस नहीं होते। पीढियों का यह फैसला इतना विचित्र सा प्रतीत होता है कि उसे लगता है कि "पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खडे हैं, जिससे टकरा–टकराकर हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं। कहानी वैज्ञनिक दृष्टि के अनुरूप नैतिक पारिवारिक परिवर्तन की मांग को रेखांकित करती है तथा उस जडता को तोड़ना चाहती है जो परिवर्तन की प्रक्रिया में अवरोध बनती है। "यह जड़ता कहीं रूढ़ि और अंधविश्वास की तथा कहीं अकारण पुराने से चिपके रहने और नये को न स्वीकारने के अहं की जडता है।"[99]

भारतीय जीवन में पीढियों का अन्तराल कितना भयानक है। तनाव और विसंगतियों तथा समझौते के बीच समता या समझौते का छोर ढूँढ़ पाना असम्भव लगता है। ऐसा लगता है कि दोनो के बीच विभाजक रेखा पत्थर की लकीर हो गयी है पुरानी पीढ़ी व्यवस्थापक पीढी है और नयी पीढ़ी विद्रोही पीढी है। पिता–पुत्र संघर्ष की थीम पर लिखी गयी इस कहानी में पिता मात्र व्यवस्थापक के प्रतीक हो गये हैं।'पिता' शीर्षक कहानी में इस प्रतीकात्मक धारणा को ज्ञानरंजन ने फार्मूले के रूप में नहीं, सहज सामान्य स्थितियों के रूप में चित्रांकित किया है इसलिए पिता रामायण और गीता के सांस्कृतिक परिवेश मे हैं। नयी पीढ़ी का अहंकार उन्हें एकदम सहन नही है–"सब लोग, पिता से अंदर पंखे के नीचे सोने के लिए कहा करते हैं पर वह जरा भी नहीं सुनते।"[100] .."चौक से आते वक्त चार आने की जगह तीन आने और तीन आने में तैयार होने पर, दो आने में चलने वाले रिक्शे के लिए पिता घण्टे–घण्टे खड़े रहेंगे।"[101] ...."आज तक किसी ने पिता को वाश–बेसिन में मुँह–हाथ धोते हुये नहीं देखा। बाहर जाकर बगिया वाले नल पर ही कुल्ला–दातून करते हैं। पिता को अर्से से हम सब आंगन में धोती को लॅगोट की तरह बॉधकर तेल चुपड़े बदन पर बाल्टी–बाल्टी पानी डालते देखते आ रहे हैं। खुले में स्नान करेंगे, जनेऊ से छाती और पीठ का मैल काटेंगे"। "बाजार से लाई बिस्किटें, महँगे फल पिता कुछ भी नहीं लेते। कभी लेते भी हैं तो बहुत नाक–भौं सिकोड़कर, उसके बेस्वाद होने की बात पर शुरू में ही जोर दे देते हुए" "उल्टा सीधा, पता नहीं कहॉ किस दर्जी से कुरता–कमीज सिलवा लेते हैं। टेढ़ी जेब, सदरी के बटन ऊपर–नीचे लगा, सभा–सोसायटी में चले जायेंगे।"[102]

पिता के इस गँवारपन को लेकर शीतयुद्ध चलता रहता है। काफी तनावपूर्ण स्थिति रहती है। पुरानेपन की कठोरता से लड़कों का मन भिच जाता है।

उनमें नागरिक सुख–सुविधाओं का अहंकार है। यही अह आज की पूरी पीढी का है जो पुत्रों में है। वास्तव में वे पिता को सह नहीं पाते हैं तभी तो वह चिल्ला कर कहना चाहता है–"पिता, तुम हमारा निषेध करते हो। तुम ढोंगी हो, अहंकारी हो वज्र अहंकारी।"[103] पिता के जागते रहने के एहसास मात्र से कथावाचक को नींद नहीं आती है। पिता की इस अस्वीकृति मे परम्पराओं के प्रति गम्भीर अस्वीकृति है। विद्रोह धर्मी नयी पीढी के तेवर में आक्रोश और विक्षोभ की सर्जना एक खास अंदाज में की गयी है और यह अंदाज नगरबोध का अंदाज है। संस्कारों के अन्तराल को यद्यपि दर्शन नहीं बनाया जा सकता तथापि नगर जीवन के सुविधाजीवी भोक्ताओं में यह सत्य बनता जा रहा है। नगर के उच्च्व वर्ग में ही नहीं, मध्यवर्ग की रुचि में उसके संस्कार और सपनों में नगर बोध का यह दर्पस्फीत अहं सुरक्षित है। ग्राम–जीवन का सांस्कृतिक छोर जब छूट जाता है तो नगरबोध की उस नयी सभ्यता का उदय होता है जो अति आत्म केन्द्रित होती है। तन्त्र यन्त्र और आजीविका के दबावों से जैसे–जैसे यह संकेन्द्रन सघन होता जाता है, बाहर भीतर की टकराहट बढती जाती हैं। भारत वर्ष–कृषि–संस्कृति के अभावों और संस्कारों से न मुक्त है और न हो सकता है यही कारण है कि टकराहटों और संक्रमणों का एक सिलसिला भयानक रूप मे चल रहा है। जिसके कारण परिवारो में निरन्तर विघटन हो रहे हैं।

एक नाव के यात्री

'एक नाव के यात्री' ज्ञानरंजन द्वारा लिखित कहानी आधुनिक जीवन मूल्यों की ओर एक प्रश्न चिन्ह खडा करती है। घटना क्रम पिछले सात वर्षों का है जब रज्जन अपनी नव वधू के साथ इंजीनियरिंग के एक डिप्लोमा हेतु इंग्लैण्ड गया हुआ था और इस बीच उसने वहीं रहकर स्थायी रूप से घर बसाने का निश्चय किया। इधर भारत में उसके माता–पिता तथा एक भाई और दो बहनें रहती हैं। कहानी का प्रारम्भ वहॉ से शुरू होता है जब कीर्ति का भाई रज्जन इंग्लैण्ड से वापस अपने देश आ रहा है और उसको लेने के लिए उसकी बहन कीर्ति स्टेशन पर गयी हुई है। यह सिलसिला पूरे के पूरे बारह दिन चलता है क्योंकि रज्जन अपनी पत्नी रत्ना के साथ उसी के घर बम्बई चला जाता है और उसने अपने घर सूचना भी नहीं दी है। घर में रिटायर्ड बूढ़ा अन्धा पिता इसी आशा में जीता रहता है कि पुत्र वापस विदेश में जाते समय उसको साथ लेकर उसकी ऑखे बनवा देगा। परन्तु आधुनिक पीढी के रज्जन को यह सब पसन्द नहीं आता है। वह अपनी प्रतिक्रिया को बहन कीर्ति से यह कहकर समाप्त कर देता है कि मदर–फादर को कम से कम उसकी पत्नी रत्ना से प्रेमपूर्वक व्यवहार तो

करना ही चाहिए था। हमसे ठीक से न बोलते, दूसरे घर की लडकी है उसे मदर–फादर का व्यवहार अवश्य बुरा लगा है। नयी पीढ़ी के रज्जन अपने माता–पिता को उपहारों द्वारा खुश करना चाहता है परन्तु पुरानी पीढी के लोग (माता–पिता) चाहते है कि उनकी संतान उनके पास बैठें और दुःख दर्द की बातें कहे सुनें इसी संवेदना के साथ कहानी समाप्त हो जाती है।

'एक नाव के यात्री' में परिवार के परम्परागत स्वरूप को तोडने वाला प्रमुख कारण पाश्चात्य संस्कृति का भारतीय संस्कृति पर हावी हो जाना है जो पारिवारिक विघटन को जन्म देती है। स्वातन्त्रयोत्तर भारत एक नवीन परिवर्तित रूप में हमारे सामने आता है, जहाँ एक ओर परम्परा से चले आ रहे संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा था और दूसरी ओर सामाजिक पारिवारिक सम्बन्धों में परम्परा बद्ध रूप में परिवर्तन आ रहा था। परम्परा से विच्छिन्न होकर तथा सभी प्राचीन मानव सम्बन्धों के मोहपाश से मुक्त होकर आज का व्यक्तित्व अधिकाधिक आत्म केन्द्रित होता जा रहा है। यहॉ तक कि पिता–पुत्र, माँ–बेटी या भाई–बहन जैसे निकटतम सम्बन्धों में भी जैसे एक अजनबीपन समाता जा रहा है, जो एक–दूसरे के पास रहते हुए भी एक दूसरे को बहुत दूर कर देता है। भारत से सात वर्ष पहले जब रज्जन इंजीनियरिंग के एक डिप्लोमा के लिए इग्लैंण्ड गया तो उसने कभी यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि वह इतने दिन वहाँ रुक जायेगा। पत्नी को उसने इसलिए साथ में ले लिया कि विदेश में उसे अकेलापन न महसूस हो परन्तु अधिक समय की इंग्लैण्ड की आवोहवा ने रज्जन को एवं पत्नी रत्ना को काफी बदल दिया है और उसने इतने दिनों से कोई घर के प्रति विशेष उत्सुकता नहीं दिखाई। रज्जन के शुरू–शुरू के पत्रों से ऐसा आभास मिलता है कि उसे वापस लौटने की उत्सुकता है परन्तु भारत में अधिक अच्छी नौकरी न मिलने के डर से रज्जन डरता है परिवार में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं–"शोभा के बाद वाला भाई जाता रहा था। कीर्ति से बडी बहन नलिनी ब्याह होकर बनारस चली गयी थी, पापा सरकारी नौकरी से रिटायर होकर घर बैठ गये थे, और इनमें सबसे बड़ा हादसा यह हुआ कि पापा की आँखें अकस्मात जाती रहीं।"[104] रज्जन को प्रारम्भ में घर की स्थिति के प्रति सोचकर काफी कष्ट एवं स्नेह उभर आता है और अपने को अभागा महसूस करता है उसने लिखा– "नराधम हूँ यह मेरे पूर्व जन्म के पापों का फल है कि इतना सब होने के बाद भी मैं आपसे हजारों मील दूर पड़ा हूँ....लेकिन पापा, आप चिन्ता न करें–मै आजकल में यहॉ आई स्पेशलिस्ट से कन्सल्ट कर रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस दिन आपको यहॉ ले आऊँगा, सब ठीक हो जायेगा।"[105] विदेश से आया

रज्जन बिना किसी सूचना के अपनी पत्नी रत्ना के घर चला जाता है। कीर्ति एवं पापा सहित सम्पूर्ण परिवार परेशान है–"पिछले बारह दिनों से इस समय सारा घर कण्ठों मे प्राण लिये बैठा रहता था। पहले दो दिन स्वयं पापा स्टेशन तक चले गये थे, बम्बई से आने वाली कई गाडियॉ उन्होंने देखी थीं। वह तो बाद में पता चला था कि रज्जन यहॉ आने के बदले सीधे दिल्ली चला गया था रतना के घर और कई बार बदले हुये तथा स्वयं निर्धारित कार्यक्रम के बावजूद आज तेरहवें दिन भी रज्जन का पता नहीं।"[106] पुत्र की परिवार के प्रति वितृष्णा एवं दूसरों के प्रति लगाव बहन कीर्ति सहित पापा को खल जाता है और परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे से कटे–कटे से रहते हैं यह रज्जन एवं रत्ना भी महसूस करते हैं–"ये मदर–फादर को क्या हो गया है? हम लोग इतने–इतने वर्षों के बाद आये, लेकिन लगा जैसे किसी को खुशी ही नहीं हुई। सारा वक्त पाप उखड़ी बातें करते रहे और माँ का मुँह सूजा रहा। मैं तो खैर घर का हूँ, शिकायत करके भी कहॉ जाऊँगा। रत्ना के दिल को इससे बड़ा धक्का लगा है। कह रही थी इतनी भावना से लाये हुए प्रेजेण्ट्स किसी ने एप्रिशियेट तक नहीं किये। पापा ने तो कोट को छूकर भी नहीं देखा।"[107] सम्बन्धों के बीच दरार आने का प्रमुख कारण एक दूसरे के प्रति आदान–प्रदान किये गये वादों का पूरा न होना है, रज्जन पूर्ण स्वछन्दता के पक्ष में है और पापा को इग्लैण्ड ले जाने में उसे शर्म एवं शक महसूस होती है, संयुक्त परिवार एकल परिवार में इसलिए परिवर्तित हो रहे हैं क्योंकि अर्थ की समस्या के साथ–साथ भौतिक वातावरण की दौड में भी पिछड़ने का डर व्यक्ति को रहता है।

विश्व वाड्मय में यह सर्वविदित है कि सन्तान के प्रति सभी माताओं पिताओं का एक विशेष लगाव होता है जो सम्बन्धों को स्थायित्व प्रदान करता है क्योंकि रक्त के सम्बन्धों में एक विशेष प्रकार की खुशबू होती है कितना भी न चाहते हुए भी व्यक्ति उसके प्रति आकर्षित होता है! रज्जन के पिता एवं बहिन कीर्ति इसी कारण रज्जन एवं रत्ना के प्रति आकर्षित एवं बँधी हुई है परन्तु जब उसे यह महसूस होता है कि उसका भाई जानबूझकर उसके मम्मी पापाका अपमान कर रहा है तो वह टूट जाती है और अपने को भावनाओं के प्रति भाई से अलगकर लेती है परन्तु पाप अपने खूनी रिश्ते को भूल नहीं पाते। कीर्ति ने जब कमरे में झांक कर देखा तो वह ठिठक सी गयी–"पापा ने वही कोट पहन रखा था; जिसे रज्जन के रहते उन्होंने छुआ भी नहीं था। सामने कार्डिगन पहने मॉ खड़ी थी, और उन्हें कन्धों से पकडे, कार्डिगन के एक–एक हिस्से को अँगुलियों से टटोलते हुए पापा पूछ रहे थे, "इसका रंग कैसा है,

नीला।''[108] यह है आज की पीढ़ी का दुःख दर्द जो व्यक्ति को सम्बन्धों के प्रति इतना निरीह एवं अकेला बनाये हुए है।

अस्तित्व रक्षा और उत्कट जिजीविषा के कारण पारिवारिक विघटन

आज का व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति बड़ा ही चिन्तित है, जिंदगी में वह चारों ओर से संकट ग्रस्त है फिर भी वह जीने का मोह नहीं त्याग सका है। वह जिन्दगी की अनेक विसंगतियों को भोगता हुआ जीवन के बहुस्तरीय संत्रास का अनुभव कर रहा है। वह दिशाहीन व्यक्तित्वहीन एवं मानसिक दृष्टि से भी हीन है। वह जीवन के अभावात्मक स्वरूप को झेलता है। फिर भी जीना चाहता है, जीता चला जाता है, उसकी जिजीविषा का आखिर रहस्य क्या है जो इतने सारे अभावपूर्ण जीवन तथ्यों के बीच से गुजरता हुआ वह हर घड़ी हर समय मृत्यु से झगड़ता है। जिन्दा चिपका रहना चाहता है। ऐसे समय में किसी प्रकार की विकलांगता उसके जीने की आकांक्षा को कुचल नहीं सकती। वस्तु सत्य से परे एक आन्तरिक सूक्ष्म अनुभूति के सहारे वह जिन्दगी के डरावने मार्ग का अतिक्रमण करता है। इस प्रक्रिया से शायद यही एक मात्र तथ्य स्पष्ट होता है कि मनुष्य कटा हुआ होकर भी कटा हुआ नहीं है। वह अपने अस्तित्व का जिममेदार नहीं होगा, लेकिन अस्तित्व में होने के बाद उसे भोगता ही है और निरंतर अन्तर्बाह्य द्वन्द्वों का सामना करता हुआ आगे बढ़ता है, अपने या किसी और के बनाये हुए जालों में फंसता है, फिर उन्हें तोड़ता है, फिर फँसता है।! यही उनकी नियति है। इसी में उसका चेतनत्व समाया हुआ है।

धर्मवीर भारती की कहानी 'गुल की बन्नो' में इस स्थिति का चित्रण यथार्थ रूप में देखने को मिलता है। कहानी की नायिका गुलकी है जो अपनी जिन्दगी में हर तरफ से परेशान है पर फिर भी वह जीना चाहती है जिस पति ने गुलकी पर इतने जुल्म ढाये हैं अन्त में वह उसी के साथ चली जाती है। नायक चंदन की यह विवशता है कि वह जीने के लिए बाध्य है और इस जीने की उत्कट लालसा में वह सर्वत्र निस्सारता का अनुभव करता है और इस स्थिति में रहते हुए व्यक्ति के व्यवहार में इतनी जडता और यान्त्रिकता आ जाती है कि वह संवेदन शून्य हो जाता है। कमलेश्वर की 'खोई हुई दिशाएं' कहानी में इसका स्पस्ट रेखांकन किया गया है।

गुलकी बन्नो

'गुलकी बन्नो' धर्मवीर भारती द्वारा लिखित एक परम्परागत भारतीय नारी की कहानी है उसका परिवेश भी जाना पहचाना है किन्तु लेखक इस जाने–पहचाने ससार को ही एक विशेष ढंग से रचकर विशिष्ट बना देता है। गुलकी पति एवं समाज दोनों से उपेक्षित है। पति से उसका नारीत्व उपेक्षित है एवम् अन्य पड़ोसियों से उसका व्यक्तित्व। घेंघा बुआ और ड्राइवरनी अपने अतीत शोषण और भावी शोषण के कारण ही गुलकी को सहानुभूति देती हैं। उपेक्षित भिखारी बच्चे उससे कुछ पाने की आशा में पास आते–जाते हैं। उन्हें जब कुछ नहीं प्राप्त होता है तो उसकी वे भयानक उपेक्षा करने लगते हैं। गुलकी दुःखी रहती है क्योंकि उसके पति ने दूसरी शादी कर ली है और उसे वापस अपने गाँव भेज दिया है। गुलकी की संवेदना सरल नहीं है उसके भीतर से कभी–कभी उभरने वाली ऊर्जा उसकी वेदना को संक्रान्त बना देती है। सहज रूप में दिखने वाली सारी स्थितियाँ और मनः स्थितियाँ उस समय बड़ी जटिल हो जाती हैं जब गुलकी का पति उसे लेने आता है। गुलकी पति का नववधू की भाँति स्वागत करती है दूसरे घटनाक्रम में ड्राईवर एवं ड्राइवरनी लालच देकर गुलकी का घर उसके पति से अपने नाम करा लेते हैं। इस कहानी के दूसरी कहानी एक विद्रोही नारी की भी चलती रहती है जो पति को देवता न मानकर सहयोगी मानती है और उसके साथ वही व्यवहार करना पसन्द करती है जैसा कि दूसरे पक्ष के द्वारा किया जाता है। कहानी का अंत गुलकी के समानान्तर एक विदाई के साथ समाप्त होता है और उसके सम्मान में मुहल्ले के लोग एवम् उपेक्षित बच्चे आगे आकर गा उठते हैं। 'बन्नो डाले दुपटुटे का पल्ला, मुहल्ले से चली गई राम', इसी के साथ मानवीय ममता एक बिन्दु पर रुक जाती है किन्तु पशु उससे भी आगे बढ़ जाता है इसलिए इक्के के साथ केवल झबरी कुतिया कुछ दूर जाकर रुक जाती है और लौट आती है।

पत्नी–पति के टूटते सम्बन्धों और नारी के पुनः उन सम्बन्धों को बनाने की ललक को 'गुलकी बन्नो' कहानी में देखा जा सकता है गुलकी पुरानी मान्यताओं की शिकार है, वह उनसे उबर नहीं पाती है। पति का दोष होते हुए भी वह अपने को दोषी स्वीकार करती है। वह पति से पुनः सम्बन्ध स्थापित करना चाहती है। गुलकी का पति उसे लेने आया है वह भी इस शर्त पर कि वह उसकी दूसरी पत्नी की टहल करेगी–"इसे ले तो जा रहा हूँ, पर कहे देता हूँ, कि आप भी समझा दें उसे–कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की न पूत की। हमारे कौन काम की, पर हाँ औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू–बुहारू करे तो दो रोटी खाय पडी रहे। पर

कभी उससे जबान लडाई तो खैर नहीं। हमारा हाथ बडा जालिम है। एक बार कूबड निकला, तो अगली बार प्रान ही निकलेगा।"[109] भारतीय परम्परा में पति परमेश्वर वाली छवि लिए हुए गुलकी का पति ऐसा रोब झाड़ता है कि जैसे यह उसकी विरासत का अभिन्न अंग हो, गुलकी भी इसी पुरानी संस्कारो की छवि लिए जिये जा रही है क्योंकि पति ही एक ऐसा पतवार है जिसे थामे वह साहिल तक पहुचेंगी वह इसे बिना किसी झिझक के स्वीकार भी करती है–"कुछ भी होय, है तो अपना आदमी! हारे–गाढे कोई और काम आवेगा? औरत को दबाकर ही रखना चाहिए।....पति से हमने अपराध किया तो भगवान ने बच्चा छिना लिया, अब भगवान हमें क्षमा कर देंगें।....'क्षमा करेंगे तो दूसरी सन्तान देंगे? खोट तो हमीं में है। फिर सनतान होगी तो सौत का राज नहीं चलेगा।"[110] गुलकी की यह सती–सावित्री वाली स्थिति भारतीय परिवारों के पुराने संस्कारों को मार्मिक स्तर तक पहुँचाती है क्योंकि गुलकी का पारिवारिक संघर्ष ही ऐसा है कि उसे आश्रय देने वाला भी कोई नहीं है उसकी यह नियति अपने परिवेश से भी तो विरासत में मिली हुई है क्योंकि घेघा बुआ और निरमल की माँ भी उसे यही शिक्षा देती हैं तभी तो निरमल की मॉ कहती हैं– "अरे बिटिया! पर गुजर तो अपने आदमी के साथ करेगी न। जब उसकी पत्नी आयी है तो गुलकी को जाना चाहिए और मरद तो मरद। एक रखैल छोड़ दुइ–दुइ रखैल रख ले तो औरत उसे छोड देगी? राम! राम! ... अरे, बेटा! बुआ बोली, 'भगवान रहे न ! तोन मथुरा पुरी में कुब्जा दासी के लात मारिन तो आकर कूबर सीधा हुइ गवा। पती तो भगवान है बिटिया! ओको जाइ देव।"[111]

गुलकी बन्नो में जहाँ एक ओर गुलकी पुराने संस्कारों को स्वीकार कर उसमें चिपकी रहती है और इसे ही अपनी नियति मान बैठती है परन्तु गुलकी की एक सहेली सत्ती साबुनवाली है यह आधुनिक नारी है अपने अनुसार जीती एवं खाती पीती है और पति को परमेश्वर न मानकर पैर की जूती मानती है। सत्ती को गुस्सा आता है कि गुलकी का पति उसे सेवा सुश्रुषा के लिए ही क्यों विदा कराने आया है–"सत्ती गरज रही थी–"बुलाया है तो बुलाने दो! क्यों जाय गुलकी? अब बड़ा ख्याल आया है। इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी झाडू–बुहारू करे, खाना बनावै, बच्चा खिलावै और वह मरद का बच्चा गुलकी की आँख के आगे रखैल के साथ गुलछर्रे उड़ावै।"[112] सत्ती का यह आक्रोश आज के बदलते परिवेश एवम् पारिवारिक जीवन के परिवर्तन की ओर संकेत दे रहा है कि अब वह सब नारी के साथ नहीं चल सकता है जो पहले से चला आ रहा है अब उसे पत्नी के साथ–साथ कदम बढाकर चलना होगा, क्योंकि वह बराबर का 'पार्टनर' है इसलिए सत्ती गुलकी को कहती है कि

उसे अपने पति के साथ वही बर्ताव करना चाहिए जो उसने गुलकी के साथ किया है–"सत्ती दो–एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरजकर बोली, 'यही कसाई है। गुलकी आगे बढकर मार दो चपोटा इसके मुँह पर। खबरदार, जो कोई बोला! बुआ चट से देहरी के अंदर हो गयी, निरमल की माँ की जैसे घिग्घी बँध गयी और वह आदमी हडबडाकर पीछे हटने लगा।"[113] बदलते पारिवारिक सन्दर्भों का यह रूप है कि नारी ने अब अपने बारे में सोचना ही नहीं कार्यरूप में परिणित करने का वीणा भी उठा लिया है। गुलकी को समाज की पहचान यथार्थ में हो गयी है और वह अपनी चाची निरमल की माँ तथा घेघा बुआ के कृत्यों को भलीभाँति जानती है साथ ही वह यह भी जानती है कि जब तक उसके पैर हाथ चलेंगे तभी तक उसका कल्याण है नहीं तो साथ देने वाला भी इस जहान में कोई नहीं है इसलिए सत्ती का प्रतिरोध होने पर भी गुलकी अपने आदमी के प्रति सहानुभूति रखती है–"हाय, हमें काहे को छोड दियौ! तुम्हारे सिवा हमरा लोक–परलोक और कौन है! अरे हमरे मरे पर कौन चुल्लू भर पानी चढ़ाई।"[114] ऐसा नहीं कि गुलकी में पति के प्रति स्नेह नहीं है, कितना भी उसने सताया, पर यहाँ आने पर उसमें एक अजीब संकोच एवं उत्साह उसके प्रति हो गया है–"लज्जा भरी जो मुस्कान किसी भी तरुणी के चेहरे पर मनमोहक लाली बनकर फैल जाती, वह उसके झुर्रियोंदार, बेडौल, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से वीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड गये, आँखों के कोने मिचमिचा उठे और अत्यन्त कुरुचिपूर्ण ढंग से उसने पल्ले से सिर ढाँक लिया और पीठ सीधी करके जैसे कूबड छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबडी ने पहले इधर–उधर देखा, फिर फुस–फुसाकर मेवा से कहा, क्यों रे, जीजाजी कैसे लगे तुझे।"[115] गुलकी का यह उत्साह एवम् सम्बन्धों की पुनर्प्राप्ति कितनी ताजी एवम् शालीन है कि उसे अपने ऊपर किये गये सभी जुल्म फीके नजर आते हैं शायद इसका यह कारण है कि यहाँ भी गुलकी को अपने पति से अधिक प्रताड़ना महसूस होती है। पति के घर जाते समय गुलकी अपनी पूर्वस्मृतियों में खो जाती है–"गुलकी जो अभी तक पत्थर सी चुप थी, सहसा फूट पड़ी। उसे पहलीबार लगा जैसे वह मायके से जा रही है–मायके से.... अपनी माँ को छोड़कर... छोटे भाई–बहनों को छोड़कर...और वह अपने कर्कश फूटे हुए गले से विचित्र स्वर में रो पड़ी।.... हाय रे मेरे भइया! अब हम जा रहे हैं। अब किससे लडोगे मुन्ना भइया? अरे मेरे वीरन, अब किससे लड़ोगे।"[116]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि "यहाँ आधुनिकता पर प्राचीनता हावी है धर्मवीर भारती पुराने संस्कारों को जीवंत रखना चाहते हैं यह उनकी नारी विषयक

अवधारणा भी हो सकती है, परन्तु यहाँ पति–पत्नी के टूटते हुए सम्बन्ध और नारी की पुनः उन सम्बन्धों को बनाने की ललक का चित्रण है। सम्बन्धों की पुनर्स्थापना की ललक है। किन्तु सम्बन्धों का चित्रण नहीं। पुनर्स्थापना की ललक भी बौद्धिक स्तर की न होकर भावुकता के स्तर की है।"[117]

खोयी हुई दिशाएँ

'खोयी हुई दिशाएँ' में कमलेश्वर ने अपनी पहचान खोते हुए व्यक्ति का समग्र मूल्यांकन किया है। लेखक की हैसियत से नायक चंदर तीन साल पहले इलाहाबाद से दिल्ली आया है। इस बात का कोई इशारा नहीं है कि नौकरी से कितनी सुरक्षा या अपनी योग्यता को लेकर नायक चन्दर को कोई आश्वासन मिलता है या नहीं। शहर में भटकते हुए वह शहर के बे–चेहरा होने या जान–पहचान के न होने से दुःखी है। वह पुराने परिचितों में तलाश खोजता है परन्तु उन लोगों के अजनबीपन के व्यवहार से खिन्न हो जाता है। चंदर को अपनी क्षमता और अस्मिता का वह एहसास नहीं है जिसके द्वारा मानवीय सम्बन्धों में पहलकदमी करने में मदद मिलती है। वह आश्वासन के लिए दूसरों पर निर्भर है, अपने भीतर झाँकने से डरता है इसके लिए वह स्वयं को दोषी भी समझता है। कहानी का अन्त चन्दर के घर में पत्नी के चिर–परिचित दायरे में सिमट कर रह जाने में समाप्त होता है क्योंकि वह पत्नी के साथ होने पर भी खुद को वहाँ नहीं पाता है और पूछता है कि तुम (पत्नी से) मुझे पहचानती हो, क्या निर्मला (पत्नी) तुम मुझे पहचानती हो।

कहानी 'खोयी हुई दिशाएँ' में पारिवारिक जीवन के विलुप्त होते हुए सम्बन्धों की ओर लेखक संकेत करता है। महानगरीय जीवन का अकेलापन है। यान्त्रिक दिनचर्या, खालीपन, बेगानगी और अजनबीपन इस कहानी में संवेदना के रेशों सहित मुखरित हो उठे हैं। कहानी के नवयुवक चंदर के माध्यम से स्थिति के उस यथार्थ का विश्लेषण किया गया है जहाँ वर्तमान शिक्षा पद्धति निस्सार है और प्रेम विवशता सब बेगाने हैं। अपनी पहचान खत्म होने के खतरे को नायक चन्दर महसूस करता है। शहर में भटकते हुए वह शहर के बे–चेहरा होने या जान–पहचान के न होने से दुःखी है:–

"आस–पास से सैकड़ों लोग गुजरते हैं, पर कोई उसे नहीं पहचानता। हर आदमी या औरत लापरवाही से दूसरों को नकारता या झूठे दर्प में डूबा हुआ गुजर जाता है।"[118] ये वे लोग हैं जो मिथ्या दंभ के मारे हैं, असुरक्षा के कारणों के विश्लेषण की इनमें कहीं कोई कोशिश नहीं है। यह व्यक्ति अपने ऊपर तरस खाने में ही डूबा हुआ है। विश्लेषण के अभाव में वह उस स्थान की यादों की डोर पकड लेता है जहाँ मन में

यह सब नहीं आता था। और तब उसे अपना शहर याद आता है जहाँ से तीन साल पहले चला आया था। गंगा के सुनसान किनारे पर भी अगर कोई अनजान मिल जाता तो उसकी नजरों में पहचान की एक झलक तैर जाती थी। सम्बन्धों के विलुप्त या विघटन को यहाँ नहीं उठाया गया है कि उस शहर में हर अनजान आदमी क्या ऐसी ही पहचान करेगा? हो सकता है कि उसके अपने शहर में बहुत–से दरबाजे बन्द रहे हों, पर चूँकि बहुत से दरवाजे खुले थे, इसलिए बंद दरवाजों की तरफ ध्यान नहीं जाता था। बहरहाल दिल्ली में उसे लगता है कि मानवीय सम्बन्धों के बीच बहुत–सी दीवारें हैं–"तमाम सड़के हैं जिन पर वह जा सकता है, लेकिन वे सड़कें कहीं नहीं पहुँचाती। उन सड़कों के किनारे घर हैं, बस्तियाँ हैं–पर किसी भी घर में वह नहीं जा सकता। उन घरों के बाहर फाटक हैं जिन पर कुत्तों से सावधान रहने की चेतावनी है, फूल तोड़ने की मनाही है और घण्टी बजाकर इन्तजार करने की मजबूरी है।"[119] चन्दर नयी दिशाएँ खोजने और नये मित्र बनाने की सम्भावनाओं पर कोई भी विचार नहीं करता। जिस दिन का वर्णन कहानी में है उस दिन वह कई बार एकाकीपन और अलगाव को तोडने का प्रयत्न करता है। मगर इसके लिए सान्त्वना वह मुख्यतः उन्हीं लोगो से प्राप्त करना चाहता है जो उसकी जान पहचान के हैं। वह एक परिचित स्कूटर वाले के स्कूटर में बैठता है, मगर वह है कि पहचान का कोई चिन्ह नहीं दिखलाता, उलटे यात्रा के अन्त में ज्यादा किराया माँगने लगता है।

आज का आदमी हर तरह से अपने को अपरिचित महसूस कर रहा है किसी का अनादर, अपमान उसे कम कष्ट दे सकता है। उसके कष्ट का सबसे बडा बिन्दु है अपरिचय–जो उसे अपने परिचितों के बीच मिल रहा है तभी तो 'खोई हुई दिशाएँ' का प्रधान विक्षिप्त सा हो जाता है, जब उसकी पूर्व परिचिता उससे यह पूछती है कि आप चाय में कितनी चीनी पसन्द करते हैं–एक या डेढ चम्मच! यही आज के आदमी की संवेदना का बिन्दु है जहाँ पर वह स्वयं को परम्परागत आदर्शों से एकदम कटा हुआ और अलग पाता है। चन्दर अपनी पुरानी परिचिता मित्र इन्द्रा के पास जाता है जो अब विवाहित है, पर वहाँ भी उसे बेगानापन महसूस होता है "नौकरानी आकर चाय रख गयी। इन्द्रा ने प्याले सीधे करके चाय बनायी तो वह उसकी बाँहों, चेहरे और माथे को देखता रहा..... सब कुछ वही था, वैसा ही था.... चिर–परिचित। तभी इन्द्रा ने पूँछा, "चीनी कितनी दूँ? और एक झटके से सब कुछ बिखर गया, उसका गला सूखने–सा लगा और शरीर फिर थकान से भारी हो गया। माथे पर पसीना आ गया। फिर भी उसने पहचान का रिश्ता जोड़ने की एक नाकाम कोशिश की और बोला, "दो

चम्मच'। और उसे लगा कि अभी इन्द्रा को सब कुछ याद आ जायेगा और वह कहेगी कि दो चम्मच चीनी से अब गला खराब नहीं होता।"[120] पहचान खोने का एक और मौका टी–हाऊस में भी आता है जहाँ एक अजनबी पूछता है–"आप... आप तो शायद कामर्स मिनिस्ट्री से है? मुझे याद पडता है कि.... चन्दर कहता है, 'नहीं मैं कामर्स मिनिस्ट्री में कभी नहीं था।"[121] यह आदमी सम्बन्ध बढाने की कोशिश नहीं करता। "ऑलराइट, पार्टनर, फिर कभी मुलाकात होगी।"[122] महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि चन्दर खुद भी इस मौके को पकड़कर बातचीत आगे– चलाने या सम्बन्ध बढ़ाने की कोई पहल नही करता। हॉ, दोष अवश्य दूसरे व्यक्ति को देता है।

चन्दर को अपनी क्षमता और अस्मिता का वह एहसास नहीं है जिसके द्वारा मानवीय सम्बन्धों की पहल कदमी में मदद मिलती है। वह आश्वासन के लिए दूसरों पर निर्भर है, अपने भीतर झॉकने से डरता है। एक अरसा हो गया, एक जमाना गुजर गया, वह खुद अपने से नहीं मिल पाया। लेकिन इसके लिए दोषी वह अपनी व्यस्त दिनचर्या को ठहराता है– "यह भी नहीं पूछा कि आखिर तेरा हाल–चाल क्या है और तुझे क्या चाहिए? हल्की सी मुस्कराहट उसके होठों पर आयी और उसने हर शुक्रवार के आगे नोट किया–खुद से मिलना है –शाम सात बजे से नौ बजे तक.. और आज भी तो शुक्रवार ही है। यह मुलाकात आज ही होनी चाहिए। घडी पर नजर जाती है, सात बजा है पर मन का चोर हावी हो जाता है। क्यों न टी–हाऊस में एक प्याला चाय पी ली जाये? न जाने क्यों मन अपने से मिलने में घबराता है। रह–रहकर कतराता है।"[123] लगता है कि चन्दर की मूलभूत समस्या आन्तरिक शक्ति की अनुपस्थिति और कही ं बाहर से ही सहारा लेने की स्थिति है। दोष अपने–आप में शहर का नहीं है। हाँ, इसमें रहते हुए वह उन सब सुरक्षाओं से वंचित हो गया है जो उसे अपने शहर में अनायास मिला करती थीं, क्योंकि वहाँ कोई उसे पहचानता था।

कहानी के अन्त में चन्दर घर और पत्नी के चिर परिचित दायरे में सिमट आया है। पत्नी के साथ सम्बन्ध स्थापित करनेमें उसे क्षणिक पलायन सुख मिलता है–"वह उस परिचित गन्ध, परिचित सांसों और पहचाने स्पर्शों में डूबता जाता है'..... उतरता हुआ ज्वार उसे फिर अकेला छोड़े जा रहा है ..... अनजान तटों पर छोड़ी हुई सीपी की तरह।"[124] पत्नी सो जाती है तो वह एक बार फिर एकाकीपन और निरर्थकता के एहसास से त्रस्त होने लगता है। पत्नी को जगाकर झकझोरते हुए वह पूछता है–"मुझे पहचानती हो? मुझे पहचानती हो, निर्मला।"[125] डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार–"एक कस्बे का आदमी बड़े शहर में आकर किस तरह भटकन, सूनेपन को

महसूस करता है उसके लिए स्थिति और दृष्टि दोनों किस तरह बदल जाती हैं यह कमलेश्वर की कहानी का मूल स्वर है।"[126]

चन्दर की अलगाव प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। वह वास्तव में शहर लोग और स्वयं अपने प्रति अपनेपन के अभाव से पीडित है, लेकिन अभी उसके पास उस पुराने स्थान की सम्बन्धों की गहरी स्मृतियाँ हैं जहाँ वह अपनापन महसूस किया करता था। अब भी उसे मानवीय सम्बन्धों की गहरी जरूरत है और आशा करता है कि अपने को संभाल ले जायेगा। इस प्रकार यह कहानी सीमित सामाजिकता को वृहत्तर सामाजिकता से जोडती है। चन्दर का दर्द कोई सामान्य दर्द न होकर, व्यवस्था जन्य परिस्थितियों से उत्पन्न आर्थिक और सांस्कृतिक दबावों का चेतना जन्य दर्द है जिनकी दिशाएँ खो चुकी हैं।"[127]

सन्दर्भ

1. कहानीः नई कहानी, पृ0 36
2. हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य, पृ0 197
3. आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ, पृ0 102
4. कहानी–नयी कहानी, पृष्ठ 44
5. कहानी आज की कहानी, पृ0 36
6. परिन्दे, पृ0 165
7. परिन्दे, पृ0 191
8. परिन्दे, पृ0 191
9. डॉ0 नामवर सिंह–कहानी–नयी कहानी, पृ0 95
10. कहानी नयी कहानी, पृ0 49–50
11. दोपहर का भोजन, पृ0 116
12. हिन्दी कहानी का विकास, पृ0 168
13. दोपहर का भोजन, पृ0 113–14
14. दोपहर का भोजन, पृ0 120–21
15. नयी कहानी की भूमिका, पृ0 158
16. वापसी, पृ0 200
17. वापसी, पृ0 203
18. वापसी, पृ0 198

19. हिन्दीः चर्चित कहानियाँः पुनर्मूल्यांकन, पृ0 143
20. वापसी, पृ0 201
21. वापसी, पृ0 203
22. वापसी, पृ0 202–03
23. वापसी, पृ0 201
24. वापसी, पृ0 201
25. वापसी, पृ0 195
26. वापसी, पृ0 204
27. आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति, पृ0 360
28. कहानी नयी कहानी, पृ0 204–05
29. हिन्दी कहानीः पहचान और परख, पृ0 230
30. शेष होते हुए, पृ0 65
31. शेष होते हुए, पृ0 65
32. शेष होते हुए, पृ0 65
33. शेष होते हुए, पृ0 66
34. शेष होते हुए, पृ0 67
35. शेष होते हुए, पृ0 71
36. शेष होते हुए, पृ0 75
37. शेष होते हुए, पृ0 75
38. शेष होते हुए, पृ0 68
39. शेष होते हुए, पृ0 75
40. शेष होते हुए, पृ0 76
41. हिन्दी कहानी, पृ0 258
42. सम्बन्ध, पृ0 142
43. सम्बन्ध, पृ0 144
44. सम्बन्ध, पृ0 142
45. सम्बन्ध, पृ0 142–143
46. सम्बन्ध, पृ0 145
47. सम्बन्ध, पृ0 144

48. सम्बन्ध, पृ0 143
49. हिन्दी कहानी का विकास, पृ0 178
50. हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृ0 132–33
51. मछलियाँ, पृ0 105
52. हिन्दी कहानी: अलगाव दर्शन, पृ0 82–83
53. हिन्दी कहानी पहचान और परख, पृ0 115
54. नई कहानी—नये प्रश्न—सन्त बख्श सिंह, पृ0 115
55. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन, पृ0 90
56. नन्हों, पृ0 352
57. हिन्दी की नई कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ0 224
58. नन्हों, पृ0 353
59. नन्हों, पृ0 355
60. नन्हों, पृ0 356
61. हिन्दी कहानी का विकास, पृ0 103
62. नन्हों, पृ0 351
63. नन्हों, पृ0 356
64. नन्हों, पृ0 356
65. हिन्दी की नई कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—मिथलेश रोहतगी, पृ0 184
66. यही सच है, पृ0 243
67. हिन्दी कहानी अपनी जबानी – डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, पृ0 145
68. यही सच है, पृ0 248
69. हिन्दी कहानी एक नयी दृष्टि – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 145
70. नई कहानी का विकास—मधुरेश, पृ0 111
71. मित्रो मरजानी, पृ0 10
72. मित्रो मरजानी, पृ0 19
73. हिन्दी कहानी का विकास – मधुरेश पृ0, 113
74. मित्रो मरजानी, पृ0 19
75. मित्रो मरजानी, पृ0 18
76. मित्रो मरजानी, पृ0 12

77. मित्रो मरजानी, पृ0 95
78. मित्रो मर जानी, पृ0 92
79. मित्रो मरजानी, पृ0 94
80. मित्रो मरजानी, पृ0 57
81. मित्रो मरजानी, पृ0 56
82. हिन्दी कहानी में जीवन, मूल्य पृ0 244
83. हिन्दी कहानी का विकास, मधुरेश, पृ0 87
84. टूटना, पृ0 308
85. टूटना, पृ0 311
86. टूटना, पृ0 311
87. टूटना, पृ0 311
88. टूटना, पृ0 320
89. हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा, पृ0 258
90. हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृ0 146
91. सेलर, पृ0 326
92. सेलर, पृ0 329
93. सेलर, पृ0 326
94. सेलर, पृ0 331
95. हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृ0 114
96. सेलर, पृ0 333
97. सेलर, पृ0 334
98. हिन्दी की नयी कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन, पृ0 223
99. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी–'ज्ञानरंजन की कहानियॉं' (लेखक), सत्य प्रकाश मिश्र (सं) 'कहानीकार ज्ञानरंजन', पृ0 114
100. पिता, पृ0 15
101. पिता, पृ0 16
102. पिता, पृष्ठ 16, 17
103. पिता, पृष्ठ 19
104. एक नाव के यात्री, पृ0 338
105. एक नाव के यात्री, पृ0 338

106. एक नाव के यात्री, पृ0 339

107. एक नाव के यात्री, पृ0 325

108 एक नॉव के यात्री, पृ0 346

109. गुलकी बन्नो, पृ0 162

110. गुल की बन्नो, पृ0 162

111. गुल की बन्नो, पृ0 159

112. गुलकी बन्नो, पृ0 159

113. गुलकी बन्नो, पृ0 160

114. गुलकी बन्नो, पृ0 161

115. गुलकी बन्नो, पृ0 161

116. गुल की बन्नो, पृ0 163

117. हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य–डॉ0 रमेशचन्द्र लबानिया, पृ0 237

118. खोयी हुई दिशाएँ, पृ0 139

119. खोई हुई दिशाएॅ ,पृ0 139–40

120. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 147

121. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 144

122. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 144

123. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 142

124. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 149

125. खोयी हुई दिशाएॅ, पृ0 150

126. हिन्दी कहानी अपनी जबानी–डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, पृ0 110

127. कमलेश्वर तीन दशकों के बीच एक वैचारिक यात्रा (लेखक), मधुकर सिंह (सं0) 1977 दिल्ली शब्दकार, पृ0 61

तृतीय अध्याय

हिन्दी उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन का बीज

परीक्षा गुरू, सेवासदन, निर्मला, भूले बिसरे चित्र, झूठा सच, मेरी तेरी उसकी बात, कंकाल, सन्यासी, सफेद मेमने, गबन, त्यागपत्र, शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप, गुनाहों का देवता, दिव्या

तृतीय अध्याय

हिन्दी उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन का बीज

उपन्यास अपने जन्म से ही भारत मे तथा विश्व साहित्य में विघटनकारी तत्वों के रूप में जाना जाता है। प्रेमचन्द्र पूर्व, प्रेमचन्द युग तथा प्रेमचन्दोत्तर काल में स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों में तीव्रगति से बढता हुआ आक्रोश एवम घुटनमयी मनःस्थिति की छाप आभाषित हो रही है। इसका मूल कारण है– "संयुक्त परिवार का विघटन और विश्रृंखल परिवारों का उत्थान, जिसमें पति पत्नी के जीवन मूल्यों में नवीन परिवर्तन सम्भव हो सका है।"[1] सापेक्ष दृष्टि से अवलोकन किया जाये तो स्पष्ट होता है आज पति–पत्नी के नैतिक मूल्यों में अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है और आज के स्त्री एवम पुरूष सम्बन्धों की रूढिवादिता त्यागकर नवीन परिवेश मे स्वतंत्र व्यक्तित्व की साधना में व्यस्त दृष्टिगत होते हैं। दोनों ही अपने–अपने अधिकारों के प्रति अत्यन्त सचेत व सजग हो चुके हैं। आधुनिक युग में पति–पत्नी के सम्बन्धों में वह कडाई न रही जो प्राचीनकाल में थी। आज न पत्नी के लिए पति देवता है और न पति के पत्नी देवी।

उपन्यास के चरित्र में पारिवारिक विघटन की दृष्टि से अवलोकन करने पर इसके पाँच रूपों का यहॉ जिक्र करना महत्वपूर्ण है क्योंकि 'परीक्षागुरू' से लेकर वर्तमान समय के उपन्यासों मं पारिवारिक विघटन के बीज बिन्दु पर्याप्त रूप में दृष्टिगत होते हैं। पारिवारिक विघटन के कतिपय रूप इस प्रकार है।

1. यर्थायवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन।
2. मार्क्सवादी यथार्थवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन।
3. व्यक्तिवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन।
4. व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन।
5. ऐतिहासिक यथार्थवादी स्ण्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन।

यथार्थवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन

साहित्य में यथार्थवाद का स्वरूप निरूपण प्रायः दो प्रकार से किया जाता है प्रथमता तो किसी यथार्थवादी सर्जक की विशिष्ट प्रवृत्तियों का विवेचन किया जाता है और फिर उन्हीं के आधार पर यथार्थवाद का स्वरूप निर्धारण और द्वितीयतः यथार्थवाद का सैद्धांतिक उल्लेख कर साहित्यकार में उसके समायोजन

को देखा जाता है। क्योंकि – "यथार्थवादी साहित्कार वह है जो (1) सुन्दर और समुचित विषयों को सायास निरस्तकर भद्दी और असंगत वस्तुओं का चित्रण करता है (2) जो वर्ग के स्थान पर व्यक्ति का वर्णन करता है और (3) जो वास्तव को तद्रूप ही प्रतिरूपित करता है।"[2] तथा "साहित्य में यथार्थवाद वह प्रवृत्ति है जिसका लक्ष्य जीवन और प्रकृति का निष्ठामय सर्वांग पुनर्प्रस्तुतीकरण है। यह प्रवृत्ति सुन्दरता के लिए तथ्यों के आदर्श चित्रण को, अभिव्यक्ति के शैलीकरण को तथा आध्यात्मिक और आधिभौतिक विषय–वस्तु के चित्रण को निरस्त करती है।"[3] अथवा "यथार्थवाद वह साहित्यिक विचार–सरणि है जो वस्तु के चयन एवं सृजन के माध्यम से पाठक के वास्तविक बोध को बढाती है।"[4]

इस प्रकार स्पष्ट है कि यथार्थवादी साहित्यकार अपने उपन्यास में जीवन की वास्तविकता को अपने सृजन में सर्वोपरि महत्व देता है औरइस हेतु वह 'सुन्दर' सुसंगत और आदर्श की परवाह नहीं करता, वह अपने वास्तविकता बोध को सम्पन्न करे– फिर भले ही वह कलात्मक न हो। यथार्थवादी उपन्यासकार समाज के वास्तविक प्रश्नों समस्याओं और चिंताओं को उद्घाटित करने हेतु उन समस्त सामजिक विकृतियों, कुरूपताओं और विद्रूपों को अपने लेखन की विषय वस्तु बनाता है, जिन्हें अन्य सर्जक सुन्दर सुष्ठु आदर्श और कलात्मक न होने से त्याग देते हैं।

पारिवारिक विघटन की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की नैतिकता और आदर्श के प्रति उपेक्षा और तथ्याश्रित सत्य के प्रति मोह की भावना वस्तुतः प्रेमचंद के समय से पूर्व भी आरम्भ हो चुकी थी और इसमें स्पष्ट रूप से अभिव्यक्ति प्रेमचंद युग में साफतौर से देखी जा सकती है और 1947 ई0 के बाद यह बद्धमूल हो गयी। "राकेश पूर्व युग के यथार्थवादी उपन्यास लेखकों ने इसे दो रूपों में प्रयुक्त किया। प्रथमतः तो वे उपन्यासकार थे जो जीवन और उसकी समस्याओं को बिना किसी राजनीतिक मतवाद का आश्रय लिए हुए यथातथ्य रूप में प्रस्तुत करते थे और दूसरे वे लेखक थे जो समाज के यथार्थ को मार्क्सवाद के दृष्टिकोण से चित्रितकर साम्यवाद के प्रचार करने और वर्ग–संघर्ष को उभारने और अंततः सर्वहारा क्रान्ति के द्वारा समाज–व्यवस्था को बदलने में विश्वास रखते थे। ऐसे औपन्यासिकों के समक्ष उपन्यास रचना (अथवा साहित्य) एक साधन मात्र के रूप में थी। वे कृति और उसके सृजन से साम्यवाद अथवा वैचारिक सर्वहारा सामाजिक क्रांति के साध्य को प्राप्त करना चाहते थे।"[5] यही प्रथम प्रकार के उपन्यासकार ही जीवन जगत का यथा तथ्य अंकन कर सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में

हिचकते नही है। 'परीक्षागुरू' सेवा सदन 'निर्मला' एवं 'भूलेबिसरे चित्र' यथार्थवादी पारिवारिक विघटन के उपन्यास हैं।

परीक्षागुरू

लाला श्रीनिवास दास ने 'परीक्षगुरू' के माध्यम से समकालीन यथार्थ को तत्कालीन परिवेश में चित्रित किया है यह पहला सामाजिक उपन्यास है, इस उपन्यास के परिवेश में कुछ विदेशी व्यापारी, स्वदेशी व्यापारी, भिन्न–भिन्न देशों के लोग तथा इन सबके आपसी सम्बन्ध और रंग–ढंग, कचहरी, हवालात, रईसी दरबार इनसे सम्बन्धित घटनाएं और प्रसंग आये हैं नैतिकतामूलक उपदेशवादिता उपन्यास की औपन्यासिक संरचना में उभरती है। इक्तालीस अध्यायों के शीर्षक से उसके आरम्भ में दिये गये दोहों या कविताओं से हर प्रसंग के साथ संवाद के माध्यम से आने वाले देश–विदेश की कहानियों और घटनाओं के उदाहरणों से और सदपात्रों द्वारा जगह–जगह की गयी सामाजिक आलोचनाओं से परीक्षागुरू भरा पड़ा है।

लाला मदन मोहन एक पुराने रईस आदमी हैं औरउनके सहयोगी उन्हें उल्टी सीधी सलाह देकर उनका सम्पूर्ण धन उल्टे सीधे कार्यों में लगवाकर खर्च करवा देते हैं, परन्तु इन सबके बीच उनका एक सच्चा हितैषी मित्र ब्रजकिशोर आधुनिक चेतना सम्पन्न पात्र है उसके पास विवेक दृष्टि है। लाला मदन मोहन के अनाप–शनाप खर्चों के कारण वे दिवालिया हो जाते हैं और उनकी मददके लिए उनका कोई भी मित्र उनके पास नहीं भटकता है अन्त में उनकी पत्नी तथा मित्र ब्रजकिशोर की मदद से उनका संकट हल होता है। 'परीक्षागुरू उस समय का उपन्यास है जब खड़ी बोली का गद्य साहित्यिक रूप लेने का प्रयत्न कर रहा था। इसलिए इसकी भाषा का स्वरूप बहुत कुछ अनगढ है। इसमें संवेदनाओं और प्रसंगों से उत्पन्न होने वाले विविध कोण और रंगनहीं है, एक सपाट एक रसता है। इसमें आये शब्द आज की दृष्टि से अशुद्ध कहे जा सकते हैं किन्तु ये उस समय की दृष्टि से शुद्ध कहे जायेंगे। आज भी इन शब्दों का उच्चारण उसी रूप में होता है। जिस रूप में ये शब्द लिखे गये हैं।

परीक्षागुरू हिन्दी का पहला महत्वपूर्ण उपन्यास माना गया है। सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से इसमें पारिवारिक विघटन के बीज बिन्दु दिखते हैं। उन्नींसवीं शती के उत्तरार्द्ध भारतेन्दु युग में हिन्दी के प्रथम उपन्यास परीक्षागुरू (1882) का प्रकाशन होता है। भारतेन्दु से प्रेमचंद तक, प्रेमचंद से जैनेन्द्र तक और जैनेन्द्र से आज तक आधुनिक हिन्दी उपन्यास के तीन विकास क्रम स्पष्ट

लक्षित है। भारतेन्दु से प्रेमचंद तक का प्रारम्भिक काल केवल इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है कि उसमें आधुनिक हिन्दी उपन्यास का जन्म और शैशवोचित विकास हुआ। प्रेमचंद से जैनेन्द्र तक का द्वितीयकाल ही वस्तुतः वह उल्लेख्य समयावधि है जिसमें आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्यिक और कलात्मक दृष्टि से परिनिष्ठता को प्राप्त हुआ। तृतीय कालक्रम– जैनेन्द्र से आज तक हिन्दी के आधुनिक औपन्यासिक कृतित्व का ऐसा युग है। जिसमें वह प्रौढता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बाद उन नूतन क्षितिजों के अन्वेषण में संलग्न है जो उसे विश्व उपन्यास साहित्य में सादर प्रतिष्ठित करेंगे। भारतेन्दु से स्वतन्त्रता–प्राप्ति तक हिन्दी उपन्यास अपने आरंम्भिक राष्ट्र–राज्य जाति, धर्म गौरव के अनुवादों–छायानुवादों, प्रसाद–प्रेमचंद–युगीन इतिवृत्तात्मकता, सोद्देश्यता तथा यथार्थवादिता और जैनेन्द्र–अज्ञेय युगीन दार्शनिकता, मनोवैज्ञानिक वायवीयता के विविध स्तरों को पारकर चुका था। हिन्दी उपन्यास के ये विविध स्तर उसके रचना–जगत की प्रगति के परिचायक थे और साथ ही आने वाले रचनाकारों के लिए एक समृद्ध परम्परा निधि थी।

डॉ0 रामदरश मिश्र के अनुसार– "इसमें हमारे समाज को बरबाद करने वाले अनेक दोषों– जुआ, शराब, , नृत्य, झूठा प्रदर्शन, चाटुकारिता, प्रेम आदि का पर्दाफाश करते हुए सच्ची राह पर चलने की शिक्षा दी गयी है। परिवेश–चित्रण के क्रम में लेखक ने देशी विदेशी पात्रों की जागरूकता का अंतर भी स्पष्ट किया है। उसने पं0 पुरूषोत्तम दास की मूर्खता के माध्यम से पुराने पांडित्य का मजाक भी उड़ाया है।"[6] वहीं दूसरी ओर परीक्षागुरू के बारे में डॉ0 गोपालराय का दृष्टिकोण इस प्रकार है– "इस कथा के अधिकांश पात्र जीते जागते मनुष्य न होकर किसी नकिसी 'गुण' या 'दोष' के प्रतीक हैं। लाला मदनमोहन अपव्यय के उनके सभासद 'खुशामद' के लाला ब्रजकिशोर सदुपदेश और सच्ची मित्रता के तथा मदनमोहन की पत्नी पतिवृत्य का उदाहरण है। इन प्रतीकों से वार्तालाप तथा कार्य कराकर लेखक ने पाठकों को यह उपदेश दिया है कि खुशामद पसंद, अपव्ययी, दंभी, झूठा, आत्मसम्मान चाहने वाला तथा कामचोर व्यक्ति कभी भी सुखी नहीं हो सकता।"[7] पारिवारिक विघटन एवम सम्बन्धों में आये परिवर्तन इन्हीं पांच बिन्दुओं को लेकर परीक्षा गुरू में सभी पात्रों को परेशान करते रहते हैं। लाला मदनमोहन एक बिगड़ा हुआ रईस है। समय–समय पर बिना अपनी आमदनी का हिसाब किताब रखे आधुनिक मंहगी वस्तुओं को खरीदता रहता है औरअपनी वास्तविकता से अनजान होकर गर्व का अनुभव करता है तभी तो मदनमोहन का मित्र ब्रजकिशोर उससे प्रश्न रूप में एक सवाल पूछता है– "आपके

पिता का परलोक हुआ जबसे आपकी पूंजी में क्या घटा बढी हुई? कितनी रकम पैदा हुई ? कितनी अहंद (बर्बाद) हुई कितनी गलत हुई, कितनी खर्च हुई इन बातों का किसी ने विचार किया है? आमदनी से अधिक खर्च करने का क्या परिणाम है? कौन सा खर्च वाजबी है, कौन गैर वाजबी, मामूली खर्चे के बराबर बंधी आमदनी कैसे हो सत्ती है? इन बातों पर कोई दृष्टि पहुँचाता हैं? मामूली आमदनी पर किसी की निगाह है? आमदनी देखकर मामूली खर्चे के वास्ते हरेक सीगे का अंदाजा पहले से कभी किया गया है, गैर मामूली खर्चों के वास्ते मामूली तौर पर सीगेवार कुछ रकम हरसाल अलग रक्खी जाती है? बिना जाने नुक्सान, खर्च और आमदनी कम होने के लिए कुछ रकम हर साल बचाकर अलग रक्खी जाती है। पैदावार बढाने के लिए वर्तमानसमय के अनुसार अपने बराबर वालों की कारवाई देशदेशान्तर का बृतान्त और होनहार बातों पर निगाह पहुँचाकर अपने रोजगार धंधे की बातों में कुछ उन्नति की जाती है। व्यापार के तत्वक्या हैं, थोड़े खर्च, थोड़ी महनत और थोड़े समय में चीज तैयार होनेसे कितना फायदा होता है इन बातों पर किसी ने मन लगाया है? उगाही मैं कितने रूपे लेने हैं।, पटने की क्या सूरत है, देनदारों की कैसी दशा है मियादके कितने दिन बाकी हैं इनबातों पर कोई ध्यान देता है? नौकर कितनें हैं तनख्वाह क्या पाते हैं, काम क्या करते हैं उनकी लियाकत कैसी है, कारवाई कैसी है, उन्की सेवा का आप पर क्या हक है उन्के रखने न रखने में आपका क्या नफा नुक्सान है इन बातों को कभी आपने मन लगाकर सोचा है"[8] ब्रजकिशोर के इस कथन में लालामदन मोहन की जिन्दगी के बारे में कितना जीवंत यथार्थ का पुट है यदि ऐसे व्यक्ति का परिवार चल रहा है तो इसमें ईश्वर की कृपा मुख्य होगी।

लालामदन मोहन के चाटुकार उसे हमेशा उल्टी सीधी सलाह देते रहते हैं और मुँहदेखी बातें करते रहते हैं एवं मदनमोहन की विलासवृत्ति को जगाते रहते हैं। समय–समय पर ब्रजकिशोर मदन मोहन का उद्‌बोधन करने का प्रयत्न करता है परउसकी चल नहीं पाती। इस पर प्रो0 शशिभूषण सिंहल की टिप्पड़ी है कि – "मदन मोहन और ब्रजकिशोर उपन्यास में क्रमशः पाश्चात्य कृत्रिम प्रभाव से बिगडे और जागरूक युवकों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनका चरित्र परस्पर तुलनीय है। कथा–धारा के मूल में प्रवाहित ये परस्पर विरोधी चारित्रिक तत्व उसे गतिशील बनाते हैं।"[9] अपने चाटुकारसभासदों से घिरे लाला मदन ने मानो इन सब के समक्ष अपनी निजता खो दी है, लेखक पांचों दरबारियों का चित्र खींचता हुआ लिखता है– "मुंशी चुन्नीलाल ब्रजकिशोर के यहाँ दस रूपे महीने का नौकर था इस्का मन लिखने पढ़ने में कम लगता था, पर इसनें

बडी–बडी पुस्तकों में से कुछ,कुछ बातें ऐसी याद कर रक्खी थी कि नये आदमी के सामने झड बांध देताथा स्वार्थपरता के सिवाय परोपकार की रुचि नाम को न थी। पर जबानी जमा खर्च करने और कागज के घोडे दौडाने में यह बडा धुरंधर था। जोड तोड की बातों में यह इयागो (शेक्सपियर कृत आथेलो नामक नाटक का खलनायक) का अवतार था।''[10] ''मास्टर शिंभूदयाल प्रथम लाला मदनमोहन को अंग्रेजी पढ़ाने के लिये नोकर रक्खा गया था''[11] पढाना भूलकर दोनों में दोस्ती हो गयी और शिंभूदयाल उनके दरबारी हो गये। पंडित पुरषोत्तमदास के मन में डाह बडी प्रबल है– ''लोगों को धनवान, प्रतापवान, विद्वान, बुद्धिमान, सुन्दर, तरूण, सुखी और कृतिकार्य देखकर इन्हें बडा खेद होता था''[12] अपने दुखिया चित्त को धैर्य देने के लिए अच्छे–अच्छे मनुष्यों के छोटे–छोटे दोष ढूंढा करते हैं, किसी के यश में कोई कलंक लग जाने पर ये बडे प्रसन्न होते है। ''हकीम अहमद हुसैन बड़ा कम हिम्मत मनुष्य था इस्को चुन्नीलाल और शिंभूदयाल से कुछ प्रीति न थी परन्तु उनको कर्ता समझकर अपने नुक्सान के डर से यह सदा उनकी खुशामद किया करता था। उन्हीं को अपना सहायक बना रक्खा था।''[13] बाबू बैजनाथ ईस्ट इन्डियन रेलवे कम्पनी मैं नौकर था और अंग्रेजी अच्छी पढा है। हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और। लोभ मे मदन मोहन का दरबारी बन गया है। ऐसे मित्रों के साथ रहकर मदन मोहन को ठकुरसुहाती सुनने और फिजूल खर्च करने की लत पड गई है, वह पत्नी और सच्चे मित्र ब्रजकिशोर की एक नहीं सुनता और ऋण में डूबकरदिवालिया हो जाता है औरसम्बन्धों की वफादारी निभाने वाले उसके सभासद उसको छोड़कर चले जाते हैं अन्त में पत्नी एवम ब्रजकिशोर ही उसे जेल से निकालकर एक नया जीवन एवम संगठित परिवार चलाने की सलाह देता है।

'परीक्षागुरू' एक शिक्षाप्रद उपन्यास है। इसमें यह दिखाया गयाहै कि एक धनी व्यक्ति किस प्रकार अपने चापलूस मित्रों के फेर में पड़कर ऋणी होकर दुःख पाता है तथा अन्त में एक ईमानदार मित्र की सहायता से उसका कल्याण होता है। परिवारिक सम्बन्धों के विघटन की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण आयाम उपस्थित करता है एवम इसमें उपदेशात्मक आख्यानों के माध्यम से नायक को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में रखकर श्री निवास दास ने एक नया प्रयोग कियाहै साथ ही ऐसी अनेक घटनाओं एवं पात्रों का सृजन किया है जो वर्तमान समय की दस्तक का आवाहन करती हैं– ''मिस्टर ब्राइट की दूकान में लाला मदन मोहन का अपने खुशामदी दोस्तों के साथ सौदा खरीदना।''[14] ''ब्राइट की ठगचाल''[15] चुन्नीलाल, शिम्भूदयाल पुरूषोत्तम दास आदि द्वारा लाला मदन मोहन की

खुशामद। "मदन मोहन का अपने खुशामदी मित्रों द्वारा कूटा जाना।"[16] "मदन मोहन की विलास प्रियता तथा फिजूल खर्ची।"[17] "बिना कुछ किये लाला मदन मोहन की यशप्राप्ति की अभिलाषा"[18] हरकिशोर द्वारा लोगों में मदनमोहन की साख कम करने का प्रयत्न, लाला मदन मोहन पर तकाजा होना, दिवाला पिटने पर मदन मोहन के मित्रों का छोडकर भाग जाना, नौकरो की लूटखसोट आदि घटनाएँ वास्तविक संसार की सामान्य घटनाएँ हैं। जो वर्तमान काल में परिवारों में विघटन के बिन्दुओं को पैदा करती हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि केन्द्रीय विचार, उसके दृष्तान्तीकरण तथा चित्रित जीवन में वैशिष्ट्य के अभाव के कारण 'परीक्षागुरू' उपदेशाख्यान की कोटि में आता है, पर पात्रों और उनके कार्यों की यथार्थता, वस्तुशिल्प की नवीनता और भाषा सम्बन्धी यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण आधुनिक उपयास के अधिक निकट है।

सेवासदन

संयुक्त परिवार के आदर्श के समर्थक होकर भी प्रेमचंद्र ने उसके व्यावहारिक स्वरूप, संयुक्त परिवार में पलने वाली छोटी–छोटी ईर्ष्याओं, पारिवारिक मान–मर्यादा के झूठे–खोखले प्रतिमानों, प्रतिबन्धों में जकडे दाम्पत्य जीवन के असन्तोष, विधवाओं की दयनीय स्थिति, विमाता के तिरस्कार पूर्ण निर्दयी व्यवहार का चित्रण करने में कोई कोताही नहीं की है। 'सेवा सदन' के सुमन की असंतुष्ट जीवन से बनने तक की यात्रा हो या 'निर्मला' के अनमेल विवाह और दहेज प्रथा की दुखांत कहानी हो चाहे झूठे प्रतिमानों के कारण 'गबन' की विवशता हो– प्रेमचंद सब कही संयुक्त परिवार के वर्तमान वषम्य को अपनी पैनी लेखनी से उधाड़कर रखदेते हैं। इस सबके पीछे प्रेमचंद का उद्देश्य संयुक्त परिवार को आघात पहुंचाना या उसकी उपयोगिता कम करना नहीं है। वस्तुतः पारिवारिक तनावों के चित्रण के माध्यम से वे परिवार को छिन्न–भिन्न करने वाली स्थितियों की ओर संकेत करते हैं और उनका परिमार्जन करा चाहते हैं।

प्रेमचंद द्वारा लिखित 'सेवासदन' (1918) में सुमन का पिता दारोगा कृष्ण चंद एक ईमानदार आदमी है। सुमन की शादी के लिए पैसे न जुटा सकने के कारण वे घूस लेते हैं औरपकड़े जाने पर जेल की सजा हो जाती है। दहेज के अभाव में सुमन एक दरिद्र अपात्र गजाधर से व्याह दी जाती है। अपात्र पति की ताडना, संशय के दंश और सुमन की मानसिक प्रतिक्रियाओं ने उसे बनने को मजबूर किया। पति गजाधर द्वारा निकाल दिये जाने पर सुमन को एक वेश्या

भोली के यहाँ शरण मिलती है। क्योंकि उसे समाज सुधारक पद्मसिंह ने आश्रय नहीं दिया। कथानक की त्रासदी वहाँ और गम्भीर हो जाती है, जब सुमन की बहन शान्ता का विवाह पद्मसिंह के भतीजे सदन सिंह से नहीं हो पाता है। सदनका पिता दरवाजे से बारात इसलिए वापस ले जाता है कि शान्ता की बहन एक है। सुमन और शान्ता को जब नारी सुधार गृह में भी शरण नहीं मिलती है तब वह वहाँ से जाने का असफल प्रयास करती है बीच में उन्हें सदन जो दोनों बहनों से अभीषित प्रेम करता है और अपने द्वारा कमाये गये पैसों से उनकी देखरेख करने का वायदा करता है। कथानक के अन्त में सदन तथा शान्ता अपने माता–पिता द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है और सुमन ने एक सुधार आश्रम स्थापित कर छोटे–छोटे बच्चों को निःशुल्क शिक्षा एवं रोजगार देना आरम्भ कर दिया है।

'सेवासदन' में प्रेमचंद जी ने दहेज–प्रथा और अनमेल विवाह की समस्या चित्रित की है। आर्थिक विषमता समाज का सबसे बडा अभिशाप है। वह अन्य समस्या–सूत्रों को बुनती हुई दीखती है। तथापि अंतरंग रूप में यह विघटन समाज की विभिन्न असंगतियों, अशक्तियों और जीवन मूल्यों के पतन के कारण होताहै। जीवन के भ्रमजालो की परिधि में विघटन का एक सैलाब उमड आया है, जिसमें सेवासदन की जीवनगत संवेदनाओं और जीवनगत नियति के संदर्भ आन्दोलित प्रतीत होते हैं जो विविध पार्श्वों में मानवीय संवेदनाओं के पहलुओं को व्यक्त करते हैं। "राशि वर्ण ठीक हो जाने पर जब लेन–देन की बातें होने लगतीं, तब कृष्ण चंद्र की आँखों के सामने अंधेरा छा जाता था। कोई चारहजार सुनाता, कोई पाँच हजारऔर कोई इससे भी आगे बढ जाता। बेचारे निराश होकर लौट आते।"[19] दहेज देने के लिए कृष्ण चंद्र रिश्वतलेते हैं– "देख लिया, संसार में सन्मार्ग पर चलने का यह फल होता है। यदि आज मैंने लोगों को लूटकर अपना घर भर लिया होता, तो लोग मुझसे सम्बन्ध करना अपना सौभाग्य समझते, नहीं तो कोई सीधे मुँह बात नहीं करता है।"[20] रिश्वत लेते हुए कृष्ण चंद्र पकड़े जाते है। और सजा के तौर पर जेल जाना पड़ता है। बेटी के दहेज ने एक परिवार की बलि चढा दी।

अनमेल विवाह की जडें मूलतया अर्थ से जुडी होती हैं क्योकि सेवासदन में दोनों परिवारों में विभाजन इसी अर्थ ने कराया। चूँकि सुमन के पिता कृष्ण चंद जेल में थे। मामा उमानाथ ने किसी तरह से बर खोजकर सुमन के हाथ पीले कर देने चाहे और सोलह वर्षीया सुमन का विवाह तीस वर्ष से भी अधिक आयु वाले दुहाजू गजाधर प्रसाद के साथ कर दिया जाता है।– इस विवाह

से सुमन खुश न थी, परिणाम स्वरूप आपसी तनाव ने सुमन को गजाधर से अलग कर दिया। अनमेल विवाह की दूसरी शिकार सेवासदन की भोली नामक वेश्या है वह मॉ–बाप के पारम्परिक पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति विद्रोह कर स्वच्छ्द जीवन का वरण करती है। भोली वेश्या सुमन से कहती है– "हम कोई भेड़ बकरी तो हैं नहीं कि मॉ–बाप जिसके गले मढ दे, बस उसी की हो रहें..... मेरे बाप ने भी मुझे बूढ़े मियाँ के गले बॉध दिया था। उसके यहॉ दौलत थी और सब तरह का आराम था, लेकिन उसकी सूरत से मुझे नफरत थी। मैंने किसी तरह छः महीने तो काटे, आखिर निकल खड़ी हुई"[21] डॉ0 रक्षापुरी के शब्दों में– "सेवासदन की सुमन गृहिणी के गुरूदायित्व को निभा नहीं पाती, क्योंकि विवाह से पूर्व उसे दाम्पत्य जीवन के लिए शिक्षित नहीं किया गया।"[22] अभिभावकों ने यदि सुमन को कुशल गृहणी के लक्षण बताये होते तो शायद सुमन गजाधर के साथ बेहतर ताल मेल भिड़ा सकती थी। प्रेमचंद लिखते हैं– "हम अपने गार्हस्थ जीवन की ओर से कितने बेसुध हैं, उसके लिएकिसी तैयारी, किसी शिक्षाकी जरूरत नहीं समझते, गुड़िया खेलने वाली बालिका, सहेलियों के साथ विहार करने वाली युवती, गृहणी बनाने के योग्य समझी जाती है। अल्हण बछडे के कन्धे पर भारी जुॅआ रख दिया जाता है ऐसी दशामें यदि हमारा गृहस्थ जीवन आनन्दमय न हो तो कोई आश्चर्य नहीं।"[23]

वैचारिक तालमेल के अभाव में गजाधर एवं सुमन का विखराव होता है। सेवासदनमें गजाधर प्रसाद कृपण प्रवृत्ति का व्यक्ति है और सुमन खर्चीली प्रवृत्ति की स्त्री है। इसलिए दोनों विपरीत दिशाओं में चलते हैं सुमन जिह्वा रस भोगने के लिए गजाधर प्रसाद से कपट तक करती है परिणाम स्वरूप गजाधर प्रसाद की सारी कमाई खाने पीने में उड जाती है– "उसका संचयशील ह्रदय इस खा पी बराबर दशा से बहुत दुःखी रहता था। उस पर सुमन उसके सामने फूटे कर्म का रोना रोकर उसे और भी हताश करदेती थी। उसे स्पष्ट दिखाई देता था कि सुमन का ह्रदय मेरी ओर से शिथिल होता जाता है।.....अतएव वह अपने प्रेम और परिश्रम से फल न पाकर उसे अपने शासनाधिकार से प्राप्त करने की चेष्टा करने लगा। इस प्रकार रस्सी में दोनों ओर से तनाव होने लगा।"[24]

सेवासदन में पारिवारिक विघटन सुमन के पति गजाधर प्रसाद के द्वारा सुमनको घर से बाहर निकालने पर चरम रूप ग्रहण कर लेता है। पति–पत्नी में सामंजस्य उसी स्थान ही पर हो सकता है जब वे एक दूसरे की रूचियों का ख्याल रखे। परन्तु सुमन ने गजाधर की स्थितियों को गहराई से नहीं पहचाना। सुमन पति के नौकरी पर चले जाने पर दिन भर घर में नहीं रहती थी साथ ही

वेश्या के यहाँ जाकर बातचीत करती थी, यह बात उसके पति गजाधर को उचित नहीं लगती थी। फलस्वरूप उसे शक होने लगा। "यह झोपडी तेरे रहने योग्य नहीं है। तेरे हौसले बढ रहे हैं। अब तेरा गुजर यहाँ न होगा।"[25] सुमन वह नारी नहीं जो अपने को दबित शोषित महसूस करे, वह महसूस करती है कि "पुरूष स्वामी उसी स्त्री की इज्जत करते हैं जो किसी एक की दासी नहीं है जो इस हद तक अपनी स्वामिनी है कि अपना तन बेच सकती है। जिस समाज की स्त्रियों में वेश्यायें ही स्वाधीन न हों और पुरूष उन्हीं को सम्मानित करें, ऐसे समाज के भविष्य की कल्पना की जा सकी है।"[26] सुमन की पुरूष मानसिकता की इस सोच ने उसे वेश्या बनने पर मजबूर कर दिया। और वह स्वच्छन्दता तथा वर्जनाहीन जीवन जीने लगी।

सुमन की कथा के साथ एक सहायक कथा चलती है। शर्मा परिवार की, चुनार के मदन सिंह शर्मा के छोटे भाई पं० पद्म सिंह शर्मा काशी में वकील हैं। मदन सिंह का लडका सदन भी काशी आता है। यहाँ उनका परिचय 'सुमनबाई' से होता है। सदन का विवाह शांता से तय होता है। शांता सुमन की छोटी बहन है, यह बात की शांता सुमन वेश्या की छोटी बहन है बारात बिना विवाह किये ही वापस लौट जाती है। सामाजिक भय तथा मर्यादावादी दृष्टिकोण की स्थिति ने सुमन एवं शान्ता की जिन्दगी तबाह कर दी, समाज के ठेकेदार पद्मसिंह ने सामाजिक बदनामी के कारण सुमन को पनाह न दी क्योंकि इससे उनकी बदनामी हो रही है वकील पद्मसिंह का नौकर सुमन को साहब का फर्मान सुनाता है– "ताकती क्या हो, वकील साहब का हुक्म है कि आज ही यहाँ से चली जाओ। सारे देश भरमें बदनाम कर दिया, तुमको लाज नहीं है, उनको तो नाम की लाज है।"[27] डॉ० राम विलास शर्मा इस पर टिप्पड़ी करते हुए कहते हैं कि "सुमन पं० पद्मसिंह के यहाँ आश्रय पाना चाहती है पर समाज के भय से वह उसे नहीं रखते।"[28] इस मर्यादा ने सुमन को वेश्या तो बनाया ही उसकी बहन शान्ता भी विवाह से वंचित कर दी गयी। वह इसलिए कि ये समाज के मगरमच्छ उसे वेश्या की बहन मानते हैं जो दिन में तो इसका विरोध करते हैं, परन्तु रात में वेश्याओं के तलुये सहलातें हैं। लेकिन समाज की मर्यादा के रखवालों ने दोनों बहनों को विधवाश्रम में भी न रहने दिया। "भूतपूर्व वेश्या (सुमन) के सम्पर्क से विधवाओं के सतीत्व के लिए भय उत्पन्न हो गया। दोनों बहनों को आश्रम छोड़ना पड़ा।"[29]

डॉ० रामविलास शर्मा अपने कथन को स्पष्ट करते हुए लिखते हैंकि "समाज ऊपर से वेश्या को जितना पतित बताता है, भीतर से उससे उतना ही प्रेम करता है, घर की स्त्री को जितना पुस्तकों में आदर देता है, वस्तु जगत में उतना

ही घृणा करता है।"[30] सदन के पिता का शान्ता से शादी न करनेका फैसला नारी विषयकधारणा पुरूष मानसिकता की सामंती प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है जो पुरूष परम्परा की सतत धारा की ओर भी इशारा करता है।

सेवासदन पारिवारिक विघटन की दृष्टि से नारी समस्या का उपन्यास है एक ऐसी नारी जो समाज की सम्पत्ति व्यवस्था के रक्षकों द्वारा अलग थलग कर दी जाती है। प्रेमचंद ने इस प्रथम मौलिक उपन्यास के माध्यम से नारी के प्रति पुरूष की सामंती मानसिकता पर एक प्रश्न चिन्ह लगाया है इसमें प्रेमचंद विघटन का कोई उत्तम निष्कर्ष नहीं दे पाये हैं और एक स्त्री इतना अत्याचार एवं कठिनाइयों का अंत तक निर्णायक मुकाबला करती है परन्तु उसका निदान नहीं ढूँढ पाती। हाँ सामाजिक सम्बन्धों की अवहेलना करने क लिए उसे (सुमन) इतना कठोर दंड दिया जाता है, कि दूसरा व्यक्ति कभी इन नियमों को तोडने की अवहेलना न कर सके।

निर्मला

'निर्मला' उपन्यास में प्रेमचंद ने दहेज की समस्या को मार्मिक रूप मे अभिव्यक्त किया है। पिता उदयभानुलाल की मृत्यु हो जाने पर माता कल्याणी को अपनी पुत्री निर्मला का विवाह मनोनीत वर के वजह बूढे विधुर वकील तोताराम से करना पड़ता है। तोताराम की पहली पत्नी से तीन पुत्र हैं– मंसाराम, जियाराम, सियाराम। परन्तु इस पर भी उनका भोगी मन चैन नहीं पाता। वे नवयुवती निर्मला को व्याह कर घर ले आते हैं। दोनों की आयु, स्वास्थ्य और स्वभाव में असह्य विषमता है। इससे निर्मला की मनःस्थिति बहुत ही विचित्र हो गयी है। पति की शंकालु प्रवृत्ति एवं रूक्मिणी ननद के ताने एवम तीनों पुत्रों का असह्य निधन निर्मला को तोड़कर रख देता है। वहीं दूसरी तरफ पति तोताराम का निर्मला और उसकी बच्ची को भाग्य भरोसे छोड़कर चले जाना निर्मला को नितांत अकेला कर देता है।

तोताराम की इस अनुपस्थिति में ही निर्मला के जीवन में एक और परीक्षा की घड़ी आती है, उसकी सहेली सुधा के पति और स्वयं निर्मला के मंगेतर डॉ0 भुवन द्वारा फैलाये गये प्रेम–जाल के रूप में। सुधा निर्मला की छोटी बहन कृष्णा का विवाह अपने देवर से करा देती है औरगुप्त रूप से अपनी सहेली की गरीब माँ की भी सहायता करती है। परन्तु उसी सुधा का पति डॉ0 भुवन मोहन एक दिन निर्मला को अकेले में पाकर आत्म संयम खो बैठताहै।जब सुधा को

इसका पता लगता है, तो वह अपने पति की ऐसी लानत–मलानत करती है किडॉ भुवन मोहन आत्मघात कर लेताहै।

निर्मला के जीवन की वेदना तो उसके अंतिम समय में एकाएक मुखर हो उठती है। शरीर और मन से बुरी तरह टूटी हुई निर्मला की मृत्यु सन्निकट है वह अपनी पुत्री को ननद रूक्मिणी को सौंप रही है, जिसने निर्मला को सदैव कष्ट दिया। अंत समय में रूक्मिणी से उसका सिर्फ यही निवेदन है कि लड़की का विवाह अच्छे कुल से कियाजाय नहीं क्वांरी या विष देकर मार दीजिएगा। उपन्यास के अन्त में निर्मला की मृत्यु हो जाती है और मुहल्ले के लोग सोच रहे हैं कि इसका अंतिम संस्कार कैसे होगा, इसी समय एक बूढा पथिक बकुचा लटकाये आकर खड़ा हो जाता है और यह हैं मुंशी तोताराम।

निर्मला उपन्यास एक अनमेल विवाह की कथा कहता है पारिवारिक विघटन के बिन्दु मुख्य रूप से आर्थिक समस्या तथा दाम्पत्य जीवन की कटुता पर केन्द्रित हैं वैसे, घटना क्रम की दृष्टि से देखा जाय तो यह एक नारी समस्या केप्रश्नों को उठाता है। समस्या दहेज की कुप्रथा से जन्म लेती है। दोनों की आयु, स्वास्थ्य और स्वभाव में असह्य विषमता है। इससे निर्मला कीमनःस्थिति बहुत ही विचित्र हो गयी है– "बांका सवार बूढे लद्‌दू टट्‌टू पर सवार होना कब पसन्द करेगा, चाहे उसे पैदल ही क्यों न चलना पड़े। निर्मला की दशा उसी बांके सवार की सी थी। वह उस पर सवार होकर उड़ना चाहती थी, उस उल्लासमयी विद्युत गति का आनंद उठाना चाहती थी, टट्‌टू के हिनहिनाते और मनौतियां खडी करने से क्या आशा होती।"[31] फिर भी निर्मला जैसे–तैसे अपने मन को समझाकर तोताराम की दिवंगत पत्नी के बच्चों में अपनेआपको व्यस्त रखने लगती है। लेकिन निर्मला तोताराम के लिए तो सिर्फ भोग की सामग्री है। उसके लिए उनमें लालसा है। वे उसे रिझाने, बहलाने मनाने का प्रपंच करते रहते हैं। परन्तु दाम्पत्य जीवन का जो आधार है, वह सहज विश्वास वे निर्मला को नहीं दे पाते। वय की विषमता से पनपी हीन–भावना और पुरूष की अधिकार भावना वाली पारस्परिक दृष्टि से ग्रस्त तोताराम न तो नवयुवती पत्नी की उमंगों, आकाक्षाओं को समझ पाते हैं, और न ही वे प्रेम द्वारा उसका हृदय जीतने का प्रयत्न करते हैं।

डॉ0 रामविलास शर्मा के शब्दों में– "सभी कुटुम्बों में दूसरे विवाह का ऐसा शुभ परिणाम नहीं होता। कभी–कभी नव विवाहहित की अतृप्त कामवासना परिवार के लिए भयंकर द्वन्द्व का कारण होती है। पति के प्रति क्रोध यदि सौतेले लड़के पर निकाला गया तो भली–भला पर यदि वह बना रहा औरसौतेले लड़के पर क्रोध के स्थान में प्रेम हो गया तो समाज की मर्यादा और

प्रकृति की प्रेरणा का संघर्ष या तो विमाता यालडका या पति, एक न एक या सभी के लिए घातक सिद्ध होता है।"[32] मुंशी तोताराम निर्मला और अपने पुत्र मंसाराम को लेकर संदेहों का एक ऐसा ताना-बाना बुन डालते है कि उनका सारा पारिवारिक जीवन उत्तरोत्तर कुंठित तथा निश्चेतन होकर अंत मे पूरी तरह से विखर जाता है। तोताराम की मनोवृत्ति इतनी कुत्सित और दूषित है कि वे अपने रोगग्रस्त पुत्र मंसाराम को छात्रावास से घर तक नहीं लाते, क्योंकि "घर ले चलने से उन्हें बाधायें ही बाधाएं दिखाई देती थीं, सबसे बड़ा भय यह था कि वहॉ निर्मला इसके पास हरदम बैठी रहेगी, और मैं मना न कर सकूंगा- यह उनके लिए असह्य था।"[33] और इसलिए वह उसको अस्पताल ले जाते है। अंत में मंसाराम की दारूण मृत्यु हो जाती है और निर्मला इस आघात से छटपटाकर रह जाती है।

लेकिन अनमेल विवाहजन्य तनावों और दबावों से ग्रस्त परिवार की दुखद कहानी यहीं समाप्त नहीं होती। तोताराम का दूसरा पुत्र जियाराम घर के बोझिल वातावरण के फलस्वरूप कुसंगति में पड जाता है,और एक दिन अपनी विमाता निर्मला के आभूषण तक चुराकर ले जाता है। बाद में जब चोरी का भेद खुलता है, तो जियाराम पाश्चातापवश आत्म घात कर लेता है; दो भाइयों की अकाल मृत्यु के बाद सबसे छोटा भाई सियाराम के लिए जीवन में आकर्षण जैसी क्या बात रहती? वह एक साधू के चक्कर में पड़कर विरक्त होकर घर से निकल जाता है तोताराम के पुत्रों को बारी-बारी से कथा-मंच से हटाकर प्रेमचंद ने युवा विमाता के आने के बाद वृद्ध भोगी पिता और प्रथम पत्नी द्वारा छोड़ी गयी संतान के बीच निरन्तर शिथिल और क्रमिक रूप से छिन्न-भिन्न होते रागात्मक सम्बन्धों को पूरी तरह से उभार कर रख दिया है। सियाराम के चले जाने के बाद तो जैसे तोताराम की आंखें खुल जाती हैं। एक के बाद दूसरे आघात से दुःखी तोताराम निर्मला और बच्ची को भाग्य भरोसे छोड़कर पुत्र की तलाशमें निकल पडता हैं।

तोताराम की इस अनुपस्थिति में ही निर्मला के जीवन में एक और परीक्षा की घड़ी आती है,। सुधा के पतिऔर स्वयं निर्मला के भूतपूर्व मंगेतर डॉ0 भुवन मोहन द्वारा फैलाये गये प्रेम-जाल के रूप में। जिसमें समय के प्रभाव ने निर्मला को एक बार फिर अपनी सहेली को विधवा की स्थिति में ला दिया।

एक साथ दो परिवारों के दुःखद अंत की इस कथा में प्रेमचंद ने ननद-भाभी के तनावपूर्ण सम्बन्धों का भी चित्रण किया है। ननद रूक्मिणी को निर्मला फूटी आंखें भी नहीं सुहाती। वह अक्सर निर्मला के लिए कष्ट और वेदना के नये-नये अवसर तलाशती रहती है। यूं भी "रूक्मिणी देवी का स्वभाव सारे

ससार से निराला था, यह पता लगाना कठिन था कि वह किस बात से खुशहोती थीं और किस बात से नाराज। एक बार जिस बात से खुश हो जाती थीं, दूसरी बार उसी से जल जाती थीं। अगर निर्मला अपने कमरे में बैठी रहती तो कहतीं कि न जाने कहां की मनहूसिन है, अगर वह कोठे पर चढ जाती या महरियो से बातें करती तो छाती पीटने लगतीं– न लाज है न शरम, निगोडी ने हया भून खायी। अब क्या कुछ दिनों में बाजारमें नाचेगी।"[34]

निर्मला के जीवन की वेदना उसके अंतिम समय में एकाएक मुखर हो उठती है। शरीर और मनसे बुरी तरह टूटी हुई निर्मला की मृत्यु सन्निकट है, वह अपनी निराधार पुत्री को उसी ननद रूक्मिणी को सौंप रही है, जिसने निर्मला को सदैव कष्ट दिया अंत समय में रूक्मिणी से उसका सिर्फ यही निवेदन है– "बच्ची को आपकी गोंद में छोड़े जाती हूँ अगर जीती जागती रहे तो किसी अच्छे कुल में विवाह कर दीजिएगा। .... चाहे क्वांरी रखिएगा, चाहे विष देकर मार डालिएगा, पर कृपात्र के गले न मढ़िएगा, इतनी ही आपसे मेरी विनय है।"[35] जहॉं तक पति तोताराम के प्रति निर्मला की भावना का प्रश्न है, वह अपनी वेदना को व्यक्त करते हुए इतना ही कह पाती है– "स्वामी जी ने हमेशा मुझे अविश्वास की दृष्टि से देखा, लेकिनमैंने कभी मन में भी उनकी उपेक्षा नहीं की। जो होना था, वह हो चुका था। अधर्म करके अपना परलोक क्यों बिगाड़ती। पूर्वजन्म में न जाने कौन–से पाप किये थे जिसकायह प्रायश्चित करना पडा। इस जन्म में कांटे बोती, तो कौन गति होती।"[36]

निर्मला की मृत्यु हो गयी। मुहल्ले के लोग जमा हो गये। लाश बाहर निकाली गयी। कौन दाह करेगा, यह प्रश्न उठा लोग इसी चिंता में थे कि "सहसा एक बूढ़ा पथिक बकुचा लटकाये आकर खडा हो गया। यह मुंशी तोताराम थे।"[37] पुत्र पत्नी से वंचित तोताराम की यह वापसी अपनी ही वृत्तियों से हारे हुए व्यक्ति का आत्म–पश्चाताप भी है औरअपनी उपेक्षित पत्नी निर्मला के अपने अन्तिम दायित्व की सामाजिक स्वीकृति भी।

प्रकृति के साथ यह अत्याचार निर्मला की जान लेकर ही रहता है। पुरूष की मानसिक वासना की तृप्ति के लिए समाज अनुमति देता है, शरीर में अन्य रोगों की भांति दिमाग में वासना का रोग भी पलता रहता है यह रोग उसके लिए ही नहीं आस–पास वालों के लिए भी घातक हो जाता है वह अपने आपको नष्ट कर परिवार के अन्य व्यक्तियों के नाश का कारण बनता है। इस तरह भीतर से समाज जर्जर और खोखला हो जाता है, परन्तु बाहर से उसकी मर्यादा बनी रहती है। मध्यवर्ग की समाज व्यवस्था और उसके आचार–विचार इस सीमा को

पहुँच गये हैं। क्या निर्मला जैसे समाज में रही वह यह समाज नहीं है? या यह इसके मॉडल जैसा।

भूले बिसरे चित्र

'भूले बिसरे चित्र' (1959) भगवती चरण वर्मा की परम्परा का महाकाव्यात्मक उपन्यास है। उपन्यास एक ही परिवार की चार पीढियों में आये सामाजिक परिवर्तन को रेखांकित करता है। उनके प्रतिनिधि हैं क्रमशः मुंशी शिवलाल, ज्वालाप्रसाद, गंगाप्रसाद और नवल चारों पीढियों का साक्षी है ज्वाला प्रसाद। पिता शिवलाल की पीढी उसके पुत्र गंगाप्रसाद की है, जो उसी का विकसित रूप है। ज्वाला प्रसाद तहसीलदार थे, तो गंगाप्रसाद डिप्टी कलेक्टर । पीढ़ियों का सबसे अधिक अंतर चौथी पीढ़ी नवल में दिखती है जिसे ज्वाला प्रसाद केवल निहारता रह जाता है, समझ नहीं पाता। 1880 से 1930 तक फैली आधी शती के सामाजिक परिवर्तन को समेटने वाला यह उपन्यास पारिवारिक परिवर्तनों का एक अनूठा साहित्यिक दास्तावेज है।

पुरानी पीढी के प्रतिनिधि मुंशी शिवलाल फतेहपुर की अदालत में अर्जीनवीस थे। मुंशी शिवलाल विधुर थे एवं पुत्र ज्वालाप्रसाद की शादी जमुना से करवाकर उसे नायब तहसीलादार बनवाने में सफल हो जाते हैं कहारिन छिनकी की सहायता से मुंशी शिवलाल पुत्र के साथ बहू को अफसर बेटे के साथ बाहर भेज देते हैं। यहीं से संयुक्त परिवार के टूटने का बीच वपन होता है। ज्वाला प्रसाद का प्रेम घाटमपुर के लम्बरदार लाला प्रभुदयाल की पत्नी जैदेयी से हो जाता है। क्योंकि लम्बरदार के बरजोर सिंह मारकर स्वयं आत्महत्या कर लेता है। ज्वालाप्रसाद संकट में घिर जाता है। इसलिए मुंशी शिवलाल पुत्र की देखरेख के लिए उसके साथ आ जाता है। इधर चाचा राधेलाल अपने पुत्रों सहित ज्वाला प्रसाद के यहाँ आ जाते हैं क्योंकि राधेलाल एवं उनके पुत्र जालसाज हैं। इसलिए ज्वालाप्रसाद उन्हें समझाता है परन्तु झूठे मुकदमें में ज्वालाप्रसाद के गवाही न देने के कारण मुंशी शिवलाल अपने सिर पर सुराही मारकर आत्महत्या कर लेते हैं। सोरांव प्रवास में रोधेलाल का पूरा परिवार ज्वाला प्रसाद की कृपा में रहता है। परन्तु चचेरे भाइयों की झूठ जालसाजी से खिन्न होकर ज्वाला उन्हें अपनेसे अलग कर लेता है। अब नाभिक परिवार ज्वाला प्रसाद उनकी पत्नी यमुना और गंगा प्रसाद का बचता है।

गंगा प्रसाद की शिक्षा जैदेई करती है और गंगाप्रसाद सीधे बरेली का डिप्टी कलेक्टर बन जाताहै अपने पिता से एक कदम आगे। डिप्टी कलेक्टर

की हैसियत से गंगा प्रसाद ने कई राजनीतिक आन्दोलनों को दबाया है। यही विशेषता उसको कानपुर में प्वाइंट मजिस्ट्रेट बनाकर छेडती है। जैदेयी का पुत्र लक्ष्मीचंद कानपुर मे व्यापार करता है और उसे एक कार भेंट करता है। गंगाप्रसाद का विवाह रूक्मिणी से तथा उससे एक पुत्र नवल तथा पुत्री विद्या पैदा होती है। पिता गंगा प्रसाद की टी0 बी0 से मृत्यु हो जाती है और पुत्र नवल आई0 सी0 एस0 न बनकर एल0 एल0 बी0 करने का विचार करता है औरअगले घटनाक्रम में वह कांग्रेस में शामिल हो जाता है। बहिन विद्या का रिश्ता भी तलाक में परिणित हो जाता है। राजनीति में आने पर नवल की शादी राय बहादुर कामतानाथ की पुत्री उषा से नहीं हो पाती है। विद्या नेअपने ममेरे भाई ज्ञानप्रकाश की प्रेरणा से नौकरी करना स्वीकार कर लिया है क्योंकि उसके पति सिद्धेश्वरी ने दूसरा विवाह कर लिया है, इस दुःख से विद्या की दादी यमुना की मृत्यु हो जाती है। नवल अब पूरी तरह से कांगेस के कार्यक्रमों में सक्रिय भाग लेने लगा है। नमक सत्याग्रह में नवल गिरफ्तार हो जाता है। रह जाते हैं दर्शक बने हुए ज्वाला प्रसाद और भीखू, जो चार पीढ़ियों के लगातार पर्यवेक्षक रहे हैं।

मुंशी शिवलाल ने अपनी पत्नी के मरने के बाद दूसरा विवाह नहीं किया था, यद्यपि उसके नाते रिश्तेदारों ने जोर बहुत दियाथा। उन्होंने यही कहा था, ''लड़का है, बहू है छोटा भाई है और उसका खानदान। इतना सब होते हुए शादी की क्या जरूरत? अब तो अपना बुढ़ापा है और रामजी का नाम। छह महीने पहले ज्वाला प्रसाद का गौना हुआ था और उसकी पत्नी घर आ गई थी। लेकिन घर में राधेलाल की पत्नी का शासन था। जमुना केवल बहू थी। जमुना की अवस्था उस समय सोलह साल की थी।''[38] जमुना थी भी भोली–भाली चचिया सास के शासन में उसका कोई सहारा था, तो छिनकी कहारिन। तीस वर्ष की छिनकी कहारिन, साठ वर्ष के घसीटे की दूसरी पत्नी, मुंशी शिवलाल की चहेती थी। जमुना के प्रति उसके मन में सहज कोमलता है, वह मुंशी शिवलाल से कहती भी है ''देखो, छोटी मालकिन बहू के साथ बड़ी जादती करती हैं। विचारी ज्वाला की बहू कच्ची उमर की, तौन दिन–रात उससे काम लेती हैं। हम पूछित हनकि तुम छोट मालकिन का मना काहे नाहीं करत हौ।' जवाब में संयुक्त परिवार के मुखिया मुंशी शिवलाल का कहना है – ''राधे की बहू कोई परायी थोड़े ही है, घर की मालकिन है, जैसा ठीक समझती है वैसा करती है।''[39] कुशाग्र अदालती बुद्धि और दरबारी हाजिब जवाबी से अपनी रोजी कमाने वाले मुंशी शिवलाल अपने पुत्र ज्वालाप्रसाद को एक अंग्रेज कलेक्टर की अचानक मेहरबानी के फलस्वरूप नायब

तहसीलदार बना हुआ देखकर फूले नहीं समाते। इसी हठात 'वरदान' से मुंशी शिवलाल के कुटुम्ब का भाग्योदय होता है।

ज्वालाप्रसाद अपनी पत्नी यमुना के साथ नौकरी पर चला जाता है और साथ में छिनकी का लड़का भीखू। मुंशीलाल को अस्वस्थता एवम छिनकी के पति घसीटे की मृत्यु से शिवलाल–छिनकी को लेकर ज्वाला प्रसाद के पास चले जाते है। ज्वाला प्रसाद और शिव लाल के जाने से राधेलाल बहुत दुःखी हैं। राधेलाल को यह "भासित हो गया कि जीवन–क्रम में कुछ परिवर्तन आने वाले हैं। उन्हें अपने लड़कों की कुबुद्धि और अकर्मण्यता पर क्रोध आ रहा था, पर उससे भी अधिक जलन हो रही थी उन्हें ज्वाला प्रसाद और उसकी पत्नी के भाग्यसे।"[40]

"संयुक्त परिवार की एक यह विशेषता होती है कि इसमें से यदि एक भी व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से अन्य लोगों से ऊपर उठ जाता है तो सारा परिवार उसी से चिपट जाता हैं।"[41] यही ज्वाला प्रसाद के साथ होता है। ज्वाला प्रसाद के तहसीलदार बनते ही उनके चाचा का पूरा परिवार भी उनके पास रहने के लिए आ जाता है। बहाना यह है कि वे सब बीमार शिवलाल की तीमारदारी करने आये हैं। राधेलाल की पत्नी तो कहती भी है– "दादाजी, तुम्हारी बीमारी की वजह से हम लोगों ने सोचा कि जब तक तुम्हार तबियत ठीक न हुई जाय, तब तक हम लोग तुम्हारी सेवा बर्दास्त करी। रामू और श्यामू फतहपुर मा रहिहैं ही, उनकी बहुएं घर–गिरस्ती देखिहैं। किशनू इहैं है। ईफतहपुर से बिसनू का साथ ले के अइहैं। आखिर बिसनू हू का तो कौनो काम से लगावा चाही, तौन ई कामकाज का प्रबन्ध ज्वाला कर सकत है"[42] स्वाभाविक रूप से राधेलाल और उसके परिवार के इस निर्णय से यमुना का माथा ठनकता है। वह अपने पति से कहती भी है, लेकिन ज्वालाप्रसाद भी तो आखिर संयुक्त परिवार के संस्कारों से बंधा हुआ है उसका कहना है कि – "तो फिर इसमें कौन सी ऐसी बेजा बात है। यहां रहकर दोनों लड़के ढ़ंग से लग जायेंगे और बप्पा का मन भी बहल जायेगा।"[43] ज्वाला प्रसाद के पास आकर उसके चाचा और चचेरे भाई सब कुछ करने की छूट पा लेते हैं। झूठ, जालसाजी तक में वे लोग नहीं हिचकिचाते। बल्कि इसमें वे ज्वाला प्रसाद को भी शामिल करना चाहते हैं। लेकिन ज्वाला प्रसाद दृढ़ हैं। ले–देकर मामला संयुक्त परिवार की प्रतिष्ठा का बन जाता है। मुंशी शिवलाल भी राधेलाल की तरफदारी करते हुए ज्वालाप्रसाद से फतहपुर के मुकदमें में झूठी गवाही देने को कहते हैं और ज्वालाप्रसाद के इनकार करने पर मुंशी शिवलाल अपने सिर पर सुराही दे मारते हैं।सुराही का यह बार मुंशी के लिए प्राणघातक सिद्ध होता है।

शिवलाल की मृत्यु से संयुक्त परिवार भी अन्तिम सांसें गिनने लगा है। परिवार के नये मुखिया राधेलाल हैं। शिवलाल के श्राद्ध के बहाने उनका पूरा परिवार फतेहपुर से ज्वालाप्रसाद के पास सोरांव आ जाता है। अब राधेलाल का पूरा परिवार ज्वालाप्रसाद पर आश्रित है। आश्रित ही नहीं, वे लोग ज्वाला की कमाई में से ज्यादा से ज्यादा हड़पने पर उतारू हैं। पिता की मृत्यु के बाद ज्वालाप्रसाद भी अब पहले जैसा नहीं रह गया है, अब उसे चाचा एवं अपने चारो ओर का वातावरण अजनबी लगने लगा था।

ज्वालाप्रसाद के "चाचा मुंशी राधेलाल का पूरा परिवार वहाँ मौजूद था। तहसीलदार का वह हवेली नुमा मकान उन्हें छोटा और तंग दिख रहा था अपने ही घर में मानों उनका अस्तित्व लुप्त हो गया था।"[44] इतने पर भी चैन कहाँ? चाचा और उनके बेटे, ज्वालाप्रसाद पर अपना आर्थिक बोझ बढाते ही जाते हैं। ज्वालाप्रसाद अपने चाचा और चचेरे भाइयों की झूठ जालसाली से परेशान होकर कह देते हैं, ... "मुश्तका खानदान आप समझ लीजिए टूट चुका है।"[45] और इसी को कार्यरूप में परिणत करने के लिए ज्वाला प्रसाद चाचा के परिवार को वापिस फतहपुर चले जाने को कहते हैं। अपना मंतव्य स्पष्ट करते हुए ज्वाला प्रसाद कहते हैं– "मैंने जो कुछ आप लोगों से कहा है, वह आप लोगों के हित में कहाहै, लडकों से कहिए कि ईमानदार बनें और मेहनत करें। इनकी ईमानदारी और मेहनत में मैं इन्हें हर तरह की मदद करने को तैयार हूँ। मेरे साथ रहकर ये सब लोग आवारा, कामचोर, बेइमान और लुटेरे बन रहे हैं। आखिर इनकी जिन्दगी सुधारना आपका कर्तव्य हैं।"[46] इसके बाद वही सब कुछ होता है जो टूटते हुए संयुक्त परिवारकी विशेषता है। राधेलाल और उनकी पत्नी, ज्वाला प्रसाद के सारे उपकारों कोभूलकर उनको जी भर गालियाँ देते हैं, अपने बडे भाई शिवलाल की आत्मा को पुकारते हैं और विरासत में पाया संयुक्त परिवार ज्वालाप्रसाद के समय में समाप्त हो जाता है।

डॉ0 रामदरश मिश्र के अनुसार– "संयुक्त परिवार बहुत जोर से अपने बचाव का प्रयास करता है किन्तु ऐतिहासिक परिणति को झेल नहीं पाता, टूट ही जाता है। ज्वाला प्रसाद सिद्धान्ततः संयुक्त परिवार के विरोधी नहीं हैं, वे एक भले आदमी की तरह सब कुछ झेलते रहते हैं किन्तु चाचा के परिवार की चालाकियाँ उससे उत्पन्न असुविधाएं और उस परिवार के सदस्यों का निकम्मापन जब सीमापार कर जाते हैं, तब ज्वाला प्रसाद सहज भाव से नाराज हो कर उन्हें अपने पास से हटा देते है, इसके भी मूल में चाचा–परिवार के लिए ज्वाला प्रसाद का हित चिन्तन ही काम करता है। किन्तु धीरे–धीरे परिवारों का अलगाव मध्यवर्ग

की प्रवृत्ति बन जाता है। परिस्थितियाँ ऐसी आती हैं कि अब बाप बेटे भी अलग–अलग रहने लगते हैं।"[47]

चाचा राधेलाल का परिवारफतहपुर चले जाने पर नाभिक परिवार में ज्वालाप्रसाद, उनकी पत्नी यमुना और पुत्र गंगा प्रसाद ही शेष रहे। गंगा प्रसाद की शिक्षा का प्रबन्ध जैदेई करती है। विधवा जैदेही इलाहाबाद में अकेली रहती है। जैदेई और ज्वालाप्रसाद का नाता यूं तो देवर भौजी का था, लेकिन दोनों के बीच आत्मीयता इन सम्बन्धों की सीमा–रेखा को कभी भी लांघ चुकी थी। प्रभूदयाल की मृत्यु के बाद तो जैदेई का अधिकांश कामकाज ज्वालाप्रसाद की सलाह से होता रहा है। यमुना भी जैदेही से अपने पति के सम्बन्धों की बात जानती है, पर उसे कोई शिकायत नहीं है। सम्भवतः उस युग में पत्नी इस सबको स्वीकार करके ही चलती थी। वह इसके लिये कोई न कोई तर्क भी खोज लेती थी। यमुना ने भी तर्क खोज लिया है– "औरत सदा सहारा ढूंढती है। लंबरदार के चले जाने के बाद लंबरदारिन ने तुम्हारा सहारा चाहा। लेकिन तुम कहीं भाग न खड़े हो, उसे सहारा देना बंद न कर दो, इसलिए लंबरदारिन ने तुम्हारे सहारे का मोल चुकाया, धन से, मन से, तन से।"[48]

जैदेई की देखरेख में पढकर गंगाप्रसाद बरेली का डिप्टी कलेक्टर बन गया है– अपने पिता से एक कदम आगे। डिप्टी कलेक्टर की हैसियत से गंगाप्रसाद ने राजनीतिक आन्दोलनों को दबाया है जैदेई का पुत्र लक्ष्मीचन्द्र गंगाप्रसाद से सम्बन्धों के प्रति कटा–कटा सा रहता है एवम लेन–देन के चक्कर में वह अपनी मां को गाली तक दे देता है– अपनी व्यथा को जैदेई गंगाप्रसाद से व्यक्त न कर ज्वाला प्रसाद से व्यक्त करती है– "कोई अंतर नहीं है बाप–बेटे में। सोचा था कि मेरी कोख से जनमा है लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पडा।....... कितना सहा है इस जिंदगी में देवरजी! भगवान ने मुझे सहने को जो पैदा कियाथा। पति दिया– बेईमान और निर्मम। कोख से पैदा किया बेटा– बेईमान और निर्मम।"[49] मृत्युशैया पर पड़ी जैदेई के साथ लक्ष्मीचंद के उस दुर्व्यवहार के माध्यम से उपन्यासकार ने माँ–बेटे के सम्बन्ध में भी 'अर्थ' की निहित सत्ता को रेखांकित किया है।

गंगा प्रसाद नये जमाने का युवक है वह सुन्दरता पर रीझना जानता है और रीझकर फिसल भी सकता है। जौनपुर की एक वेश्या मलका से उसके सम्बन्ध हैं। यह बात गंगाप्रसाद की पत्नी रूक्मिणी भी जानती है। लेकिन न तो गंगाप्रसाद, ज्वालाप्रसाद है और न ही रूक्मिणी यमुना है। मलका के साथ गंगा के सम्बन्धों में जैदेई के प्रति ज्वालाप्रसाद जैसी भावात्मकता नहीं है जैदेई ने

ज्वालाप्रसाद को अपना सब कुछ देकर भी उससे विवाह की अपेक्षा कभी नहीं की थी। ज्वाला प्रसाद ने भी जैदेई के साथ अपने संबंध के दायित्व को अंत तक निभाया था। लेकिन जैदेई गृहस्थिन थी, मलका वेश्या है पर वेश्या वह भी हमेशा हमेशा के लिए नहीं बनी रहना चाहती। वह विवाह बंधन में बंधना चाहती है और गंगा प्रसाद के अनजाने में ही सत्यप्रकाश के साथ विवाह करके अपना सहारा ढूंढ लेती है और वह अब कांग्रेस की स्वयं सेविका है।"यमुना और रूक्मिणी के सम्बन्धों एवं समय में कितना अंतर है! यमुना सब कुछ जानती थी, फिर भी जैदेई उसकी सखी थी। लेकिन मलका के साथ गंगाप्रसाद के संबंध की बात जानकर रूक्मिणी के मुँह की हंसी तो गायब हो ही गयी है।"[50] रूक्मिणी मन ही मन दुःखी रहने लगती है लेकिन प्रत्यक्षः कुछ कह नहीं पाती। स्पष्ट ही यमुना से रूक्मिणी तक आते–आते पर स्त्री के साथ सम्बन्ध की बात पत्नी के अधिकार और आत्म सम्मान के लिए चुनौती बनने लगी थी। लेकिन इस चुनौती को स्वीकारने की शक्ति अभी भी उसमें नहीं थी। पति की उन्मुक्त स्वतंत्रता की पुरानी धारणा पर प्रश्न चिन्ह अवश्य लगा था, लेकिन इसके तार्किक उत्तर की तलाश अभी दूर थी।

इस बीच अवश्य विवाहेत्तर सम्बन्धों के प्रति पुरूषों की धारणाओं में भी परिवर्तन आया था। गंगा प्रसाद के मन में न मलका के प्रति कोई भावात्मक लगाव है और न संतों के प्रति। गंगा प्रसाद जौहरी राधाकिशन की पत्नी संतो को अपनी वासना का शिकार बनाता है, भोग–विलास के लिए उसका मन तड़पता है। लेकिन एक बार संतों मर्यादा तोड़ती है तो उसे कहीं अंत नहीं मिलता वह अंग्रेज अधिकारी मेजर वाट्स की रंगरेलियों में साझीदार बनकर अपने पति को राजबहादुर का खिताब दिलाती है और इसके माध्यम से उभर आता है अंग्रेजों की कृपा के लिए लालायित उच्च मध्यवर्ग की विलासिता, ऐश्वर्य प्रियता का एक ऐसा नग्न रूप, जहाँ परिवार, पति–पत्नी सम्बन्ध भी व्यवसाय का एक अंग बनकर रह जाते हैं। संतो, राधाकिशन और राधाकिशन की भाभी कैलासो के प्रसंग के माध्यम से भगवती चरणवर्मा ने संयुक्त परिवार के आंतरिक कलह की एक झलक दी है। कैलाशो के राधाकिशन से शारीरिक संबंध अवश्य है, लेकिन जब संपत्ति के हिसाब–किताब का सवाल उठता है, तो वह अपने पति श्री किशन का ही पक्ष लेती है। पक्ष ही नहीं लेती, बल्कि देवर के साथ अपने सम्बन्धों का हवाला भी दे बैठती है– "बड़े आये बटवारे की बात चलाने वाले! जब महीनों मेरे कमरे में पड़े रहते थे, तब बटवारा नहीं हुआ था, और जब आज राजबहादुर बन गये, दस लाख

रूपया पैदा कर लिया, तब बंटवारा हो गया। ऐसे सस्ते नहीं छूटोगे लाला, एक–एक पैसे का हिसाब देना होगा।"[51]

'भूले बिसरे चित्र' की चौथी पीढी है गंगा प्रसाद के पुत्र नवल की। नवल और उसकी बहन विद्या दोनों पढ रहे हैं। अफसरशाह गंगाप्रसाद की साध है कि नवल विदेश जाकर आई0 सी0 एस0 की पढाई करे। लेकिन नवल के जाने से पहले ही गंगाप्रसाद 'गैलेपिंग, टी0 वी0'का शिकार हो जाता है। गंगा प्रसाद के सामने विद्या के विवाह की समस्या है– यद्यपि उसने विद्या का सम्बन्ध आई0 सी0 एस0 सिद्धेश्वरी से तय कर दिया है– उन्हें नवल को आगे पढाने की चिंता है, और छोटे बच्चों के भविष्य की चिन्ता है। डॉ0 की सलाह से नवल, गंगाप्रसाद को भुवाली ले जाने को तैयार है। रायबहादुर कामतानाथ जिनकी लड़की उषा से नवल का विवाह सम्बन्ध करीब–करीब तय हो चुका है–नवल को भुवाली न जाने की सलाह देते हैं। रायबहादुर चाहते हैं कि नवल उसके साथ स्विटजरलैण्ड चले और वहीं से पढ़ाई के लिए लंदन चला जाये लेकिन नवल अपने बीमार पिता को अकेले नहीं छोड सकता, वह कहता भी है, "जिस पिता ने मुझे जन्म दिया है, उनसे अलग करने का आपका प्रयत्न प्रशंसनीय नहीं है। जहॉ तक भविष्य का प्रश्न है, मैं बिना आई0 सी0 एस0 बने भी जिंदा रह सकता हूॅ।"[52] नवल का यह गंभीर और ओजस्वी रूप बीमार गंगाप्रसाद के मन में एक नया उत्साह भर देता है। अपने पिता के लिए इतना आदर, बहन–भाइयों कीचिंता सचमुच ही प्रशंसनीय है। नवल के इस रूप पर गंगा प्रसाद को गर्व है– "जब मैंने तुम्हारा वह रूप देखा, तो न जाने मेरा भय कहां भाग गया। आज मैंने देखा कि तुम स्वाभिमानी हो समर्थ हो, तुम सुविधाओं को ठुकरा सकते हो, तुम मुसीबतों का पहाड सिर पर उठा सकते हो।"[53]

गंगाप्रसाद की मृत्यु एवं नवल का विदेश गमन में अवरोध तथा विद्या की शादी ने पारिवारिक विघटन को एक नया आयाम दिया। विद्या सिद्धेश्वरी के साथ व्याह दी जाती है, दोनों में वैचारिक सामंजस्य नहीं बैठ पाता है। सिद्धेश्वरी नवल को अपनी बहन को फौरन आकर लिवा ले जाने का तार दे देता है। नवल इसलिए उन्नाव जा रहा है। दादी यमुना रोकर कहती है– "किन कसाइयों के यहॉ तुम लोगों ने भेज दिया। मॉ रूक्मिणी सारी स्थिति भांप चुकी है– "सबके सब जमराज बनकर मेरी लडकी को पेर रहे हैं।" ज्वाला प्रसाद का यही पारंपरिक परामर्श है, 'देखो विद्या को समझा बूझा देना। लडकी तेज मिजाज की है, लेकिन ससुराल में तो दबकर रहना ही होगा। ससुर की यह बात रूक्मिणी को चुभ गयी है उसकी निगाह में विद्या का कोई दोष नही है, वही सबके सब उसकी जान लेने

पर तुले हुए हैं।"[54] रूक्मिणी का कहना है कि नवल विद्या को अपने साथ लिवा लाये। जब नवल ज्ञान प्रकाश (ज्वाला प्रसाद के ममेरे भाई) के साथ उन्नाव पहुँचा तो वहाँ उसकाअजीब ढंग से स्वागत हुआ। विद्या के ससुर विंदेश्वरी प्रसाद ने छूटते ही कहा– "अपनी इस डाइन बहन को ले जाइए, हम लोगों की जान बख्शिए।"[55]

विद्या को घर से अलग कर विंदेश्वरी और सिद्धेश्वरी पारिवारिक सम्बन्धों से जान बचाना चाहते हैं विद्या को बिदा करते समय विंदेश्वरीप्रसाद धमकी भरे लहजे में कहते हैं – "अब इस घर में पैर न रख पाओगी, इतना समझ लो, और विद्या का भी दो टूक उत्तर है– 'तुम लोगों का घर नरक है।"[56] विद्या–विंदेश्वरी का यह संवाद पति–पत्नी के सम्बन्धों की टूटती हुई मर्यादाओं को प्रतिबिम्बित करता है। विद्या ससुराल छोड कर वापस अपने घर चली आयी है। ज्ञान प्रकाश की प्रेरणा से विद्या ने नौकरी करना प्रारंभ कर दिया है। ज्ञान प्रकाश विद्या को अब ससुराल के बंधन से मुक्त मानते हैं। सिद्धेश्वरी के दूसरे विवाह की सूचना से विद्या को तो जैसे 'मुक्ति' मिल गयी है, पर यमुना इसे सहन नहीं कर पाती और इसी दुःख में यमुना की मृत्यु हो जाती है। आई0 सी0 एस0 न बनने के कारण नवल और उषा का संबंध भी टूट जाता है। नवल अब पूरी तरह से कांग्रेस के कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेने लगा है। नमक सत्याग्रह में नवल गिरफ्तार हो जाता है। रह जाते हैं दर्शक बने हुए ज्वाला प्रसाद और भीखू, जो चार पीढियों के लगातार पर्यवेक्षक रहे हैं।

इस विवेचन के अन्त में डॉ0 सुरेश सिन्हा का यह निष्कर्ष तर्क सम्मत है कि "भूले–बिसरे चित्र में सामंती परम्पराओं से सम्बन्धित एक परिवार की चार पीढ़ियों के माध्यम से सामंती व्यवस्था की विश्रृंखलता, शिक्षित मध्यम वर्ग का उदय, फिर उसकी ध्वंसोन्मुखता और युग की परिवर्तनशीलता का नवोन्मेष की भावना के परिप्रेक्ष्य में यथार्थवादी चित्रण किया गया है।"[57]

मार्क्सवादी यथार्थवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन

मार्क्स के दर्शन और साम्यवादी विचारों को केन्द्र में रख कर उपन्यास–रचना करने वालों में यशपाल प्रमुख हैं। यों राहुल सांकृत्यायन, रांगेय राघव और राजेन्द्र यादव की रचनाओं में भी मार्क्सवाद के विचार–सूत्र उपलब्ध हैं लेकिन उनका रचना–लक्ष्य मार्क्सवाद या साम्यवाद नहीं। यहाँ मतवाद आनुषंगिक है, जबकि वहाँ कला। साहित्य में ये सर्जक प्रगतिवादी कहलाते हैं इनकी दृष्टि

मार्क्सवादी होती है और इनकी रचना की वस्तु सामाजिक यथार्थ जीवन तथा विषय समाजवादी सिद्धान्तों की स्थापना।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में परिवार के मूल्यों एवं सम्बन्धों में तथा राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन हुआ है। इसलिए अन्य नवीन पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रति लेखकों के आकर्षण ने मार्क्सवादी दर्शन को यत्किंचित पीछे धकेल दिया है यही कारण है कि हिन्दी में अब साहित्यिकों में मार्क्सवाद के प्रति उस उत्साह के दर्शन भी विरल हो गये जो स्वतन्त्रता–पूर्व काल में होते थे। फिर भी यशपाल जैसे वयोवृद्ध उपन्यास लेखकों की रचना–दृष्टि में कोई अंतर नहीं आया। आपके यदि स्वातन्त्रयोत्तर युग के उपन्यासों 'झूठा सच' और 'मेरी तेरी उसकी बात' का अध्ययन किया जाये तो सहज ही इसमें मार्क्सवादी यथार्थ का रूप परिवारों के टूटने में सहायक होता दृष्टिगोचर नजर आयेगा।

'झूठा सच' में तारा, कनक, शीलो, पुरी, गिल, सूद, सोमराज, चड्ढा और असद जैसे पात्र मार्क्सवादी सिद्धान्तों पर वाद–विवाद या उनका प्रचार न करते हुए भी सम्पूर्ण वास्तविकता में साथ ही परिस्थितियों को समाजवादी दृष्टि से देखते हैं। और यह पाते हैं कि मात्र सिद्धान्तो की चर्चा करने वाला मध्यम वर्गीय व्यक्ति समाजवादी नहीं अपितु बुर्जुआ होता है।

इसी तरह यशपाल के उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' में मार्क्सवादी यथार्थवाद के कारण परिवार टूटते नजर आते हैं साथ ही उपन्यास में एक साथ राजनीति तथा संस्कृति से सम्बन्धित प्रश्न उठाये गये हैं। कथा प्रथम विश्व युद्ध के अन्त से भारत की स्वाधीनता तक के राजनीतिक दाँव पेंचों के मध्य डॉ0 अमर उषा तथा राजा गैती नामक दो दम्पत्तियों के विचारों, विश्वासों एवम सांस्कृतिक आस्थाओं के बीच दौडती नजर आती है। जिसमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण के कारण पारिवारिक विघटन घटित होता है।

झूठा सच

झूठा सच (1958) दो भागों में लिखित एक महाकाय उपन्यास है इसमें भारत के विभाजन की पूर्व पीठिका, विभाजन की विभीषिका और उसके उत्तर प्रभाव का विशद और जीवन्त चित्र उभारा गया है। पूरे उपन्यास को यथार्थ की सुविधा के लिए दो भागों में बॉट सकते हैं (यों ये दोनों यथार्थ एक–दूसरे से जुडे हुए हैं, इन्हें अलग करना संश्लिष्ट रचना को तोडना है) एक तो उसका परिस्थितगत यथार्थ है दूसरा उसका परिस्थितिजन्य आंतरिक सत्य। परिस्थितिगत यथार्थ में आता है देश के बंटवारे के पूर्व की, बॅटवारे के समय की तथा उसके

बाद की घटनाओं और परिस्थितियों का चित्रण, दूसरे में आता है उन परिस्थितियों और घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में उभरते हुए विचार, संवेग व्यक्तित्व और समाज के नये सम्बन्ध टूटते हुए पुराने मूल्य उगते हुए नये विश्वास अर्थात बनता–बिगडता हुआ एक नया जन मानस।

'झूठा सच' का कथावृत्त मुख्य रूप से पुरी परिवार का कथावृत्त है। कहानी शुरू होती है भोला पांधे की गली से। जहाँ विभाजन के पूर्व मास्टर रामलुभाया अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहते हैं– बडा लडका जयदेव पुरी एम0 ए0 का विद्यार्थी है। राजनीति में सक्रिय भाग लेने के कारण उसे दो साल की सजा हो जाती है। लड़की तारा बी0 ए0 में पढ़ती है उसकी शादी सोमराज साहनी, बौद्धिक क्षमता से हीन व्यक्ति के साथ कर दी गयी है। जेल से आने पर जयदेव शादी के पक्ष में नहीं हैं परन्तु नौकरी छूट जाने के दबाव में वह माता–पिता पर दबाव नहीं डाल पाता है। तारा एक समाज सुधारक असद से प्रेम करती है। तो दूसरी ओर जयदेव पुरी पंडित गिरधारी लाल की पुत्री से प्रेमकर शादी कर लेता है। कनक की बहन शान्ता और बहनोई महेन्द्र नैयर इस प्रेम विवाह में पुरी की मदद करते हैं।

तारा–सोमराज का वैवाहिक जीवन शादी की प्रथम रात से ही टूट जाता है क्योंकि सोमराज ने तारा को प्रथम रात्रि में ही पीटना शुरू कर दिया है संयोग से उसी रात लाहौर में हिन्दू–मुस्लिम दंगे हो जाते हैं जिसमें तारा भाग खड़ी होती है। सोमराज का घर दंगे के दौरान जला दिया जाता है । तारा बंटवारे के समय अमृतसर हिन्दुओं के कैम्प पहुँचती है। दंगों के दौरान कनक भी बहन कांता के साथ नैनीताल चली आयी है। जयदेव पुरी को कनक वहीं बुला लेती है। देश के विभाजन से पुरी अपने माता–पिता को लेने लाहौर चला जाता है। प्रथम भाग की कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

द्वितीय भाग में विभाजन के बाद की विभीषिका का चित्रण है। पुरी जालंधर तक पहुँचने में सफल हो जाता है परन्तु लाहौर नहीं पहुँच पाता है। माता–पिता का भी पता नहीं मिल पाता है। जालंधर में विषम परिस्थितियों में उसकी मुलाकात कांग्रेसी नेता सूद से होती है। जिसकी सहायता से पुरी ने प्रेस लगा लिया है। एक घटनाक्रम में पुरी अपनी पूर्वपरिचिता शिष्या उर्मिला के साथ रहने लगता है और अपने माता–पिता का पता मिलने पर उनसे सम्पर्क नहीं करता है दूसरी ओर कनक बहनोई की मदद से जालंधर पहुँचती है। उर्मिला को देख कर कनक नाराज होती है। अवसर की नजाकत देखते हुए सूद उर्मिला को नर्स की ट्रेनिंग हेतु भेज देते है। कनक पुरी का सम्बन्ध मधुर हो जाता है।

इस बीच पुरी बहन तारा के प्रति अवसरवादी हो गया है क्योंकि तारा इस समय अंडर सेक्रेटरी के पद पर है और पुरी की दोस्ती सोमराज से हो गयी है। सभी की दृष्टि में तारा मृत समझी जाती है पुरी मिलने की कोशिश नहीं करता है। पुरी परिवार के प्रति भी गम्भीर नहीं है। कनक से एक लडकी पैदा होती है। और कनक से पुरी का तलाक तथा तारा का डॉ0 प्राणनाथ से पुनर्विवाह और बाद में कनक का भी गिल के साथ रहने का निर्णय के साथ झूठा सच की कथा समाप्त होती है।

झूठा सच पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसके साथ ही इसमें शोषण, अन्याय एवं सामंती व्यवस्था के हथकण्डे चित्रित करने एवं राजनैतिक नेताओं के स्वार्थ को चित्रित करने, समाज में प्रगतिशील तथा समानता आर्थिक शोषण की समाप्ति एवं उत्पादन पर सामानाधिकार, वर्ग वैषम्य का समूल नाश तथा विकास करने का सबको समान अवसर, विवाह सम्बन्धी स्वतन्त्रता एवं उस सामाजिक क्रांति का प्रसार जिससे वर्तमान की रूढियॉ विच्छिन्न हो सके तथा प्रगतिशील मानवता का प्रसार हो सके– इस उपन्यास का मूल स्वरूप है।

इस उपन्यास का सामाजिक महत्व यह है कि वह वर्तमान समाज में नारी की पराधीनता, उसकी घुटन और अपमान, व्यक्तिगत सम्पत्ति की तरह उसके क्रय–विक्रय की जघन्यता को स्पष्ट करता है। इन प्राचीन सामन्ती बन्धनों से मुक्ति पाना कठिन है, नारी किस वीरता से उनके प्रति विद्रोह करती है, स्वयं उसके संस्कार किस तरह से उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं– इन सबका मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है– झूठा सच उपन्यास में यशपाल किसी न किसी रूप में विवाह और विवाह के माध्यम से परिवार को स्वीकृति दे देते हैं। वे इसे नर–नारी सम्बन्धों की एक अनिवार्य घटना भी स्वीकार करने को तैयार है। शर्त यही है कि विवाह स्त्री के आत्म–समर्पण या दमन पर आधारित न होकर दोनों की पारस्परिक सहमति से हो।

"प्रश्न हो सकता है, नारी को स्वावलम्बी बनाने के लिए पुरूष से विवाह ही नहीं करना चाहिए, तो नारी को पुरूष के व्यवहार का विरोध करने की सिरदर्दी लेने की क्या जरूरत है? यह विचित्र संस्कार है कि नर–नारी के सम्बन्ध या विवाह का अर्थ अवश्यंभावी रूप से पुरूष द्वारा दमन और नारी की दीनता ही समझा जाये। क्या नर–नारी का सम्बन्ध या विवाह समता और आत्म–निर्णय के

आधार और परिस्थितियों में नहीं हो सकता? मेरे विचार में ऐसा हो सकना चाहिए, कनक और तारा का आचरण ऐसे आचरण का उदाहरण माना जा सकता है ...... आप नारी द्वारा स्वीकार करने या प्राप्त करने को आत्म–समर्पण का नाम क्यों देना चाहते हैं यह पुरूष के परम्परागत स्वामित्व के अहंकार की ध्वनि ही तो नहीं? वर्तमान युग के प्रबुद्ध नर–नारियों के विवाहों के लिए आत्म समर्पण शब्द की अपेक्षा सहमति और पारस्परिक स्वीकृति शब्द ही अधिक उपयुक्त माने जाने चाहिए।''[58] यशपाल अनमेल विवाह को जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप मानकर अभिभावकों द्वारा आयोजित विवाह के प्रश्न पर भी विचार करते हैं। तारा सोमराज विवाह अनमेल विवाह है। तारा के पिता उसका विवाह उससे कम शिक्षित युवक सोमाराज से कर देते हैं। पुरी भी आर्थिक टूटन के कारण इस अत्याचार को मौन रूप से सह लेता है। तारा खून का घूंट पीकर रह जाती है। अपने मुसलमान प्रेमी को प्राप्त न कर पाने के कारण वह भीतर ही भीतर तडप उठती है। इसका मूल कारण है विवाह के बाद सुहागरात को अशिक्षित सोमराज का दुर्व्यवहार जो तारा को पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन में अन्त तक सताता रहा– ''सोमराज ने कहा, बहुत शर्म आ रही है।....... यहॉ शरम आ रही है। साडी पहन कर, उधाडे सिर, मालरोड और अनार कली में जुलूसों में घूमते शरम नहीं आती थी? सोमराज बडे अफसरी ढंग से जवाब तलब कर रहा था। तारा का सांस रूका। तारा मौन निश्चल रही। तू यहाँ शादी नहीं करना चाहती थी न?..... किससे है तेरी अश्नाई? सोमराज ने दांत पीसकर पूछा 'कितने घाटों का पानी पिया है। कितनों के साथ सोई है।' तारा ने फुँकारा – 'चुप' –सोमराज का अपने क्रोध पर लगाया हुआ बांध टूट गया उसने तारा को चोटी से पकड़कर पलंग के नीचे डाल दिया और दो लात मारकर दांत पीसते हुए गाली दी।... भूखे मास्टर की औलाद।''[59] पत्नी के उज्जवल चरित्र पर सन्देह, लांछन, अवमानना और अन्त में मारपीट ही वे तत्व हैं जो सुखद स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के शत्रु हैं। तारा पर यथेष्ट प्रतिक्रिया हुई और वह अपने अधिकार पर चोट खाते ही विद्रोही नारी का प्रतीक बन गई। यह ठीक है कि उसने जोश में आकर गृहत्याग किया तो कुछ मुसलमान गुण्डों द्वारा पकड़ी गई, उसके साथ भीषण बलात्कार किया गया। परन्तु इन घटनाओं के प्रति उसे कोई दुःख नहीं है जितना कि सोमराज के सताने का। यशपाल ने तारा के रूप में एक ऐसी नारी पात्र का सृजन किया है जिसका व्यक्तित्व सबल है। वह परिस्थितियों से ऊपर उठकर केन्द्रीय सरकार में एक बहुत बडी अधिकारी बन जाती है। अपने पति सोमराज के क्षमा मांगने पर भी वह उतनी ही कठोर रहती है जितनी इलाचंद जोशी के 'सन्यासी' की शान्ति जो अन्त तक

नायक नन्दकिशोर को क्षमा नहीं करती। यह सच है कि तारा सोमराज दाम्पत्य विघटन अभिभावकों द्वारा बिना विचारे आयोजित सम्बन्धों की विफलता का प्रतीक है।

झूठा सच के दूसरे विचारणीय पति पत्नी पुरी कनक है, जो विवाह पूर्व प्रेम के परिणाम को नये रूप में प्रस्तुत करते हैं। दोनों का आरम्भिक वैवाहिक जीवन सुखद, सन्तुष्ट और सन्तुलन का एक आदर्श स्थापित करता है। दोनों का प्रेम, नैनीताल की झील पर बितायी संध्यायें, रायल होटल के कमरे का एकांत पुरी के हृदय में प्रेम की भावना या पुकार मात्र न रहकर कनक को पत्नी रूप में देखने के लिए व्याकुल कर देता है और जब दोनों विवाह सूत्र में बंध जाते हैं तब तुष्टि के उन्माद में खो जाते हैं किन्तु थोड़े समय पश्चात यह नशा छूमंतर हो जाता है। दोनों में सन्देह बढने लगता है और दाम्पत्य की दीवारमें दरार आने लगती है। जब एक दिन पुरी के बारे में कनक ने पूर्वावलोकन किया तो "उसेएक बात खल जाती थी। वह थी कभी–कभी पुरी का अकारण चिड़चिडाहो उठना, विशेषकर तृप्ति से शान्ति की मुग्धावस्था में। कनक को ऐसा अनुभव पहली बार विवाह के तीन सप्ताह बाद ही हो गया था। माधुर्य की मुग्ध मूढता में ऐसा अपमान और कटुता कनक के हृदय को आर–पार बेध देती थी।"[60] यहाँ दाम्पत्य सम्बन्धों की मधुरिमा नष्ट होती नजर आती है और एक दिन जब कनक पुरी की बहन तारा से मिलकर लौटी तथा पुरी से बोली– "तारा का दिल तुमसे बडा है। तथा पुरी क्रोध में फुंकार उठा और बोला– 'देख रहा हूँ तुम्हारा दिल भी बहुत बडा हो रहा है, बड़े दिल वाली से मिलकर आई हो। इतने बडे से निबाह सकने की विशालता मुझमें नहीं है। अपने लिए भी बड़ी जगह ढूँढ लो।"[61] यह उदाहरण यह सिद्ध करता है कि स्त्री–पुरूष सम्बन्धों की सफलता का मूलमंत्र समायोजन है। विवाह चाहे अभिभावकों द्वारा आयोजित हो अथवा स्वयं प्रेरित प्रेम का परिणाम हो यदि विवाहोपरान्त पति–पत्नी शान्त, ईर्ष्यालु तथा चिड़चिडे प्रवृत्ति के होंगे तो पत्नी के कोमल हृदय पर चोट पड़ेगी तथा वह चाहने पर भी दाम्पत्य की कटुता एवं विखरन को नहीं रोक पायेगी।

डॉ0 रामदरश मिश्र के अनुसार यशपाल ने झूठा सच में– "नारी–पुरूष के सम्बन्धों की अनेकता और उनकी संगति विसंगति को गहराई से पहचाना है... जहाँ तारा और कनक जैसी स्वाभिमानी स्त्रियाँ पतियों को छोडकर दूसरा व्याह कर लेती हैं वहाँ बन्ती अपने पति से व्यक्त होकर उसकी दहलीज पर सिर पटक–पटककर रोती है और मर जाती है।"[62]

पारस्परिक सौजन्य एवं मर्यादा का अभाव ही झूठा सच के दम्पतियों के विघटन का मूल कारण है। इधर तारा ने सोमराज को छोडा, उधर कनक पुरी से नाता तोडने को विवश हुई। कनक, तारा से कहती है– "मुझे उनकी कोई बात अनुकूल नहीं लगती। विवाह के छह मास बाद से ही कटुता आरम्भ हो गई थी। पाँच वर्ष निभाया, अब नहीं सह सकती। निन्दा होगी हो..... मैं क्या करू।"[63] स्पष्ट है कि विवाह पूर्व–प्रेम में प्रथम आकर्षण भी कभी–कभी कितना भ्रामक सिद्ध हो सकता है। पुरी में पति के अधिकार की भावना तथा पुरूषोचित क्रोध, आवेश, शंका, ईर्ष्या तथा गालियों की बौछार, मर्यादा का पूर्ण उल्लंघन ही कनक को विवाह–विच्छेद के लिए विवश करता है।

नारी की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रतीक हैं तारा और कनक। पुरी की बहन तारा के स्वतन्त्र, स्वाभिमानी पुरूष–निरपेक्ष जीवन से प्रेरणा लेकर कनक भी पुरी से तलाक लेने का निर्णय लेती है। वह तलाक जिसके सम्बन्ध में भारत में विद्वानों के अलग–मत रहे हैं, पर तलाक की नौबत आने पर आधुनिक विद्वान इसे जीवन की आवश्यकता मानने लगे हैं।

आचार्य रजनीश के अनुसार– "तलाक अगर सीधा सामने खडा हो तो दस प्रतिशत मौके आप छोड देंगे, कलह एक दम कम हो जायेगा, क्योंकि कलह बेमानी है, कलह सिर्फ इसलिये है कि दोनों व्यक्ति अलग नहीं होते, आप से कह दूँ जाइए, बात खत्म हो गई। इसमें झगड़ा क्या है? मगर जाने को कह नहीं सका और आप जा नहीं सकते, मैं भी जा नहीं सकता, बैठना यहीं है तो कलह जारी रहेगी। तलाक इतना सरल होना चाहिए जैसे एक मित्र से मित्रता टूट जाती है, इससे ज्यादा उसका कोई अर्थ नहीं है।"[64]

तलाक के सन्दर्भ में सुधा अरोड़ा अपना वक्तव्य देती है–"तलाक आसान इसी अर्थ में होना चाहिए कि रिश्ते जब दोनों ओर से अर्थ खो दें तो उन्हें ढ़ोते चले जाने से कोई तुक नहीं है।[65] सुधा अरोड़ा जी के इस मत की पुष्टि (पोषिका) कनक अपने विवाह विच्छेद के लिए पहल करने में करती है। वह स्वयं पुरी से तलाक की मांग कर कहती है– "कनक बोली– सम्भव नहीं है। 'सम्भव क्यों नहीं है?' नहीं है, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम्हें जिस बात से विरक्ति थी, पुरी ने कातर स्वर में कहा, वह नहीं होगी। मैं पति के अधिकार का तकाजा या उस तरह के सम्बन्ध की इच्छा कभी नहीं करूँगा। तुम अपने घर में रहो।' 'जब सम्बन्ध नहीं तो मतलब क्या ?, 'फिर गरमाहट स्वतंत्रता चाहिए? दूसरा विवाह।

'जो इच्छा होगी।'

'किससे विवाह होगा?'

'आपको मतलब नहीं।'

'मुझे मतलब है । तुम मेरी पत्नी हो।'

'आपकी पत्नी नहीं हूँ। आपने स्वयं पति का अधिकार छोड दिया है।'

'डाइवोर्स नहीं दूँगा। सम्बन्ध का बन्धन तोड़कर उच्श्रृंखल कभी नहीं होने दूंगा'

'वैर पूरा करने के लिए, मेरी जिन्दगी बर्बाद करने के लिए सम्बन्ध रखोगे?'

'मैंने कभी किसी के साथ धोखा और क्रूरता नहीं की।'

'आपने जो किया है, उर्मिला के साथ, अपने माता–पिता के साथ, तारा के साथ किसी के साथ छल क्रूरता नहीं थी..."[66] अन्ततः कनक भी तारा की तरह पुरूष अत्याचार के प्रति विद्रोह कर स्वयं अपना मार्ग चुनती हैं। पुरी के परिवार की घुटन से मुक्त होकर कनक मार्क्सवादी गिल के साथ रहने का निर्णय लेती है। तारा का पुनर्विवाह पूर्व परिचित डॉ0 प्राणनाथ से होना पारम्परिक पारिवारिक संस्कारों के परिवर्तन के प्रतीक हैं जो बदलते पारिवारिक सम्बन्धों को एक नई दशा एवम दिशा प्रदान प्रदान करते हैं। डॉ0 सुरेश सिन्हा के अनुसार– "कनक और तारा जो उपन्यास की प्रधान नारी पात्र हैं। दोनों में पर्याप्त अंशो तक नवीन चेतना भी है। वे पुरूष की दासी बनकर अपना व्यक्तित्व विश्रृंखलित नहीं होने देना चाहतीं, इसलिए वे शीघ्र ही अपना विकास कर नवीन नारी चेतना का सशक्त प्रतीक बन जाती हैं। पुरूष के अन्याय को दोनों ही नहीं स्वीकारती और दोनों ही अपनी चेतना से गतिशील होती हैं। पुरूष पर आश्रित रहकर झुकना नहीं जानतीं। तारा का दृष्टिकोण भी आधुनिक है, पर विवशता में आर्थिक अभावों के कारण न चाहते हुए भी लम्पट, दुराचारी और आवारा युवक सोमराज से उसका विवाह हो जाता है। यशपाल तारा की दुर्गति के माध्यम से यह रेखांकित करना चाहते हैं कि नारी इसी प्रकार शोषित होती रहेगी, जब तक कि दृष्टि की संकीर्णता एवं गन्दी मनोवृत्ति का नाश नहीं हो जाता और नारियों को हम भोग्य के स्थान पर मानवीय ढंग से नहीं देखेंगे।"[67]

मेरी तेरी उसकी बात

यशपाल द्वारा लिखित 'मेरी तेरी उसकी बात' (1973) बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सांस्कृतिक विकास की सूचक कृति है। इसमें मुख्य कथा दो विभिन्न जातियों तथा धर्मों में वैचारिक एवं सांस्कृतिक एकता स्थापित करने को लेकरहै। इसके समानान्तर इसमें राजनीति तथा संस्कृति से सम्बन्धित प्रश्न उठाये गये हैं। कथा प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त से भारत की स्वाधीनता तक के राजनीतिक दाँव पेंचों के मध्य डॉ0 अमर–उषा तथा रजा–गैती नामक दो दम्पत्तियों के विचारों विश्वासों एवं सांस्कृतिक आस्थाओं के बीच दौडती नजर आती है।

नायिका उषा पण्डित का जन्म एक ईसाई मास्टर धर्मानंद पण्डित के घर हुआ है। जिनका मूल उद्देश्य हिन्दू सम्प्रदाओं के सिद्धान्तों, विश्वासों और असंगतियों को दूर करना था। निर्मल नामक अफसर व्यक्ति के साथ जब उषा की सगाई होने वाली होती है। तब उषा का ऐक्सीडेंट हो जाता है उसकी टांग टूट जाती है जिससे निर्मल रिश्ता को नकार देता है। उधर हास्पिटल में डॉ0 अमर सेठ की सेवा पाकर उषा उसके प्रति आकर्षित होकर समाज की परम्पराओं तथा घरवालों की इच्छाओं के विरूद्ध उससे प्रेम विवाह कर लेती है। डॉ0 अमर सेठ ने भी अपने घरवालों के खिलाफ होकर विवाह किया था फलतः वह बहिष्कृत हो जाती है और अगले घटनाक्रम में उसकी अकाल मृत्यु हो जाती है।

उषा विधवा होने पर अपने प्रेमी रूद्र से सिविल विवाह करने का निश्चय करती है किंतु अपने पुत्र के प्रति होने वाली चिंता तथा परिवार की मर्यादा को बचाने के लिए (जबकि शादी के कार्ड छप गये थे) इस विवाह से मुँह मोड लेती है। उषा वैधव्य की स्थिति में मात्र अपने परिवार तथा पुत्र की हो जाना चाहती है। उसमें, सेवा त्याग तथा निस्वार्थ जीवन जीने की लालसा जाग जाती है।

उषा–अमर–रूद्र की कथा के समानान्तर 'मेरी तेरी उसकी बात' में रजा–गेती की कथा चलती है। रंजा का अनमेल विवाह हुआ है। अपनी पत्नी गेती को वह पर्दा प्रथा से हटाकर 'माडर्न सोसाइटी' में ले जाना चाहता है। अशिक्षित, मूढ गेती इसे पसन्द नहीं करती है और दोनों का जीवन अविश्वास और अटकलों में गुजरता है। रजा उसे जीवन साथी समझता है, गेती अपने को शासित सेविका मानती है। दोनों की यही वैचारिक विषमता सुखद दाम्पत्य की असफलता का करण तो है ही। साथ ही गेती की कामुकता, असंतुलित यौन भावना, आर्थिक परवशता आदि भी दोनों को पीड़ित रखते हैं।

पारिवारिक सन्दर्भों की दृष्टि से इसमें मूल समस्या अन्तर्जातीय विवाह की है जिसके कारण सामाजिक तथा सांस्कृतिक मूल्यों के संघर्ष में अनेक दम्पत्ति तथा व्यक्ति घुटन की अनुभूति करते है। जब अमर उषा के विवाह के सम्बन्ध में उषा के पिता और हरि भैया में चर्चा चली तब पण्डित ने चिन्ता व्यक्त की कि सामाजिक परिस्थितियों के विचार भिन्न सम्प्रदाय के लडके–लड़कियों में विवाह सम्बन्ध का औचित्य क्या रहेगा, इधर डॉ0 अमर सेठ के पिता ने तो इस विवाह के कारण अपने एक मात्र पुत्र के प्रति सामाजिक बहिष्कार की कसम खाली। यह ठीक है कि पितृमोह ने आगे चलकर उन्हें कुछ अवश्य बना दिया, किन्तु सामाजिक एवं साम्प्रदायिक प्रश्नावली तो खडी हो ही गई। 'झूठा–सच' के कनक–पुरी दम्पत्ति की भांति इस उपन्यास के उषा अमर दम्पत्ति भी पहले प्रेम के ज्वारभाटे में स्नान कर फिर विघटन के कगार परपहुँच जाते हैं, अन्तर यही है कि जहाँ झूठा–सच में कनक पुरी में विवाह विच्छेद हो जाता है वहां इस उपन्यास में सेठ अमर की अकाल मृत्यु इसे वज्रघाती पारिवारिक विघटन का उदाहरण बना देती है।

प्रस्तुत उपन्यास में उषा अमर में नई पीढी के नये मूल्यो की चर्चा भी हुई है। नई पीढी के परिवारों में पति पत्नी दोनों ही समान अधिकारों की बात करते हैं, दोनो ही एक दूसरे से स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व की चाह ना करते हुए अपने पथ पर चलना चाहते हैं। इसके अभाव में तनाव आ जाना स्वाभाविक ही है।

विवाह असफल होते हैं इसके लिए स्त्री–पुरूष दोनों समान रूप से दोषी हैं। विवाह के ध्येय को समझने में भूल करना, बहुत अधिक आशा करना, अर्थप्रधान दृष्टिकोण रखना, सहानुभूति और सहयोग की भावना न रखना आदि बातें ही वैवाहिक जीवन को असफल बना देती हैं।पूर्ण शिक्षित, संस्कृतिक चेतना से अभिभूत उषा एक स्वाभिमानी पात्र है। अपने पति द्वारा अन्य व्यक्ति के सामने अपमानित किये जाने पर विरोध स्वरूप वह कहती है– "आपने दूसरों के सामने डांट कर हमारा अपमान क्यों किया? आपकी वाइफ की इनसल्ट आपकी इंसल्ट नहीं? हमारी गलती समझें तो अकेले में जो चाहे कहते, डांट लेते।"[68]

कभी सुलह, कभी नाराजगी, यह तो पति–पत्नी में चलता ही है किन्तु दोनों के बीच एक तीसरे व्यक्ति का प्रवेश संदेह नाग के दंश का कार्य करता है। उषा अमर के मध्य नरेन्द्र का आगमन दोनों के सुखद दाम्पत्य में विष घोल देता है। सन्देह, आरोप, ईर्ष्या और आवेश अमर की जान ले लेते हैं। आवेश में होश खो एक दिन अमर उषा को कहता है– "तुमने मुझे इतना अपदार्थ,

नपुंसक समझ लिया कि मुझे अपने प्रेमी से अभिसार के लिए पर्दा बनकर साथ चलने के लिए धमका रही हो। एक बार तुम्हें उसकी संगति में छोड आया, तुमने मुझे ककोल्ड (कुलटा का मूर्ख या अपदार्थ पति) समझ लिया (जैसे चाहोगी) मुझे नचाती रहोगी।''[69] आगे की कथा पति पत्नी के एक दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप कर एक दूसरे से मुक्त हो जाने के लिए संघर्ष की कहानी पर आधारित है। दोनों के मुक्त होने के पूर्व एक प्रसंग दृष्टव्य है–

''उषा :'मैं कह चुकी'

अमर : 'तुम्हें दोनों में से एक को चुनना होगा'

उषा : मौन

पति ने उत्तर के लिए तकाजा किया।

उषा नजर खिडकी से बाहर किये स्तब्ध! पति के तीसरे तकाजे पर उषा का मौन टूटा, स्वर क्षीण परन्तु, अब फिर चुनना है तो.... इट इज नोट यू''[70] भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में पल्वित अमर और पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित उषा का यह वार्तालाप भारतीय पारिवारिक जीवन मूल्यों में आस्था रखने वाले पाठक के लिए भी मोह भंग की स्थिति लाने के लिए पर्याप्त है। यहॉ यह भी पता चलता है कि विभिन्न सम्प्रदायों की अपनी–अपनी संस्कृति होती है और उनका अपना रहन–सहन, उनकी अपनी समस्यायें, रूचि एवं सांस्कृतिक स्वर होता है। एक हिन्दू अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित जैसी नारी की अपेक्षा उषा पण्डित जैसी जागरूक विदुषी इसाई पत्नी से विवाह करना अमर की भूल है।

परिवार सम्बन्धी दृष्टिकोण में सदैव क्रान्ति तथा प्रगतिशीलता की चर्चा करने वाले यशपाल ने 'मेरी तेरी उसकी बात' में उषा के अन्तिम निर्णय में परिवर्तन प्रस्तुत कर एक नया प्रश्न चिन्ह खड़ा कर दिया है। सदैव व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का राग अलापने वाली उषा विधवा होने के पश्चात रूद्र पाठक से विवाह (सिविल) का निश्चय करती है किन्तु ठीक अन्त में मैरिज के कार्ड छपने के पश्चात इस विवाह से मुँह मोड लेती है तथा रूद्र से कहती है।''डियर मुझे छमा कर दो, सब तरह तुम्हारी हूँ और रहूँगी परन्तु बेटे के मन से कुण्ठा के संस्कारमिटाये बिना तुम्हारी पत्नी होने का संतोष और गर्व न पा सकूँगी।''[71] उषा की यह पंक्ति उसके मानस के भीतर भारतीय संस्कृति की अमिटछाप की परिचायक है। उषा वैधत्व की स्थिति में मात्र अपने परिवार तथा पुत्र की हो जाना चाहती है। उसमें सेवा त्याग तथा निस्वार्थ जीवन जीने की लालशा जाग जाती

रखने वाली संस्कृति का सफल चित्रण किया है।

'मेरी तेरी उसकी बात' में एक ऐसे पति–पत्नी की भी कहानी है जिन्हें प्रतिगामी दम्पत्ति कह सकते हैं। रजा गेती पति–पत्नी में रूढिवादी, प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों की उपासिका अशिक्षित गेती तथा नवशिक्षित डॉ0 रजा के अनमेल विवाह की कथा गठित हुई है। गेती पर्दा प्रिय है।,रजा उसे मार्डन सोसाइटी में घुमाने को बेचैन रहता है।, फिर भला दोनों में कैसे पटती। अशिक्षित, मूढ़ गेती एक दिन रजा से कहती है– "हाय अब्बा ने हमें किस कुएँ में डाल दिया....... तुम्हें गली कोठों की खाक फांकनी थी तो हमारी जिन्दगी क्यों बरबाद की।"[72] गेती–रजा का पारिवारिक जीवन करूण एवं कटुता पूर्ण है। अंध विश्वासों की विभीषिका ने दोनों के जीवन में आग लगा दी है।

इस उपन्यास के माध्यम से कथाकार पति–पत्नी सम्बन्धों के मध्य आये नैतिक–अनैतिक, श्लील–अश्लील, प्रसंगों की जो चर्चा कर गया है, वह वर्तमान सांस्कृतिक द्वैध की यथार्थ स्थिति की परिचायक है। काम और सेक्स के प्रति स्त्रियों एवं पुरूषों का कम्पित हो जाना हमारी अर्द्ध चेतन मनःस्थिति का परिचायक है। इसी कारण अमर का बलिदान हुआ, और उषा पंडित उपन्यास के अन्त तक कोई निर्णय न ले पाई।

परिवार में स्त्री–पुरूष 'सेक्स' को हब्बा न बनाकर बाइलोजिकल यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में देखें तभी आपसी समझदारी एवं भविष्य में इन्सानी रिश्ते बने रहने की सम्भावना उपजती रहेगी, नहीं तो परिवारों का टूटना–बिखरना सतत जारी रहेगा इसका स्वरूप उषा–अमर जैसा भी हो सकता है या फिर गेती–रजा जैसा भी हो सकता है।

व्यक्तिवादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन

पारिवारिक विघटन में यथार्थवादी उपन्यासों एवम मार्क्सवादी उपन्यासों के कारण सम्बन्धों में ठकराव तो पैदा होता ही है इसके साथ ही उन उपन्यासों का भी नाम लिया जा सकता है जो व्यक्तिसत्ता को सर्वोपरि मानकर व्यक्ति के अन्तर्वाहरूप का चित्रण होने के कारण यदि एक ओर मनोविश्लेषण प्रमुख था तो दूसरी ओर यौन भाव। नन्द दुलारे वाजपेई ने उन उपन्यासों को व्यक्तिवादी उपन्यास माना है जिनमें "व्यक्तिगत जीवन–घटना, व्यक्ति–चरित्र, व्यक्तिगत जीवन–दर्शन, व्यक्तिगत मनोविज्ञान या व्यक्तिगत जीवन–समस्या का निरूपण या निर्देश सर्वोपरि रहता है।"[73]

पारिवारिक विघटन की दृष्टि से हिन्दी उपयास साहित्य मे व्यक्तिगत महत्ता का यह स्वर यों तो प्रसाद के 'कंकाल' और उससे भी पहले ब्रजनन्दन सहाय के 'सौदर्योपासक' में सुनाई दिया था। किन्तु स्वातन्त्रयोत्तर काल में यह व्यक्तिवादिता एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति के रूप में युगीन उपन्यास–साहित्य का प्रमुख रचनाधार बन गयी।

व्यक्तिवादी साहित्यकार व्यक्ति के बाह्य वातावरण की अपेक्षा उसके अन्तर्लोक को अधिक महत्व देता है और उस अन्तर्लोक को उद्घटित करने हेतु वह मनोविश्लेषण की प्रक्रिया अपनाता है। विघटन की इस अन्तर प्रक्रिया में कथाकार प्रमुख पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के विचारों का सहारा लेता है। इस शास्त्र के प्रमुख आचार्यों – फ्रायड, एडलर और युंग के अनुसार मनुष्य यौनेच्छाओं , हीन भावनाओं और जीवनेच्छाओं का पुंज है। उसका समस्त बाह्य जीवन और संसार उसके मस्तिष्क के चेतन, उपचेतन और अवचेतन और जिन में अवचेतन सर्वाधिक महत्वपूर्ण और नियंत्रक है। के अनुसार बनता बिगड़ता तथा संचालित होता है। उस अवचेतन का अंकन करते हुए मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अलावा मनोविश्लेषण की पद्धति को भी अपनाना पडता है वहीं उसकी यौनेच्छाओं, हीनता की भावनाओं और जीवनेच्छाओं के अनुरूप ही सम्पूर्ण जीवन की गति स्थिति को समझना होता है।

व्यक्तिवादी कथाकारों में जैनेन्द्र प्रसाद, इलाचंद जोशी, अज्ञेय, डॉ0 देवराज तथ मणि मधुकर प्रमुख हैं । व्यक्तिवादी चेतना के अनुसार देख जा सकता है कि इस धारा के"औपन्यासिकों ने व्यक्ति को न केवल समाज से बल्कि उससे ऊपर भी स्वीकार किया है अपितु उसे समाज से अधिक वास्तविक, स्वतन्त्र निर्णायक और उत्तरदायी तथा अंतिम लक्ष्य के रूप में माना है।"[73] जय शंकर प्रसाद ने कंकाल में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उभारा है।

व्यक्तिवादी उपन्यासकार इलाचंद जोशी भी हैं लेकिन उनके व्यक्तिवाद में समाज का भी समावेश है। उनका व्यक्ति और उनकी समस्याएं समाज और उसके विविध चक्रों के बीज मूल प्रतीक और सिद्धान्त आधारित हैं। इसलिए जोशी जी व्यक्ति के अंतरंग और बहिरंग के लिए तथा दोनों के समन्वय में व्यक्ति की पूर्णता स्वीकार करते हैं। 'सन्यासी' में इस अहं भाव को देखा जा सकता है।

मणिमधुकर का 'सफेद मेमने' भी शुद्ध वैयक्तिक उपन्यास है जिसमें सभी पात्र रेत की उष्णता में मन के द्वैध में टूटते विखरते रहते है।

कंकाल

जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित उपन्यास कंकाल (1929) की मुख्य कथा किशोरी श्री चन्द्र के दाम्पत्य जीवन की है पर इसके समानान्तर कई कथायें चलती रहती हैं। किशोरी और देव निरंजन बचपन के मित्र हैं। किशोरी की शादी हो गयी है परन्तु बच्चे नहीं पैदा हुए हैं इसी मन्नत के लिए वह देवनिरंजन के पास पुत्र की याचना हेतु पति श्री चंद्र के साथ जाती है। वे दोनों एक दूसरे को पहचान लेते हैं और संयम के खोने से दोनों के अवैध सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं किशोरी– देव निरंजन के अवैध सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप विजय का जन्म होता है। दूसरी ओर भारत संघ के संस्थापक मंगल देव पहले तारा से प्रेम करता है। फिर विवाह का प्रलोभन देकर उसे गर्भवती बनाकर विवाह से कुछ ही मिनट पहले उसे विधि के भरोसे छोड़ कर उससे दूर चला जाता है और गाला से विवाह कर लेता है क्योंकि मंगल उसे दुश्चरित्र मॉ की संतान समझता है जबकि मंगल खुद अवैध संतान है।

लतिका बाथम भी आपस में प्रेम विवाह करते हैं, परन्तु बाथम का चरित्र अच्छा न होने के कारण लतिका से अनबन रहती है। दूसरी ओर चाची की लडकी घण्टी का चरित्र उच्श्रृंखल होने के साथ–साथ जारज संतान भी है। किशोरी श्रीचंद्र का तथाकथित पुत्र विजय के दुश्चरित्र होने के साथ–साथ घण्टी के साथ अवैध सम्बन्ध भी रखता है। और वह अपनी मॉ को छोडकर चला जाता है किशोरी का जीवन एक संतप्त माँ का जीवन रह जाता है। वह पति से विलग एक महाधिपति की रखैल बन कर आन्तरिक दुख में दुखित जीवन व्यतीत करती है परन्तु अन्त में किशोरी तथा श्री चंद का समझौता हो जाता है, परन्तु पुत्र विजय तथा यमुना (तारा) का पवित्र जीवन टूट जाता है और उनका कंकालिक रूप समाज के सामने उपस्थित होता है।

'कंकाल' का विशेष महत्व उसकी साहित्यिक उपलब्धि में नहीं, वरन एक नयी शुरूआत में है। कंकाल (प्रसाद) और उनके काल की कृतियों के बीच यथार्थ का एक नया आयाम लेकर उभरता है। यह शुद्ध यथार्थवादी कृति है, इसमें आधुनिक परिप्रेक्ष्य में बिना किसी महत्ता या आदर्श के आरोपण के समाज की विषमता को विभाजित एवं विघटित करने वाले तत्वो को तटस्थ भाव से चित्रित किया गया है। यह सत्य है कि प्रसाद युगीन समाज सांस्कृतिक दृष्टि से इतना

पतित था कि वहॉ सामाजिकता और आर्थिक समस्याएं गौण हो गयी थीं। परिवारों के विघटन एवं पतन में प्रसाद जी का विश्वास था कि धर्म हमारे समाज को पतित होने से बचा नहीं सका है और न ही उसने अपने भीतर पैदा होने वाली नित नूतन विसंगतियों से वर्णसंकरी समाज की रचना की है और समाज के विभाजन में बहुत कुछ धार्मिक अन्ध विश्वासों एव इनके अत्याचारों का प्रभाव रहा है। धर्म के इसी मिथ्या बोध तथा आतंक ने समाज को बाध्य किया है कि वह भटकी, अपनी बहू–बेटियों को स्वीकार करने से इनकार करे, अविवाहित या विधवा स्त्रियों को मॉ बनाकर परित्यक्त कर दें।

'कंकाल' का कथानक पूरे धार्मिक वातावरण के संडांध तथा लिजलिजापन इससे जुड़े मध्यवर्ग के स्वार्थ एवं परिवारों के टूटने–बिखरने की दास्तान कहता है। कंकाल को विघटित जीवन का ही कंकाल कह सकते हैं, क्योंकि इसमें सुगठित समाज तथा सुश्रृंखलित परिवार में सुखद दाम्पत्य के दर्शन नहीं होते। मुख्य कथा किशारी श्री चन्द्र के दाम्पत्यजीवन की दरार की है। प्रत्येक पात्र किसी न किसी स्थान पर किसी न किसी रूप में स्त्री–पुरूष के सम्पर्क में आता है।

देव निरंजन धार्मिक हिपोक्रेट का प्रतिरूप है। उसका जीवन आरम्भ में धार्मिक निष्ठा और तपस्या से आरम्भ होता है, किन्तु किशोरी को देखते ही उसके मन में पाप उत्पन्न हो जाता हैं जिसे वह प्रेम का प्रतीक मानकर अपनी दार्शनिकता का मुलम्मा चढ़ाते हुए कहता है– "हाँ किशोरी मैं वही रंजन हूँ तुमको पाने के लिए ही जैसे आज तक तपस्या करता रहा, यह संचित तप तुम्हारे चरणों में निछावर है। सन्तान, ऐश्वर्य और उन्नति देने की मुझमें जो शक्ति है वह सब तुम्हारी है।"[75] यह जानते हुए भी कि किशोरी किसी की पत्नी है और सामाजिक सम्बन्धों में बंधी हुई नारी है, देव निरंजन उसे पथ भ्रष्ट होने की प्रेरणा भी देता है और उसके पारिवारिक विघटन का कारण भी बनता है। जिस प्रकार मंगलदेव–तारा अनैतिक सम्बन्धों के कारण वर्णसंकरी संतान मोहन का जन्म हुआ, ठीक उसी प्रकार देवनिरंजन–किशोरी के पाप सम्बन्धों का परिणाम है विजय। मंगलदेव स्वयं भी सरला नाम की महिला की अवैध संतान है। इस पर टिप्पडी करते हुए डॉ0 रामदरश मिश्र लिखते हैं– "इन अनेक पात्रों के प्रणय–सूत्र आपस में अत्यन्त उलझे हुए हैं। लोकोपवाद से डरे हुए ये पात्र दुर्बल हैं इसलिए ये अपने प्रेम सम्बन्धों में भी बहुत अस्पष्ट है। प्रणय सूत्र कई–कई गांठे मारता चलता रहता है और यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि किसका प्रेम किससे है और कब बदल जायेगा।"[76]

चूँकि कंकाल में किशोरी श्री चंद के पारिवारिक जीवन के विघटन की मूलकथा है अतः उपन्यास के प्रारम्भ में इन दोनों के सम्बन्धों की झलक मिलती है। तत्पश्चात देव निरंजन के कारण श्री चंद्र किशोरी दाम्पत्य के विघटन और उसके पश्चात पुनर्गठन ने कंकाल में जान डाल दी है। आरम्भ में किशोरी श्री चंद्र के वार्तालाप में शाश्वत प्रेम एवं सुखी दाम्पत्य जीवन के दर्शन होते है। किशोरी श्री चंद्र पर पूर्ण अधिकार भावना से कहती है– "मैं पहले ही कहती थी कि तुम कुछ न कर सकोगे न तो स्वयं कहा और ना मुझे स्वयं प्रार्थना करने दी।" विरक्त होकर श्री चन्द्र ने कहा– "तो तुमको किसने रोका था। तुम्हीं ने क्यों न सन्तान के लिए प्रार्थना की । कुछ बाधा तो दी न थी।"[77]

तत्पश्चात देवनिरंजन के विचलित होने पर तथा किशोरी को अपना पूर्व परिचय देने पर वे उसे पथभ्रष्ट होने पर विवश करने के पश्चात उपन्यास में नया मोड उपस्थित होता है। किशोरी सन्तान के लाभ में अन्धी थी। वह दुखी होकर भी तथा पति परायण होते हुए भी देवरंजन को समर्पित हो जाती है तथा उपन्यास में परिवारिक विघटन प्रारम्भ हो जाता है– किशोरी की मनः स्थिति से स्पष्ट है– "अतीत की स्मृति, वर्तमान की कामनाएँ, किशोरी को भुलावा देने लगीं। माथे से पसीना बहने लगा। दुर्बल ह्रदया किशोरी को चक्कर आने लगा। उसने ब्रह्मचारी के चौड़े वक्ष पर अपना सिर टेक दिया।"[78]

किशोरी– देव निरंजन के अवैध सम्बन्धों के परिणाम स्वरूप विजय का जन्म होता है, परन्तु विजय के दुःचरित्र होने पर तथा उसके गृह त्याग के पश्चात किशोरी का जीवन एक संतप्त माँ का जीवन रह जाता है। इस बात को स्वयं देव निरंजन स्वीकार करता है कि वह उनके दाम्पत्य विघटन का कारण है। अपने पत्र में एक स्थान पर देव निरंजन लिखता है– "रूचि मानव प्रकृति, इतनी विचित्र है कि वैसा युग्म विरला होता है, मेरा विश्वास है कि वह कदापि सफल न होगा। स्वतन्त्र चुनाव, स्वयंबरा, यह सब सहायता नहीं दे सकते। इसका उपाय एकमात्र समझौता है। वही ब्याह है। तुम लोग उसे विफल बना ही रहे थे कि मैं बीच में कूद पडा।"[79] जहाँ देव निरंजन के कारण किशोरी श्रीचन्द्र के पारिवारिक जीवन में विघटन होता है, उसी प्रकार 'चन्दा' नामक धनी व्यापारी विधवा के कारण श्रीचन्द्र किशोरी का पुनर्मिलन होता है। उपन्यास की यह घटना सिद्ध करती है कि दाम्पत्य–प्रेम एक शाश्वत धारा है। किसी विशेष परिस्थितिवश यदि इसमें विक्षेप आ भी जाता है तो समय एवं परिस्थिति के परिवर्तन द्वारा वह पुनः अनुकूल परिस्थिति पाकर प्रवाहित होने लगती हैं। श्री चन्द्र किशोरी वार्तालाप से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है–

"तो हम लोग क्या इतनी दूर हैं कि मिलना असम्भव है?"

'असम्भव तो नहीं है, नहीं तो मैं आता कैसे?'

'अब स्त्री सुलभ ईर्ष्या किशोरी के हृदय में लगी। उसने कहा– आये होगे किसी को घुमाने–फिराने–सुख बहार लेने।'

किशोरी के इस कथन में व्यंग्य से अधिक उलाहना था। न जाने क्यों श्री चंद्र को इस व्यंग्य से संतोष हुआ, जैसे ईप्सित वस्तु मिल गई हो, वह हंसकर बोला–"इतना तो तुम भी स्वीकार करोगी, कि यह कोई अपराध नहीं है। 'किशोरी ने देखा, समझौता हो सकता है, अधिक कहा–सुनी करके इसे गुरूतर नहीं बना देना चाहिए। उसने दीनता से कहा– तो अपराध क्षमा नहीं हो सकता।"[80]

इस प्रकार कंकाल में किशोरी– श्रीचंद्र के पारिवारिक सम्बन्धों में प्रेम की अजस्र धारा परिस्थिति की अनुकूलता पाकर पुनः प्रवाहित होने लगती है और वे साथ–साथ जीवन यापन करने लगते हैं। उनके परिवार का पुनर्गठन होता है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि विवाह एक सामाजिक संस्कार है। इसके द्वारा दम्पत्ति धर्म की वेदी पर एक दूसरे का वरण करते हैं। अतः पति–पत्नी का प्रेम भी शुद्ध सात्विक निरन्तर प्रवाहित रहने वाली वह मंदाकिनी है जिसमें युगल दम्पत्ति सारे जीवन स्नान करके सुगठित समाज का निर्माण करते हैं। इसके अभाव में मानव जीवन बिखर एवं टूट जाता है जैसे विजय अथवा यमुना का पवित्र जीवन टूट जाता है तथा उनके दाम्पत्य जीवन का कंकालिक स्वरूप हमारे समक्ष उपस्थित होता है।

डॉ0 सुरेश सिन्हा के शब्दों में– "कंकाल में मूल रूप से स्त्री पुरूषों के सम्बन्धों पर व्यक्तिवादी दृष्टि कोण से विचार किया गया है उसके अधिकांश पात्र जारज संतान है।"[81] डॉ0 सुषमाधवन के शब्दों में– "उपन्यास में सभी पात्र जारज हैं, जो समाज की दृष्टि से पतित हैं और व्यक्ति की दृष्टि से उच्छ्रंखल।"[82] कंकाल में जयशंकर प्रसाद ने भारतीय समाज तथा हिन्दू एवं ईसाई धर्म का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। इस कृति के द्वारा वे सिद्ध करते हैं कि हिन्दू धर्म में आ गई दुर्बलताओं ने हमारे समाज को भीतर से खोखला कर दिया है तथा नर–नारी सम्बन्धों में विसंगतियाँ भरकर वर्णसंकरीय समाज की संरचना की है। धार्मिक विश्वासों के मिथ्याबोध और अन्य विश्वासों में बंधकर ही श्रीचंद किशोरी में विघटन उत्पन्न होने लगता है,।

सन्यासी

'सन्यासी' इलाचन्द्र जोशी की अन्यतम कृति है। नन्द किशोर दमि कामवासना का शिकार तथा अहंवादी व्यक्ति है प्रारम्भ में वह शान्ति नामक युवती से प्रेम करता है। दोनों पति–पत्नी का व्यवहार कर इलाहाबाद में किराये का कमरा लेकर जीवन–यापन करते हैं। नन्द प्रसन्न है कि उसे नारी मिल गयी, जबकि शान्ति चिन्तित है क्योंकि स्वयं स्वीकार्य दाम्पत्य जीवनकी आशंकाएँ उसके मन–मस्तिस्क को आलोड़ित करती है। बलदेव के आगमन से कथा में मोड़ आता हैं। शंकाशील नन्द बलदेव से शान्ति का अनैतिक सम्बन्ध जोडता है तथा उद्विग्न रहता है, तत्पश्चात शान्ति नन्दकिशोर के बड़े भाई के आग्रह पर नया निश्चय करती है। शान्ति का त्यागमय, तेजस्वी स्वरूप भी अभिमानी नन्द को नहीं बॉध पाता। वह नन्द के साथ आदर्श पत्नी बनकर जीवन यापन करना चाहती है, परन्तु उसका उच्च्य पवित्र सम्बन्ध नन्द की शंकाशील प्रवृत्ति का दमन नहीं करता वरन उसकी अधिकार भावना की वृद्धि करता है और यही अधिकार भावना शान्ति को घर छोड़ने पर विवश कर देती है।

नन्दकिशोर का दूसरा विवाह बंधन प्रो0 मिश्र की लड़की जयन्ती से स्थापित होता है, नन्द किशोर की अहंवादी, स्वार्थी तथा शंकालु प्रवृत्ति बनी रहती है। नन्द यहाँ भी जयन्ती का सम्बन्ध कैलाश से जोड़कर उसे त्रस्त करने लगता है। जयन्ती शान्ति के सदृश सहिष्णु स्त्री नहीं थी। वह नन्दकिशोर के साथ सुखी दाम्पत्य जीवन जीने का पुर्ण प्रयत्न करती है। परन्तु असफल रहती है वह नन्दकिशोर के चरित्र का विश्लेषण करते हुए कहती भी है कि उसने (नन्दकिशोर से वैवाहिक जीवन) सुख और शान्ति के लिए विवाह नहीं किया है वरन सामाजिक अधिकार और उसे कलुषित करने के लिए किया है। और वही दर्द जयन्ती को जलकर आत्मघात करने के लिए विवश करता है। वहीं शान्ति क्रान्त होकर एक नया मार्ग खोज लेती है। नन्दकिशोर के कुछ समय पश्चात मिलने पर भी वह नन्द को पुनः स्वीकार नहीं करती, नन्दकिशोर निराश व हताश होकर सन्यासी बन जाता है।

इलाचन्द्र जोशी हिन्दी साहित्य के प्रथम उपन्यासकार हैं जिन्होंने प्रेमचन्दोत्तर काल में स्त्री–पुरूष के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन दर्शाये हैं। सन्यासी उपन्यास में प्रेमविवाह और दाम्पत्य सम्बन्धों पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। सन्यासी आत्म विश्लेषण से परिपूर्ण एक मनोवैज्ञानिक एवं क्रान्तिकारी उपन्यास है, परन्तु व्यक्ति समाज से दूर अपनी सत्ता नहीं रख सकता। समाज के फलक

पर ही घटनाओं के जाल द्वारा पात्रों का चरित्र उद्घाटन होता है।
शान्ति विवाहित न होते हुए भी परम्परागत दाम्पत्य भावना से ओत प्रोत है। वह नन्द के साथ आदर्श पत्नी बनकर जीवन यापन करना चाहती है परन्तु उसकाउच्च पवित्र सम्बन्ध नन्दकिशोर की शंकाशील प्रवृत्ति का दमन नहीं करता, वरन उसकी अधिकार भावना की वृद्धि करता है। अपनी इसी मानसिक स्थिति को नन्द किशोर इन शब्दों में व्यक्त करता है– "मैं अपनेअज्ञान में यह महसूस कर रहा था कि मैं जिस तरह का निकम्मा असांसारिक और अनावश्यक आदमी हूँ, अंग्रेजी में जिसे कहते हैं– Heeless उस तरह के आदमी से कभी किसी भी प्रकार के बंधन से बंधे रहना (चाहे वह बन्धन कैसा भी पवित्र और स्वर्गीय क्यों न हो) सम्भव हो ही नहीं सकता।"[83]

तत्पाश्चात नन्द किशोर का जयन्ती से विवाह बंधन उसके दाम्पत्य जीवन का द्वितीय स्वरूप है। जयन्ती नन्द किशोर के चरित्र का विश्लेषण करके असफल पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन का परिचय देते हुए स्पष्ट शब्दों में कहती है– "आपने वैवाहिक सुख और शान्ति के इरादे से मुझसे विवाह कभी नहीं किया, बल्कि अपने सामाजिक अधिकार के पूरे प्रयोग से मुझे कलुषित और दलित करके एक हिंसात्मक सुख प्राप्त करने का उद्देश्य आपका प्रारम्भ से ही रहा है। विवाह के पूर्व से ही आपके मन में, जान में या अनजान में मेरे चरित्र के प्रति सन्देह और साथ ही एक अस्वाभाविक ईर्ष्या का भाव घर किये था।"[84]

जयन्ती के शब्दों ने नन्द किशोर के मनस्तर की आन्तरिक ग्रन्थि खोल दी है। जिसके कारण वह दो नारियों से पत्नी के स्नेह सम्बन्ध स्थापित करता है और दोनों के साथ सुखी दाम्पत्य जीवनयापन करने में असमर्थ रहता है। जयन्ती नन्द द्वारा तिरस्कृत होकर आत्महत्या कर लेती है। शान्ति क्रान्त होकर नवीन मार्ग पर अग्रसर हो जाती है। नन्द किशोर के कुछ समय पश्चात मिलने पर भी वह नन्द को पुनः स्वीकार नहीं करती, नन्द किशोर निराश व हताश होकर सन्यासी बन जाता है। इस प्रकार 'सन्यासी' शुद्ध दाम्पत्य परक उपन्यास न होकर दाम्पत्य सम्बन्धी जीवन के बदलते स्वरूपों का परिचय देने वाला तथा पारिवारिक विघटन की संघर्षमयी स्थिति का परिचायक अन्यतम उपन्यास है।'

नन्द किशोर का अहं इतना भारी पड़ता है कि उसे किसी भी स्त्री के प्रति पूर्ण लगाव नहीं महसूस होता, और उनमें विकृतियों का ताना बाना बुनता रहता है, साथ अपनी प्रथम प्रेमिका शान्ति से होने वाली सन्तान को भी नहीं प्राप्त कर पाता है। पारिवारिक विघटन का दंश नयी पीढी को भी भोगना पडता है। डॉ० रामदरश मिश्र के अनुसार– "सन्यासी का नन्द किशोर एक प्रचण्ड अहंकारी

व्यक्ति है जो अपने अहंकार की तृप्ति के लिए कई स्त्रियों का जीवन नष्ट करता है, न उन्हें शान्ति दे पाता है और न खुद पाता है। अन्त में वह अपने को एक सामाजिक अर्थ से जोड़ना चाहता है अर्थात सन्यासी होकर नेता बन जाता है और जेल चला जाता है।"[85]

सफेद मेमने

मणिमधुकर के उपन्यास 'सफेद मेमने' (1971 ई0) राजस्थान के नेगिया गॉव की कहानी है। नेगिया की बस्ती मनुष्य के निर्जीव होते जाते अस्तित्व और मनहूसियत के एहसास से अन्तर्बद्ध हो गई है। नायक पोस्ट मास्टर पुंसत्वहीन है और इसे छिपाने के लिए वह हिरनों, तो कभी गिलहरियों के बीच घूमा करता है अपने दाम्पत्य जीवन के तनाव और कड़वाहट को लिंकन की महानता से जोड़कर अपने चोट खाये अहं व पौरूषहीनता को सहलाता रहता है। पत्नी बन्ना सर्द हो चुकी है और सन्दों में यौन भावना का हिंस्र वेग है। बन्ना की लाचारी यह है कि रामऔतार से प्रेम के साथ उतना ही उसकी मौत से प्रेम करती है। डॉक्टर जिसे गॉव के लोग 'जिनावर स्याब' कहते हैं वह एक साथ कई लोगों से जुडने की कोशिश करता है। अपने एकांत की कुंठा को समाप्त करने के लिए वह जानवरों से सम्भोग करता है। वहीं दूसरी ओर जाटों का खून संदों की रंगों में दौड़ रहा है। वह सुरजा से अमानुषिक व्यवहार करता है और जस्सू को सुरजा से शादी न करवाकर पुलिस को दे देता है। रक्खे का पुत्र संदो रामऔतार की पत्नी बन्ना को लेकर भाग जाता है। उधर जस्सू गाँव की जंतरी से अपने तनाव को दूर करना चाहता है और इसमें असफल होता है, जंतरी की मार उसे बेहोश कर देती है। रामऔतार सुबह जगने पर अपनी पत्नी बन्ना की तलाश में निकलता है इसी के साथ उपन्यास की कथा समाप्त होती है।

'सफेद मेमने' में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन का दमघोटू अभिव्यक्ति रेत के टीलों के रूप में नेगिया गाँव में हुआ हैं।डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के शब्दों में– "इसमें कुछ पात्र या मेमने जो सफेद हैं, नगर बोध को लिये हुए हैं राजस्थान के एक छोटे से गाँव नेगिया में रहते हैं। जिसका खालीपन पराया सा लगता है। आधुनिकता का बोध नगर बोध से जुडा हुआ है लेकिन यह कहीं भी उजागर हो सकता है– पहाड़ पर, रेगिस्तान में, टापू में या गंज।"[86] सफेद मेमने का परिवेश अन्य उपन्यासों से हटकर है। यह महानगर न होकर रेगिस्तान है। इसमें नगरों की भीड़ के बजाय रेगिस्तान का एकान्त है सभी परिवारों के लोग सम्बन्धों की तलाश में अकेलेपन, अजनबीपन और बेगानेपन के बोध से घिरे हुए

है। डॉ0 नरेन्द्र मोहन के कथनानुसार – "रेगिस्तान का अन्तहीन रेतीला फैलाव यहाँ पात्रों की भीतरी पर्तों से लिपटा हुआ है। नेगिया की बस्ती मनुष्य के निर्जीव होते जाते अस्तित्व और मनहूसियत के एहसास से अन्तर्बद्ध हो गई है।"[87] इस रेगिस्तान के उजाड एकान्त में अकेलेपन, मामूलीपन अजनबीपन और फालतूपन के बीच सभी पात्र अधिक गहराई से खोये हुए हैं।

'सफेद मेमने' से परम्परागत भारतीय पारिवारिक सम्बन्धों का गतिरोध टूटा है तथा हिन्दी उपन्यास को नया मुहावरा मिला है। हिन्दी उपन्यास आदर्शवादी रूमानियत की भूमि लॉघकर किस प्रकार यथार्थ के धरातल पर अपने को प्रतिष्ठित करने का उपक्रम कर रहा है, यह 'सफेद मेमने' इसका सशक्त प्रमाण है। अकेलेपन, अजनबीपन, विसंगति बोध व व्यंग्य आक्रोश का मिला जुला स्वर उपन्यास की संरचनात्मक बुनावट से पूरे आवेग के साथ उठता है। परिवेश और वातावरणगत नीरसता के माध्यम से मणिमधुकर पात्रों के अकेलेपन और अजनबीपन को गहराते है।

डॉ0 गिरिजाराय के शब्दों में – "इस उपन्यास का एक पहलू यौन संबंधों का है।"[88] पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन का एक प्रमुख बिन्दु यौन सम्बन्धों में असन्तुलन भी होता है। चूँकि बन्ना सर्द हो चुकी है इसलिये "वह रामऔतार की जिन्दगी से जितना प्यार करती है, उतना ही उसकी मौत से। दोनों के बीच फर्क करना या विभाजन रेखा खींच देना उसके बस की बात नहीं है। वह पति को भारी महत्व देती है और अपने मुंहासों को भी। दर्द की जो कड़वाहट या मिठास पति के साथ जुड़ी हुई है, मुहासों तक आते–आते वह अधिक तीव्र हो जाती हें इलाज बन्ना के पास नहीं है। एक ऐसी स्थिति सामने आकर टिक गयी है कि निदान की जागरूकता खत्म हो चुकी है। पति और मुंहासों की बीच दूरी है, पर असन्तोष नहीं। मवाद है, पर वितृष्णा नहीं। खालीपन है, पर संशय नही। दाम्पत्य जब अपनी हदें पहचान लेता है तो अश्वस्त हो जाता है। अश्वस्त और सुखी सुख फिर चाहे रेत हो या पानी, कोई अन्तर नहीं आता।"[89] यह उसकी जटिल और उत्तेजक मनःस्थिति को प्रकट करने के साथ उसकी विवशता और लाचारी को पूरी निरीहता में उभारता है। यौन तथा दाम्पत्य सम्बन्धों की जटिलता को उपन्यासकार आधुनिक जीवन की विडम्बना के फलक पर रचता है इस प्रकार 'सफेद मेमने' में पारिवारिक विघटन आधुनिक बोध से जुड जाता है।डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार – "रामऔतार पोस्टमास्टर, जानवरों का डॉक्टर, बन्ना जस्सू आदि में आधुनिकता का बोध कभी बेगानेपन में उजागर होता है तो कभी जिन्दगी और मौत के चिन्तन में तो कभी व्यर्थता के बोध में।"[90]

पोस्टमास्टर रामऔतार की पौरूष हीनता उसे भीतर से खाली और खोखला करती जा रही है– "जस्सू चुप रहा इतना तो वह सोचता था कभी–कभार, कि पोस्ट मास्टर को कोई धारदार चीज काटे जा रही है और यहाँ मन नहीं लगता। लेकिन वह चीज क्या है, जस्सू पडताल नहीं कर पाया था।"[91] रामऔतार अपनी पौरूषहीनता को भुलाने के लिए कभी हिरनों तो कभी गिलहरियों के बीच घूमा करता है। अपने दाम्पत्य जीवन के तनाव और कडवाहट को लिंकन की महानता से जोड़कर अपने चोट खाये अहं व पौरूष को सहलाता है। डॉक्टरजिसे गाँव के लोग 'जिनावर स्साब' कहते थे, मैदान के मुरझाये विस्तार को इस झलक के साथ देखता है कि वह अभी इसके साथ जुड़ जायेगा। किन्तु वह जानता है कि कटे हुए अंग को जोड़ना बहुत कठिन काम है। सिर झुकाये भेडें यातना की हरधार से बेखबर और अनभिज्ञ चली जा रही है।। डॉक्टर अनुभव करता है कि हर आदमी भगोडा है और जीवन की तल्ख सच्चाइयों से मुँह छिपा रहा है। बन्ना को देखकर सोचता है कि वह मुक्त नदी है जो रेगिस्तान में आकर भी सूखी नहीं है। बन्ना के उद्दाम यौवन की उष्मा और ऊर्जा को अपने भीतर समेटकर वह अपने जीवन को एक नया अर्थ देना चाहता है। डॉक्टर इस मनहूसियत और भीतर के बंजरपन को तोड़ने के लिए भैंस की थूही थपथपाते हुए अपने रगों के तनाव को ढीला करना चाहता है। पर यह भी नहीं हो पाता। भीमा उसे कोठरी के द्वार पर मुँह बिराता भर्त्सना करता मिल जाता है।

डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार "जाटणी सुरजा एक मेमने की तरह है जिसे महज संभोग के लिए छीला जाता है। सुरजा, जस्सू के भीतर आते ही अपना लहँगा ऊपर उठाकर मुँह फेर कर बोलती है– "चढ़ जाओ"। इस अनुभूति की कड़वाहट से अजनबीपन उभरकर उसे दबोचता है जो बदलते परिवेश में स्त्री–पुरूष के बीच एक नया सम्बन्ध स्थापित करता है। संदो की रंगों में जाटों का खून दौड़ रहा है और वह अपने को राजपूत समझता है और सुरजा पर अपने दोस्तों से अमानुषिक व्यवहार कराता है। इस क्रूर और अमानुषिक सामंती मानसिकता को संदो–सुरजा प्रकरण के माध्यम से लेखक ने बडे कारूणिक ढंग से उभारा है। पुरूष समाज की इस पाशविकता के नीचे तडपती सुरजा के लिए जीवन अर्थहीन और विघटित हो जाता है। "सुरजा को पीढी–दर–पीढी अमरबेल की भांति फलने–फूलने वाले इस झगड़े से कोई लगाव नहीं था। वह देखती थी कि गाबासी का कोई तगड़ा जवान भी हाथ पडने पर बराऊ की किसी राजपूतणी को पकड़ लाता था और बदला लेने के लिए उसकी 'दुरदसा' करके छोडता था तब तमाम जाट गरब में ऐंठते हुए डोलते थे। कल्पनाओं के जोर पर वे बराऊ की

सभी 'चम्पा कलियों' से अपने जिस्मानी रिश्ते जोड़ने लगते थे। दोनो ढाड़ियों की बहादुरी औरतों के बूते पर जगमग थी। पुलिस वाले विचौलिए बनकर छापामारते थे, इस रूप में कि दुश्मनी उत्तरोत्तर बढे और खून खराबा हो जिससे उनकी हैसियत बनी रहे। माल– भत्ते में हिस्सेदारी चलती रहे। कभी–इधर से, कभी उधर से। उन्हें क्या परहेज हो सकता था।"[92] इस झगडे में केवल स्त्री की दुर्दशा होती थी और दूसरों की इज्जत बनती थी। संदों का मानवीय मूल्यों से अजनबीपन उसके क्रूर व्यवहार से प्रकट होता है। पुलिस की भूमिका केवल तमाशाई की है। पुलिस की अमानवीयता और बर्बरता कितने परिवारों का विघटन कर देती हैं यह 'सफेद मेमने' में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता हैं। संदों की इच्छा पूर्ति में तिलतिल जलती सुरजा के भीतर के तमाम अंधेरे को जस्सू पी जाना चाहता है। समय की क्रूर नियति यह सब नहीं होने देती है। सुरजा थानेदार की भेंट चढ़ जाती है और जस्सू निस्सहाय भाव से ताकता रह जाता हैं। जस्सू की यह विवशता आज के मानवीय सम्बन्धों के विघटन होने की नियति की विवशता से जुड़ जाती हैं। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार– "इस उपन्यास में बन्ना की दृष्टि में आधुनिकता झलकती है।"[93] रेगिस्तानी निचाट में हमेशा प्रसनन रहने वाली बन्ना स्वयं के लिए अपरिचित और अजनबी होनी जा रही है। मृत्यु का भय उसका पीछा कर रहा है। वह अपने अधूरेपन के बोझ के नीचे पिस रही है। बन्ना की सहजता से रामऔतार अपने पुसंत्वहीनता के एहसास को गलाना चाहता है और बन्ना मान चुकी है कि हर औरत किसी न किसी स्तर पर वेश्या बनने के लिए विवश है। अजनबीपन की रेत से मुक्त होने की कोशिश में, रामऔतार के पौरूष को आहत करता हुआ सदों का अंश उसके पेट में पलने लगता हैं।

डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ के शब्दों में– "दो बूढ़े पात्र, जस्सू और रक्खे अकेलेपन तथा अजनबीपन की भयानकता को भोगते हैं और शहरी जीवन की ललक लिए रहते हैं।"[94] सुरजा को लेकर जस्सू चिडचिड़ा हो जाता है। भीतर ही भीतर कोई चीज उसके अस्तित्व को काटती रहती है रक्खे को इस सत्य का भान होता है कि रेत के ढूहों में रहने वाले सभी लोगों का जीवन बॉस की फटी खपच्चियों की तरह है।

बन्ना के आगे अकेलापन और अजनबीपन पट्टान की भाँति अड़ा है इसे तोडने के लिए बन्ना सन्दों के साथ भाग जाती है। हताश रामऔतार फीकेपन से कहता है– "मैं, मै नहीं बदला। उसकी आवाज में फीकापन उतर आया, रेत आदमी को बदलती नहीं है, वहीं निर्जीव बना देती हैं।"[95] जस्सू जंतरी के माध्यम से अपने तनाव को व्यर्थ करना चाहता है पर असफल होता है। जन्तरी की मार

से बिलबिलाकर बेहोश हो जाता है। जस्सू की विवशता आज की मानवीय नियति की विवशता से जुड जाती है। पारिवारिक विघटन की इस विवशता और असमर्थता की गिरफ्त में सारे पात्र हैं। डॉक्टर को दुनिया रेत के थक्कों से लिथडी हुई दिखती है जिसमें सांस लेना मुश्किल है। 'सफेद मेमन' में मणि मधुकर ने पारिवारिक विघटन को, मानवीय नियति की विवशता एवं रेत की प्रतीकात्मकता की गहराई से आंका है उपन्यास इस प्रकार आधुनिक बोध की गवाही देने लगता है। मणिमधुकर के सफेद मेमने की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डॉ० गिरिजाराय लिखती हैं कि– "मणिमधुकर के उपन्यास सफेद मेमने (1971 ई0) में धूल के टीलों, आंधी और दमघोटूँ एकाकीपन से जकडे राजस्थान के नेगिया नामक गॉव की कहानी है। इस गॉव का रेगिस्तान अपनी प्रतीकात्मकता में अभिशप्त मानवीय नियति से जुड़ जाता है।"[96] इन रेत के टीलों में सभी पात्र एक दूसरे से कटे एवं बेगाने से मनहूसियत की जिन्दगी जी रहे हैं।

व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन

व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक वह पद्धति है जिसमें मस्तिष्क के तीसरे भाग अवचेतन पर विशेष बल दिया जाता है और उसी के अनुरूप मनुष्य के व्यक्तित्व की चित्र रचना की जाती है यही कारण है उसमें वह काल्पनिक आदर्शमय महात्म्य और औदात्य नहीं रहता जो मध्ययुगीन चरित्रों में रहता था, बल्कि मनोविश्लेषण के आधार पर अंकित चरित्र तो ऐसे ग्रन्थिमय व्यक्तित्व होते हैं जो अपनी अवचेतनीय कुठाओं तथा विसंगतियों के कारण आत्म रतिलीन क्षुब्ध असामाजिक, अराजक, काम पीड़ित, अनैतिक, अमानवीय, परपीड़क तथा घोर अहंमन्य होते हैं वे स्वस्थ सहज प्रवहमान सामाजिक जीवन न जीते हुए निजी परिवेश के क्षणों पर विश्वास करते हैं ऐसे चरित्र अपनी चेतना के क्षण–क्षण परिवर्तनशील प्रवाह के अनुरूप संचालित होने के कारण व्यवस्था– विरोधी होते है।

प्रेमचंद का 'गबन' उपन्यास व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक विघटन का उपन्यास कहा जा सकता है। क्योंकि "रमानाथ जैसे सामान्य पात्र को लाकर अन्तर्द्वन्द्व का जो मार्मिक अंकन प्रेमचंद 'गबन' में कर सके हैं वह उनके अन्य उपन्यासों में उपलब्ध नहीं होता। अन्तर्द्वन्द्व सामान्य पात्र में ही अधिक होता है जो संकल्प विकल्प के घात–प्रतिघात में रास्ता नहीं पाता"[97] रमानाथ मध्यवर्गीय युवक की समस्त सामाजिक स्थितियों का प्रतिनिधि होने के नाते संकल्प विकल्प का पुंज

बन जात है और उसका चरित्र कमजोर होने के साथ मनोवैज्ञानिक रूप से सजीव हो उठता है।

सुगठित एवं संगठित शुरूआत करने वाले इस प्रकार के उपन्यासकारों में जैनेन्द्र सर्वप्रथम आते हैं। इनकी यह प्रमुखता इसलिए है कि प्रेमचंद के समाजवादी, सोद्देश्य, यथार्थ उपन्यास रचना युग के उपरांत जैनेन्द्र ने ही सर्वप्रथम व्यक्ति के मन का विश्लेषण करते हुए उपन्यासों की रचना की। व्यक्तिपरक मनोविज्ञान का सही अर्थों में रचनात्मक प्रयोग जैनेन्द्र से ही आरंभ होता है। जैनेन्द्र के उपन्यास सच्चे अर्थ में मनोवैज्ञानिक कहे जा सकते हैं। 'त्यागपत्र' में विशेषतः मृणाल का चरित्राध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि उसमें सांसारिक वस्तुजात में सम्पूर्णता की प्रतीति का गेस्टाल्टवादी सिद्धान्त सहज रूप में दिखता है। जिस तरह से गेस्टाल्टवादी स्थिर रेखाओं के बीच, विशिष्ट परिस्थितियों के अंदर गतिमान चित्रों को देख लेता है, उसी तरह मृणाल हर जगह सब कुछ देख लेती है। कारण कि वह विशिष्ट मनःस्थिति में है।

इसी क्रम में एक अन्य अपेक्षाकृत अधिक प्रमुख और सर्वाधिक आधुनिक व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं– सच्चिदानंद हीरानद वात्स्यायन 'अज्ञेय' । अज्ञेय के उपन्यासों ने हिंदी के मनोवैज्ञानिक उपन्यास साहित्य को स्तर की प्रौढता प्रदान की है। शब्दान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि अज्ञेय ने ही अपने उपन्यासों के माध्यम से कथा को मनोविश्लेषण से संयोजित कर गहराई और मनोविज्ञान को कथा का आधार देकर जीवंतता प्रदान की है। अज्ञेय मूलतः फ्रायड से प्रभावित हैं यों तो यह डारविन एवम एडलर से भी प्रभावित दिखते हैं परन्तु परोक्षतः। अज्ञेय की कथाकृतीयों में मनोविज्ञान के चरित्र के व्यक्तित्व, जीवन की ऊष्मा, संवेदना की मधुर तरलता तथा परिवेश के आयामों से इस प्रकार घुला–मिला है कि वह न तो कहीं रचना के कथा तत्व को खंडित करता है और न पाठक के आस्वाद को विघटित।

शेखर– एक जीवनी में शेखर का विखरन एवं 'शशि का टूटना' में फ्रायड का दर्शन ही काम करता है। डॉ0 देवराज उपाध्याय की शोध है कि "शेखर : एक जीवनी के प्रथम भाग में शेखर के शैशव का अंकन फ्रायड की अनुवर्तिनी मनः चिकित्सा (Melamia klein)द्वारा किये गये Fritz नामक तीन वर्षीय बालक के मनोअध्ययन पर आधारित है।"[96] शेखर के विद्रोह में फ्रायड के Pleasure Princeple आनन्द कामना और Reality Principle यथार्थ बोध भाव को प्रकट करते हैं जिसमें उसके अस्तित्व, ईश्वर, जन्म, यौन, माता–पिता तथा समाज सम्बन्धी कौतूहल एवं जिज्ञासाएं आती हैं। शेखर को अपने पिता के रूक्ष स्वभाव के

बावजूद उनके प्रति आशक्ति तथा शान्ति स्वभाव होने पर भी मां से विरक्ति उसकी चेतना की यूडिपस कॉम्पलेक्स पितृरति ग्रन्थि तथा मातृरति ग्रन्थि को ही प्रमाणित करती है।

'नदी के द्वीप' जो अज्ञेय की दूसरी रचना है में फ्रायडीय मनोविज्ञान का पर्याप्त प्रभाव है इसमें पारिवारिक सम्बन्धों के विखरन एवम विघटन का प्रमुख स्वरूप फ्रायड की यौन–भावना ही केन्द्रीय चेतना बिन्दु है जिससे उपन्यास के पायः सभी पात्र परिचालित है।

धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' भी शुद्ध व्यक्तिपरक मनोवैज्ञानिक उपन्यास है क्योंकि इसमें सभी पात्र फ्रायड के यौन–भाव से ग्रस्त प्रतीत होते हैं। वैयक्तिक धरातल पर उपन्यास के सभी पात्रों में मानसिक द्वन्द्व विद्यमान है। चन्द्र कपूर, कैलाश, सुधा, विनती, प्रमिला और गैसू सभी शिक्षित मध्यवर्ग के पात्र हैं जिनके माध्यम से लेखक ने मध्यवर्ग के प्रेम विवाह तथा 'सेक्स' समस्या का वर्णन किया है। इन सभी पात्रों की समस्या यौन कुण्ठा है जो एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर स्वतन्त्र वैयक्तिक जीवन जीना चाहते है, परन्तु इस जीने में वे सम्बन्धों की वर्जनाओं को एक तरफ उठाकर रख देते हैं और सन्तुष्टी की चरमावस्था में तृप्ति की आकांक्षा लिए एक अनाम दौड़ लगाते रहते हैं।

गबन

मुंशी प्रेमचन्द्र द्वारा लिखित 'गबन' एक मध्यवर्गीय परिवार का कथानक है जो झूठे प्रतिष्ठा के प्रतिमानों और नारी आभूषण के कारण विघटन के कगार पर पहुँच जाता है।नायक रमानाथ के लिए विवाह आत्माओं का मिलन नहीं है। वह पत्नी को जीवन संग्राम में संगिनी के रूप में भी नहीं ले पाता। इसलिए उसके आगे भी वह किसी न किसी प्रकार से अपनी झूठी शान बनाये रखना चाहता है। उधर नायिका जालपा का बचपन अपने परिवार में आभूषणों की बातें सुनते–सुनते बीता है। रमानाथ के पिता दयानाथ ने विवाह में जो गहने चढ़ाये हैं, वे उधार के हैं। दयानाथ जब आभूषणों की रकम नहीं चुका पाते तो रमानाथ से आभूषण वापस कर देने की सलाह लेते हैं। पिता दयानाथ की इच्छा है कि बहू को वास्तविक स्थिति बतलाकर आभूषण रमानाथ मांग ले परन्तु रमानाथ पहले ही अनेक झूठ जालपा से बोल चुका है। इधर पिता के दबाव और उधर पत्नी के आगे झूठी शान के बीच फंसा रमानाथ अंत में जालपा से जेवर माँगने के बजाय उनको चुराकर अपने पिता को दे देता है।

जेवरों की चोरी से जालपा प्रसन्न नहीं रहती। रमानाथ जालपा को प्रसन्न रखने के लिए अभी भी उससे अपनी वास्तविक स्थिति छुपाता है। नौकरी लगने पर तीस रूपये की जगह चालीस रूपये बताता है कर्ज लेकर जालपा के आभूषण बनवाता है, आर्थिक कमी के कारण सरकारी पैसे का गबन करके भाग खडा होता है। जालपा अपना पति धर्म निभाकर आभूषण बेचकर गबन का पैसा भरती है। रमानाथ जो कि सरकारी मुखबर बन गया है। जालपा उसे ढूंढ़कर उसमें नैतिक बल भर कर वापस अपने परिवार में लाने पर सफल हो जाती है।

जालपा की सखी रतन इन्द्रभूषण वकील की पत्नी है। वकील साहब की मृत्यु के बाद उनके बड़े भाई का लड़का मणिराम वारिस बन जाता है और रतन के पास कुछ नहीं रह पाता। रतन कहती भी है कि बहनों सम्मिलित परिवार में विवाह मत करो जब तक तुम्हारा अपना घर न हो। रतन का यह कथन संयुक्त परिवार में विधवा की दयनीय स्थिति को बेलाग शब्दों में स्पष्ट कर देता है।

'गबन' की कथा का बीज गहनों की सार्थकता और आभूषण प्रिय होने की हानि है। इसे गहने की ट्रेजडी भी कहा जा सकता है। कतिपय कथाकारों ने इस तथ्य पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं। डॉ0 रामदरश मिश्र भी जालपा के बचपन के गहनों की आशक्ति को स्वीकार करते है परन्तु बाद की स्थितियों के लिए सहानुभूति दर्शाते हैं– "जालपा तभी तक हार के लिए जिद करती है जब तक जानती है कि उसका पति पैसे वाला है। जब उसे वास्तविकता का बोध होता है तो वह सारे गहने बेचकर पति की इज्जत बचाती है।"[99] डॉ0 रामविलास शर्मा के शब्दों में– "जब उसकी माँ उसे अपना चन्द्रहार भेजती है, तो यह सोचकर कि उन्होंने बड़े संकट में भेजा होगा, वह उसे वापस कर देती है।..... जालपा यहाँ यह जता देती है कि उसके गहनों के प्रेम की सीमा है और वह किसी भी कीमत पर गहने लेने को तैयार न हो पायेगी। उसका यही आत्म सम्मान उसका सबसे बड़ा रक्षक साबित होता है, जबकि रमानाथ में इसी का अभाव उसके दुःख और कठिनाइयों का सबसे बड़ा कारण बन जाता है।"[100] वस्तुतः यह केवल आभूषण प्रेम से उठने वाली समस्या नहीं है। परिवार ऐसा वृत्त है, जिसमें अन्य सम्बन्धों की तुलना में पति–पत्नी का सम्बन्ध अधिक अन्तरंग,अनौपचारिक और महत्वपूर्ण है। पति–पत्नी के सहयोग पर ही परिवार आधारित है। एक–दूसरे से छिपाव–दराव पारिवारिक जीवन को विषाक्त ही करताहै। यहां रमानाथ और उसके पिता दयानाथ के दृष्टिकोण का अंतर भी उल्लेखनीय है। दयानाथ बहू से परदा रखने की जरूरत नहीं समझते और "परदा रह ही कै दिन सकता है? आज नहीं

तो कल उसे सारा हाल मालूम हो जायेगा।"[101] और यह सही है कि यदि जालपा को रमानाथ वास्तविक स्थिति समझा देता, तो वह आभूषण लेना पसन्द ही नहीं करती। वह भी रमानाथ के इस तरह छुपाने से क्षुब्ध होकर कहती है– "यह मुझसे इतना परदा क्यों करते हैं? क्यों मुझसे बढ चढकर बातें करते थे। क्या मैं इतना भी नहीं जानती कि संसार में अमीर–गरीब दोनों ही होते हैं? क्या सभी स्त्रियां गहनों से लदी रहती है? गहने न पहनना क्या कोई पाप है? जब और जरूरी कामों से रूपये बढ़ जाते हैं तब गहने भी बन जाते हैं। पेट और तन काटकर, चोरी या बेईमानी करके तो गहने नहीं पहने जाते? क्या उन्होंने मुझे ऐसी गयी–गुजरी समझ लिया।"[102] रमानाथ के सरकारी मुखबिर बन जाने पर जालपा ही उसमें नैतिक बल भरने में सफल होती है। जालपा वापस परिवार को सम्भालने में सफल होती है। जालपा के इस नये रूप को उभार कर प्रेमचंद ने परिवार में नारी की मुख्य भूमिका को रेखांकित किया है।

सेवासदन से गबन तक की यात्रा में प्रेमचंद को संयुक्त परिवार के कतिपय दोष दिखाई देने लगे थे। जालपा की सखी रतन इन्द्र भूषण वकील की पत्नी है। वकील साहब की मृत्यु के बाद उनके बडे भाई का लडका मणिराम वारिस बन जाता है और रतन के पास कुछ नहीं रह पाता। रतन का कहना है– "अगर मेरी जबान में इतनी ताकत होती कि सारे देश में उसकी आवाज पहुंचती तो मैं सब स्त्रियों से कहती, बहनों, किसी सम्मिलित परिवार में विवाह मत करना और अगर करना, तो जब तक अपना घर अलग न बना लो, चैन की नींद मत सोना। यह मत समझो कि तुम्हारे पति के पीछे उस घर में तुम्हारा मान के साथ पालन होगा। अगर तुम्हारे पुरूष ने कोई लड़का नहीं छोडा, तो तुम अकेली रहो, चाहे परिवार में, एक ही बात है। तुम अपमान और मजूरी से नहीं बच सकतीं। अगर तुम्हारे पुरूष ने कुछ जोड़ा है तो अकेली रहकर भोग सकती हो, परिवार में रहकर तुम्हें उससे हाथ धोना पड़ेगा। परिवार तुम्हारे लिए फूलों की सेज नहीं, कांटों की शैय्या है। तुम्हारी पार लगाने वाली नौका नहीं, तुम्हें निगल जाने वाला जंतु है।"[103] रतन का यह कथन संयुक्त परिवार में विधवा की दयनीय स्थिति को बेलाग शब्दों में स्पष्ट कर देता है। फिर भी लोग परिवार रूपी संस्था से लगाव रखते हैं शायद यह प्रेमचंद की अपनी व्यक्तिगत पीडा भी हो सकती है।

परिवार के इस बिखराव एवं विघटन में प्रेमचंद कितनी भी समस्याओं को नजर अन्दाज करते चलते हैं और अन्त में पति–पत्नी के असन्तोष या भीतरी व्यभिचार को भी दबाते चलते हैं इसका मुख्य कारण परिवार का अस्तित्व है, और यही अस्तित्व उसे समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिलाता है। डॉ0 रामविलास शर्मा के

अनुसार– "पुराने आदर्शवाद का प्रेमचंद पर इतना प्रभाव था कि विवाह–बंधन तोड़ने की अनुमति वह न दे सकते थे। उनकी रचनाओं में दाम्पत्य–जीवन के घोर असन्तोष के चित्रण मिलते हैं, परन्तु उन्हें सुलझाने के लिए उन्होंने त्याग, धैर्य और समाई का ही उपदेश दिया है। इसका कारण यह है कि उनका सुधारवाद परिवार को अपना केन्द्र बनाए है, बिना परिवार के समाज की शायद वह कल्पना भी नहीं कर सकते थे।"[104] गबन में पुरानी परम्पराओं एवं झूठे प्रतिष्ठा के प्रतिमानों पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है।

त्यागपत्र

जैनेन्द्र का अत्यधिक प्रशंसित उपन्यास 'त्यागपत्र' (1937) कथा नायिका मृणाल के विवाह पूर्व, विवाह पश्चात और विवाहेत्तर जीवनकी धुरी पर घूमता है। मृणाल आत्मपीड़न को झेलने वाली नायिका है। वह एक सभ्रान्त परिवारकी लड़की है। पिता–माता बचपन में ही मर चुके हैं, बड़ा भाई अभिभावक है उसे परिवार से प्यार मिलता है, वह तितली की तरह उड़ती फिरती है, नटखट है, स्कूल में ऊधम मचाती है किन्तु शीला के भाई (मृणाल की सहेली) के साथ उसके प्रेम सम्बन्ध ने उसकी हंसी छीन ली। भाभी ने उसे बेंत से पीटा। तब से मृणाल हंसी नहीं। कुछ दिन बाद मृणाल की शादी एक अधेड से कर दी जाती है। अधेड़ व्यक्ति ने शीला के भाई के साथ उसके प्रेम सम्बन्ध की चर्चा मृणाल के मुंह से सुनकर उसे घर से निकाल दिया। पति–गृह से निकलने के बादमृणाल को आश्रय देता है एक कोयले वाला। यह जानते हुए भी कि एक सीमा के बाद कोयले वाला भी धोखा देगा, मृणाल उसे समर्पण कर देती है।

अब तक मृणाल का भतीजा प्रमोद तरूण हो चला है। इंटर पास करके वह थर्ड–ईयर में आ गया है। उसने बुआ मृणाल को ढूंढ़ निकाला है। तब बुआ कोयले वाले के साथ रह रही थी। वस्तुतः कोयले वाले के साथ बुआ को देखकर प्रमोद का आभिजात्य आहत हुआ है और अभिजात्य से ही मृणाल को चिढ़ है। वह प्रमोद की सहायता जरूर लेना चाहती है, पर उसके आभिजात्य को हराकर।

पूरे बीस वर्षों तक मृणाल अपनी पूरी क्षमता से जीवन–संघर्ष से जूझती रहती है। इस बीच प्रमोद का विवाह हो जाता है और वह जज बन जाता है। वर्षों बाद जब मृणाल की गर्हित स्थान में मृत्यु होती है तो जैसे एक संघर्ष कथा समाप्त हो जाती है। प्रमोद को तो बुआ (मृणाल) की मृत्यु का समाचार पूरी

तरह झकझोर डालता है। वह जजी से त्याग पत्र देकर संसार से विरक्त हो जाता है।

मृणाल को भाई और भाभी का पूरा प्यार मिलता है। मृणाल का भतीजा जज दयाल एक जगह कहता है– "पिताजी उनको वडा स्नेह करते थे। उनकी सभी इच्छायें वह पूरी करते पिता का स्नेह बिगाड न दे, इस बात का मेरी माता को खास ख्याल रहता था। वह अपने अनुशासन में सावधान थी। मेरी बुआ को प्रेम करती थी, यह तो किसी हालत में नहीं कहा जा सकता। पर आर्य गृहणी का जो उनके मन में आदर्श था, मेरी बुआ को वे ठीक उसी के अनुरूप ढालना चाहती थीं"[105] और इसलिए शीला के भाई से प्रेम करने के कारण मृणाल को भाभी का दण्ड मिलता है।मृणाल के विवाह पूर्व जीवन में अनुराग का केन्द्र बनता है उसका भतीजा प्रमोद जो बड़ा होकर जज बनता है। लेकिन यह बुआ भतीजे का सीधा सरल सम्बन्ध नहीं है। अपने अंतर में असफल प्रेमिका मृणाल प्रमोद के ऊपर किसी न किसी रूप में शीला के भाई को आरोपित करती है वह तो प्रमोद की बुआ भी नहीं बनना चाहती, कहती है– "मैं नहीं बुआ होना चाहती। बुआ! छी! देख, चिड़िया कितनी ऊंची उड़ जाती है। मैं चिडिया होना चाहती हूँ। मैंने कहा–चिडिया? बोली– हां चिड़िया। उसके छोटे–छोटे पंख होते हैं। पंख खोल वह आसमान में जिधर चाहे उड़ जाती है। क्यों रे कैसी मौज हैं! नन्हीं–सी–चिड़िया, नन्हीं सी पूंछ। मैं चिड़िया बनना चाहती हूँ।"[106] और उसरात मृणाल प्रमोद को बहुत देर तक चिपकाये रही।

वडी होने पर मृणाल का बेमेल पति से विवाह हो जाता है, उसे इस पर कोई एतराज नहीं है। प्रेमी को वह सदा के लिए भूल गयी है। लेकिन एक भूल उससे और हुई है कि उसने अपनी विगत की कथा पति को भी सुना दी। पति उसको घर से निकाल देते हैं। मृणाल ऐसी स्थिति में स्वयं भी पति के पास नहीं रहना चाहती। उसका कहना है– "मैं स्त्री धर्म को पति धर्म ही मानती हूँ। उसको स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्यों पतिब्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता, तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आंखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया।"[107] पति गृह से निकलने के बाद मृणाल को आश्रय देता है एक कोयलेवाला। प्रमोद ने बुआ को ढूंढ़ निकाला है। तब बुआ कोयले वाले के साथ रह रही थीं। प्रमोद को लगा कि बुआ की आँखें हठात ऊपर उठती नहीं है। वह बुआ के लिए कुछ करना चाहता है– "उसका निज बुआ को इस सारी परिस्थिति से मुक्त करा देना चाहता है, परन्तु तभी उसके मन पर जमी समाज की परत का दबाव बढता है और वह

मात्र बुआ के कमरे में झाडू लगाकर अपना कर्तव्य पूरा कर लेना चाहता है।"[108] वस्तुतः कोयले वाले के साथ बुआ को देखकर प्रमोद का आभिजात्य आहत हुआ है। और आभिजात्य से ही तो मृणाल को चिड है। वह प्रमोद की सहायता जरूर लेना चाहती है पर उसके आभिजात्य को हराकर वह कहती है– "प्रमोद, सहायता की मैं भूखी नहीं हूँ क्या? तुझसे ही वह सहायता न लूंगी? लेकिन सहायता का हाथ देकर क्या मुझे यहाँ से उठाकर ऊँचे वर्ग में जा बिठाने की इच्छा है? तो भाई, मुझे माफ कर दो। वैसी मेरी अभिलाषा नहीं है। सहायता मुझे इसलिए चाहिए कि मेरा मन पक्का होता रहे कि कोई मुझे कुचले, तो भी मैं कुचली न जाऊं और इतनी जीवित रहूँ कि उसके पाप के बोझ को भी ले लूँ और सबके लिए क्षमा की प्रार्थना करूँ। प्रतिष्ठा मुझे क्यों चाहिए, मुझे तो जो मिलता है उसी के भीतर सांत्वना पाने की शक्ति चाहिए।"[109]

यह शक्ति मृणाल में है। पति को छोडने के बाद मृणाल जिस कोयले वाले के साथ रहती है, वह भी अपने पीछे परिवार को छोड़कर आया है। गर्भवती मृणाल इस कोयले वाले को वापस उसके परिवार मे पहुँचाने पर उतारू है। उसका कहना है, "मैं उसे उसके परिवार में लौटाकर ही मानूंगी। अब समय आया है कि उसे इस बात की अक्ल आ जाए, अब उसका मोह टूट गया है।"[110] डॉ0 गिरिजाराय की टिप्पड़ी है कि "मृणाल अपने सत्य के प्रति लगाव के कारण स्वयं से, समाज से और इस दुनिया से अजनबी हो जाती है।"[111] पूरे बीस वर्षो तक मृणाल अपनी पूरी क्षमता से जीवन संघर्ष से जूझती रहती है इस बीच प्रमोद का विवाह हो जाता है और वह जज बन जाताहै। वर्षों बाद जब वह मृणाल की मृत्यु होती है तो जैसे एक संघर्ष – कथा समाप्त हो जाती है। प्रमोद को तो बुआ की मृत्यु का समाचार पूरी तरह झकझोर डालता है। वह जजी से त्यागपत्र देकर संसार से विरक्त हो जाता है।

त्यागपत्र की मृणाल वस्तुतः एक प्रतीक है नारी के सामाजिक उत्पीड़न और उसकी आंतरिक सहनशक्ति का। मृणाल का अहम समाज की परिपाटियों को अस्वीकार कर उन्हें नयी परिभाषा देता है और इस क्रांति का मूल्य निज के बलिदान से चुकाता है। मृणाल सहज समाज की उच्छिष्ट बन गयी है। मृणाल की कथा के माध्यम से जैनेन्द्र ने अवश्य ही (स्त्री पुरूष के सम्बन्धों को) 'त्यागपत्र' के पारिवारिक जीवन सन्दर्भों को प्रभावित किया है। सम्पूर्ण पारिवारिक जीवन के वृत्त को जैसे जैनेन्द्र कहीं छूते नहीं हैं। उनकी दृष्टि सिर्फ दाम्पत्य सम्बन्धों पर केन्द्रित रहती है, वह भी इन सम्बन्धों से जुडी रसमयता, सहजता और कृत्रिमता के संधान के लिए। उपन्यासकार की दृष्टि सीमा ने भारतीय

पारिवारिक जीवन की विविधता, व्यापकता और सार्थकता के अनेक पक्षो को जैसे अनचीन्हा छोड दिया है। जैनेन्द्र के 'त्यागपत्र' को पढकर ऐसा प्रतीत ही नहीं होता कि भारत आज भी संयुक्त परिवारों के बदलते स्वरूपों का देश है। जैनेन्द्र के इस सीमित परिप्रेक्ष्य ने उनके पात्रों के व्यक्तित्व को भी सीमित कर दिया। वे भाई बहिन पिता–पुत्र–पुत्री कभी नहीं होते। उनके बीच एक ही सम्बन्ध है, प्रेम के त्रिकोण का, जिसे जैनेन्द्र कोणों और भुजाओं में थोडा –बहुत परिवर्तन कर बार बार दोहराते जाते हैं।

मृणाल हिन्दी उपन्यास की सर्वाधिक चर्चित पात्र है मृणाल के चारित्रिक उदात्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ0 गिरिजाराय लिखती हैं– "इस उपन्यास में दो भिन्न दुनियाओं का सजीव चित्रण है। प्रमोद के संसार के सारे आदर्श, मूल्य, प्रतिमान स्थिर हैं जबकि मृणाल बंधी–बंधायी लीकों पर नहीं चलती। परम्परा और सड़ी गली रूढ़ियों के विरूद्ध विद्रोह करके मृणाल अपने ढंग से जीवन जीने का प्रयास करती है और इसी प्रयास में टूट जाती है। किन्तु वह हार नहीं मानती।"[112] मृणाल के चरित्र के बारे में कतिपय आलोचकों का दृष्टिकोण इस प्रकार है– नन्ददुलारे वाजपेई के अनुसार– "पूरे उपन्यास में मृणाल का चरित्र अपने असाधारण सकटों के कारण पाठक की दृष्टि को आकर्षित करता है मृणाल के चरित्र में उस प्रकार का हल्कापन कहीं नहीं है, जिस प्रकारका हल्कापन जैनेन्द्र के अन्य कतिपय नारी पात्रों में मिलता है। जैनेन्द्र के अन्य नारी पात्रों में पति की उपेक्षा करके पर–पुरूष के प्रति जो एक प्रच्छन्न आकर्षण मिलता है, वह भी इस उपन्यास की नायिका मृणाल में व्यक्त नहीं है जैनेन्द्र ने बड़े कौशल के साथ उसे एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे पुरूष के साथ सम्बन्धित किया है। पर यहां वेदना के आधिक्य के कारण पाठक की संवेदना मृणाल को ही मिलती है।"[113] डॉ0 नगेन्द्र के अनुसार– "मृणाल में असाधारणता है। जीवन में सदा नकार पाते रहकर भी उसका मन अतिशय संवेदनशील हो गया है।"[114] पदम लाल पुन्नालाल बख्शी के शब्दों में– "जैनेन्द्र की मृणाल सहेली बन गई, क्योंकि उन्होंने उसके अन्तर्जगत के भाव–सौन्दर्य को परिस्फुट नहीं किया है। प्रेम की वह गरिमा थी, जिससे उसने कलंक, निंदा और दुःख तीनों को चुप चाप सह लिया।"[115] डॉ0 शिवनारायण श्रीवास्तव के अनुसार– "अपने चारों ओर के पाप पंकिल वातावरण से असम्पृक्त अपनी हीनतम स्थिति में भी महामान्वित हो उठी है।"[116] डॉ0 अतुलवीर अरोरा की दृष्टि में– "यह उपन्यास अपनी प्रभावान्विति में एक नारी की पीड़ा–गाथा बन सका है।"[117]

शेखर : एक जीवनी

अज्ञेय का – शेखर : एक जीवनी प्राण दण्ड के कारण उद्भूत घनीभूत वेदना की केवल एक ही रात में देखे हुए विजन (टप्प्ब) को शब्द बद्ध करने का उपन्यासात्मक प्रयास हे। इसमें प्रथम भाग की कथावस्तु को 'प्रवेश' के अतिरिक्त चार खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड : ऊषा और ईश्वर द्वितीय खंडः बीज और अंकुर, तृतीय खण्डः प्रकृति और पुरूष और चतुर्थ खण्ड : पुरूष और प्रकृति। शेखरः एक जीवनी के दूसरे भाग की कथावस्तु भी चार खण्डों में विभक्त है– 'प्रथम खण्ड : पुरूष और परिस्थिति, द्वितीय खण्डः बन्धन और जिज्ञासा, तृतीय खंडः शशि और शेखर और चतुर्थ खण्ड : धागे, रस्सियाँ गुंझर।

'शेखरः एक जीवनी' एक ऐसे व्यक्ति की जीवनी है जो अपनी अनुभूतियों के प्रति बेहद ईमानदार हैं। व्यक्ति के रूप में शेखर बचपन से ही जो अनुभव करता है जो जिज्ञासाएँ उसके मन में पैदा होती हैं। उनके प्रति वह ईमानदार है। वह समाज में रहता हुआ भी उससे परे है। हर क्षण वह मानसिक चिन्तन में व्यस्त रहता है। शेखर के बचपन की एक घटना ने उसके मन मस्तिष्क को विकृत कर दिया है। माता–पिता के साधारण वार्तालाप के कारण उसके मन व मस्तिष्क में घृणा की ग्रन्थि बैठ जाती है।वह उसके सारे कार्य व्यापार को प्रेरित करती दृष्टिगत होती है। एक दिन उसके पिता उसके बड़े भाई के घर से चले जाने पर वहीं से उसके मिलने की सूचना देते हैं। प्रसंगवश उसकी माता शेखर पर भी विश्वास न करने की बात कहती है। उसीदिन से शेखर मन से विक्षिप्त, कर्म से असाधारण बन जाता है। प्रारम्भ से ही विद्रोही स्वर अख्तियार कर लेता है डाक्टर को बुलाने जाना परन्तु 'खेल में लगकर पिता से पिटना, भाइयों के साथ तैरते हुए डूबना। एवं पिटना असहयोग आन्दोलन में कपडों को जलाना बहिन की शादी से चिंतित होना, गीत गोबिन्द सुनाने पर पिटना आदि घटनाओं ने प्रौढ़ बना दिया।

शेखर के जीवन में तीन लड़कियाँ मुख्य रूप से आती है शारदा, शशि व शान्ति। द्वितीय भाग में शेखर के व्यक्तित्व में सहजता शशि की आत्मीयता और स्नेह के कारण आयी यूँ तो शशि विद्यावती मौसी की लड़की होने के नाते शेखर की बहन है, पर वह बहन से भी कुछ है। शेखर पढाई भी पूरी नहीं कर पायाथा कि उसे कांग्रेस के स्वयं सेवक के रूप में जेल जाना पड़ा। शेखर के जेल में रहते हुए ही शशि का विवाह रामेश्वर से हो गया। लेकिन शशि का वैवाहिक जीवन सफल नहीं रहा। शशि अत्यधिक भाव प्रवण युवती थी, जबकि

रामेश्वर यथार्थ में जीने वाला युवक शशि शेखर से अपनी पीड़ा जेल में रहते हुए पत्र द्वारा अवगत कराती है। शेखर जेल से आकर शशि से मिलता है शशि से मिलना रामेश्वर को पसंद नहीं है। एक दिन अत्यधिक दुःख में शेखर के यहॉ शशि रूक जाती है। परिणाम स्वरूप रामेश्वर उसे घर से निकाल देता है। शशि मॉ विद्यावती के साथ नहीं जाना चाहती फलस्वरूप मौसी (शेखर की) शशि को शेखर के यहॉ छोडकर चली जाती है। अन्त में शशि से शेखर को गम्भीर और संयत स्नेह होता है, उसी दीर्घ सूत्री स्नेह में सम्बन्धों के अंकुर दृष्टिगत होते हैं। प्रत्येक एक दूसरे के प्रति परस्पर स्नेह व बलिदान की भावना रखते है। शशि को बचाने के लिए ही तो शेखर ने अपनी पुस्तक के सर्वाधिकार बेच दिए और वह क्रान्तिकारी दल का सदस्य बन गया। लेकिन शशि नहीं बची, अकेला रह गया है शेखर। आगे के लिए चलता हुआ, शशि की छाया को साथ लेकर। लेकिन अकेला शेखर भी कब तक चले? उसकी यात्रा का भी तो अंत सन्निकट है। क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेने के कारण वह अपनी फांसी की सजा सुन चुका है उसे मृत्यु से साक्षत्कार की प्रतीक्षा है। प्रतीक्षा की इन घड़ियों के सूनेपन को उसने बस अतीत के स्मृति चिन्हों से भर लिया है।

अपने परिपक्व रचना–शिल्प, आधुनिक दृष्टि और सम्पन्न भाषा से अज्ञेय ने हिन्दी उपन्यास को उपलब्धि का एक नया धरातल दिया। औपन्यासिक अभिव्यक्ति के इस नये स्तर ने सहज में ही पारिवारिक सम्बन्धों के चित्रण को भी प्रभावित किया। अज्ञेय के उपन्यासों में परिवार का चित्रण उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह स्थूल नहीं है। उसमें परिवार की संरचना के वर्णन का आग्रह नहीं है। अज्ञेय के पात्रों के लिए अपना पारिवारिक सन्दर्भ सामाजिक रिश्तों के स्थूल यथार्थ के रूप में, अपितु आधुनिक कलाकार की चित्रात्मक प्रस्तुतियों की भांति ही सूक्ष्म अंतर्छवियों के रूप में चित्रित हुए हैं।

डॉ0 गिरिजाराय के शब्दों में – ''प्रयोगवाद के समानान्तर इस औपन्यासिक कृति में अतिशय वैयक्तिकता का विस्फोट देखा जा सकता है। यह विद्रोह और विस्फोट सारी सामाजिक रूढ़ियों, सडी गली परम्पराओं और उस सामाजिक दबाव के विरूद्ध है जो व्यक्ति की अस्मिता को सदियों से निरन्तर कुचलते और रौंदते आ रहे हैं। व्यक्ति मन और समाज की टकराहट शेखर के विलम्ब व्यक्तित्व के कारण इसउपन्यास में तीखे रूप में उभरती है।''[118] वैयक्तिकता की ये अन्तर्छवियां शेखर के शैशवाकाल की स्मृतियों, आवेश से आततायी बने पिता और आवेशहीन मां की निर्दयता में उभरी हैं।

अज्ञेय के उपन्यासों में परिवार गौण है और व्यक्ति प्रमुख। इसलिए उनमें नाभिक परिवार की आभास–रेखा मात्र है। समाज के जिस स्तर और वर्ग से अज्ञेय ने अपने पात्र लिये हैं, उनमें संयुक्त परिवार की परम्परा कभी की समाप्त हो गयी है। उनके लिए नाभिक परिवार अपवाद नहीं, नियम हैं वे नाभिक परिवार के विघटन को अपने दृष्टि केन्द्र में नहीं रखते। उनकी दृष्टि व्यक्ति पर पारिवारिक वृत्त के घात प्रत्याघात और इनके फलस्वरूप संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्ति की टूटन पर ही केन्द्रित रही है। व्यक्तित्व की टूटन की इस प्रक्रिया को समझने के क्रम में उन्होंने पारम्परिक नैतिकता को अस्वीकार किया। इतना ही नहीं, इस नैतिकता के आधारों को चुनौती भी दी। मौसेरी बहन शशि के साथ शेखर का संबन्ध, रेखा और भुवन के दैहिक सम्बन्ध, इस चुनौती की अभिव्यक्ति है। अज्ञेय के अनुसार– "स्वातन्त्रय की खोज, टूटती हुई नैतिक रूढ़ियों के बीच नीति के मूलस्रोत की खोज है कह लीजिए कि समाज की खोखली सिद्ध हो जाने वाली मान्यताओं के बदले व्यक्ति की दृढ़तर मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने की कोशिश है। मैं मानता हूँ कि चरम आवश्यकता के चरम दबाव के निर्णय करने की चरम आवश्यकता के क्षण में हर व्यक्ति अकेला होता है, और इस अकेलेपन में वह क्या करता है इसी में उसकी आत्मिक धातु की कसौटी है।"[119]

'शेखर एक जीवनी' (प्रथम भाग 1940, द्वितीय भाग 1944) अज्ञेय का प्रथम उपन्यास है। वस्तुतः गोदान के होरी के बाद यदि कोई पात्र अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व सहित आज भी जीवित है, तो वह शेखर ही है। "जिस प्रकार गोदान हिंदी उपन्यास का प्रथम नया मोड़ सिद्ध हुआ, 'शेखर एक जीवनी' उसका दूसरा मोड़ है, जिसमें आधुनिकता को स्वीकार किया गया है, उससे पलायन नहीं किया गया।"[120] इस उपन्यास को सर्वग्राही अहं का करूण आलेख, मानने वाले डॉ० नगेन्द्र के अनुसार– "शेखर हिन्दी के उन गौरव ग्रन्थों में से है जो प्रत्येक जागरूक आलोचक का आह्वान कर कहते हैं, आओ, हमारे सहारे अपनी शक्ति की परीक्षा करो।"[121]

बचपन से युवा होने तक शेखर की कथा उसके व्यक्तित्व और परिवार के अन्तःसंघर्ष की कथा है। वस्तुतः शेखर का विद्रोही व्यक्तित्व परम्पराबद्ध परिवार के साथ उसके प्रारम्भिक तनावों और टकरावों का ही प्रतिफल है। रूढियों के बंधनों में कसमसाता शेखर सदैव उनसे बचने का प्रयत्न करता है। बचपन की प्रत्येक घटना शेखर के व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव छोडती है। घर में पिता का रोबदाब, माँ की आज्ञा, बड़े–बहन भाइयों के साथ से शिशु शेखर के मानस में

तीव्र प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है। पूरे परिवार में शेखर के हृदय में यदि किसी के लिए कोमल भाव है तो वह अपनी बड़ी बहन सरस्वती के लिए।

शेखर के प्रारम्भिक जीवन की घटनाएं उसके शैशव के कथाचित्रों में अंकित हुई है। उपन्यास होते हुए भी 'शेखर एक जीवनी' के प्रथम भाग मे कथाक्रम की अपेक्षा इन्हीं कथाचित्रों की बहुलता है। इन्हीं के माध्यम से उभरी हैं शेखर के बचपन और उसकी मानसिक प्रतिक्रियाओं की अंतर्छवियां। उदाहरणार्थ– "डाक्टर को बुलाने जाने पर खेल में लगकर भूल जाना और पिता से पिटना।"[122] "भाइयों के साथ तैरते हुए डूबना और निकालने के बाद पिता की डांट"[123] "असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर घर के विदेशी कपडे जलाने पर मार।"[124], "बहिन की शादी की प्रतिक्रिया"[125], "बड़े भाई के भाग जाने पर माँ द्वारा शेखर पर भी अविश्वास किया जाना।"[126], "गीत गोविन्द सुनाने पर पिता द्वारा पीटा जाना। "[127] कुछ ऐसी घटनाएं हैं जो शेखर को समय से पहले प्रौढ बना देती हैं। इन्हीं घटनाओं की प्रतिक्रिया में शेखर के अंतर में अहं का प्रस्फुटन होता है। अपनी पारिवारिक परिस्थितियों और अहं के अंतः संघर्ष से ही शेखर के व्यक्तित्व का विकास हुआ है।

शेखर के इस विकास में सबसे प्रमुख कारण तो रहा माता–पिता के साथ उसका कुंठित सम्बन्ध। शेखर के पिता घर को अनुशासन में बांधे रखने वाले व्यक्ति है। अवसर आने पर वे क्रुद्ध भी होते हैं और जब बात हद से आगे बढ़ती है, तो बालक को पीट भी देते हैं। लेकिन पिता के लिए शेखर के मन में एक अलग भाव है, जो मां के लिए नहीं है। डांटने–फटकारने के बाद पिता क्षमा की बजाय सुलह करना पसंद करते हैं। पिता कभी क्षमा नहीं करते– क्षमा छोटे को किया जाता हैं। जिस प्रकार क्रोध में वे छोटे को छोटा नहीं समझते उसी प्रकार क्रोध के उतरने पर भी।... कितनी स्वच्छ, एहसान के भाव से मुक्त कितनी विशाल सर्वव्यापी होती है उनकी उदारता। इसलिए शेखर पिटकर भी उन्हें पूजता है। माँ जो पीटती नहीं, पर जो क्षमा देती है अनुग्रह की चक्की में पीसकर।"[128] शेखर ने अनुभव किया– "पिता आवेश में आततायी थे, माँ आवेश की कमी के कारण निर्दय। पिता का क्रोध जब बरस जाता था, तब शेखर जानता था हम फिर सखा हैं, माँ जब कुछ नहीं कहती थीं, तब उसे लगता था कि वह मीठी आंच पर पकाया जा रहा है।"[129] इसलिए शेखर अपने पिता का उपासक था। वस्तुतः "माँ का विश्वास न मिलना उसे सबसे पहले विद्रोह के लिए प्रेरित करता है। शेखर का आदि विद्रोही रूप मां को लेकर है।"[130]

शेखर के व्यक्तित्व में सहजता आयी शशि की आत्मीयता और स्नेह के कारण। यूं तो शशि विद्यावती मौसी की लडकी होने के नाते शेखर की बहन है, पर वह बहन से भी कुछ अधिक कुछ है। "कब से तुम्हें बहिन कहता आया हूँ, पर बहिन जितनी पास होती है उतनी पास तुम नहीं हो, इसलिए वह जितनी दूर होती है– उतनी दूर भी तुम नहीं हो।"[131]

शेखर पढाई पूरी भी नहीं कर पाया था कि उसे कांग्रेस के स्वयं सेवक के रूप में जेल जाना पड़ा। शेखर के जेल में रहते हुए ही शशि का विवाह रामेश्वर से हो गया। लेकिन शशि का वैवाहिक जीवन सफल नहीं रहा। शशि अत्यधिक भाव–प्रवण युवती थी जबकि रामेश्वर यथार्थ में जीने वाला युवक। शशि ने शेखर को अपनी व्यथा जेल में लिखे पत्र में व्यक्त की थी– "कभी सोचती हूँ, क्या जीवन ऐसे ही बीतेगा? गाजर–मूली की तरह बढ़ना और उखाड लिये जाना बस? ... यह वह जीवन नहीं है जिसकी मैंने कल्पना की थी, पर शायद सबका उदाहरण देखकर मैं भी ऐसी बन जाऊं कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूं, और शांत संन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीवन जी डालूं।"[132]

जेल से निकलकर शेखर अपने आपको चारों ओर अपरिचिय की छाया में घिरा पाता है। एक हल्की सी किरण है शशि की। लेकिन यही परिचय की किरण शशि शेखर के अलग–अलग परिवेश के लिए गलत सिद्ध हुई। शशि और शेखर कभी–कभी मिल लिया करते थे, लेकिन रामेश्वर को यह सब पसंद नहीं और शशि को शेखर के यहाँ रात भर रह जाने पर रामेश्वर ने उसे घर से निकाल दिया। भ्रष्टा कहकर। शशि को घर से निकालते हुए रामेश्वर ने पति के अधिकारों का निर्मम उपयोग किया। शशि को पीटकर शशि को चोट गहरी लगी– शरीर से अधिक मन पर। पति गृह से शशि के निष्कासन के साथ, उपन्यासकार एक पारम्परिक परिवार को तोड़ता है। लेकिन उसके लिए परिवार के विघटन से अधिक महत्वपूर्ण है, एक व्यक्ति के रूप में शशि का टूटना। यहीं अज्ञेय ने विद्यावती मौसी के साथ वार्तालाप के माध्यम से दाम्पत्य सम्बन्धों की पारंपरिक धारणाओं का भी उल्लेख किया है। विद्यावती मौसी का कहना है– "मैं तो इसी विश्वास में पली हूँ कि स्त्री का पति ही सब कुछ है।स्त्री भी पति की कुछ है, मैं जानती हूँ, पर जिस तरह अधिकार देना सीखा था। उसी तरह अधिकार लेना नहीं सीखा, और अब बूढ़ी हो गयी, कुछ नया नहीं सीख सकती।"[133] विद्यावती मौसी का कहना यह नही है कि शशि पति गृह से निष्कासित होकर, फिर पति के पास लौटे "लौटना तो अब नहीं है पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल लौटना ही एक मात्र उपाय है, यह तो मैं नहीं समझती। जो रास्ता पति ही बन्द कर दे,

उसपर चले बिना भी धर्म निबाहा जा सकता है।''[134] विद्यावती मौसी को चिंता तो इस बात की है कि ''शशि कहती है अब वह मेरे साथ नहीं लौटेगी, और चाहे कहीं जाना हो।''[135] शशि का अपनी मॉ के साथ न जाना पुरानी परम्पराओ के प्रति विद्रोह है। शशि मॉ के साथ तो नहीं जाती, वह शेखर के साथ रहने लगती है। विजयेन्द्र स्नातक के अनुसार– ''सांसारिक सम्बन्धों की सीमा मर्यादाओ में घुटकर मरने की पीड़ा तो सभी सहते हैं किन्तु इन रूढियों से छूटकर अलग जा पड़ने पर स्वातन्त्र्य की खोज कितने लोग कर पाते हैं, यह विचारणीय है। शशि का जीवन जिस घुटन को सहकर शेखर की स्निग्ध–शीतल छाया में आया, वह असाधारण घटना नहीं है। वह तो साधारण से साधारण घटना है, किन्तु इसके पीछे एक ही प्रेरणा है कि किस प्रकार बन्धनों से मुक्ति प्राप्त की जाये? स्वातन्त्रय की खोज में शशि तो प्रवृत्ति है ही, किन्तु शेखर भी इस खोज में सतत संलग्न रहा है।''[136] इसलिए तो शेखर और शशि का सम्बन्ध किसी पारम्परिक कोटि में नहीं रखा जा सकता है। शशि ने कहा भी है– ''शेखर, तुम मुझे बहिन, मॉ भाई बेटा कुछ मत समझो, क्योंकि मैं अब कुछ नहीं हूॅ। एक छाया हूॅ। और फिर किसी आंतरिक तेज से भरकर और अमूर्त होकर मैं– तुम्हारा अपना आप हूॅ जिसे तुम नाम नहीं दोगे।''[137]

लेकिन यह सखा–सखी संबन्ध भी तो शशि के विघटित दाम्पत्य के घाव को नहीं भर पाता। पति के हाथों पिटने से उसकी किडनी फट गयी है, और उसका कोई इलाज नहीं है। शशि को बचाने के लिए ही तो शेखर ने अपनी पुस्तक के सर्वाधिकार बेच दिये और वह क्रान्तिकारी दल का सदस्य बन गया। लेकिन, शशि नहीं बची, अकेला रह गया है शेखर। आगे के लिए चलता हुआ शशि की छाया को साथ लेकर। ''छाया तुम्हें भूलने नहीं जातां तुम साथ चलो– पहले मौसी के पास फिर आगे, कर्म में विश्वास नहीं है, शशि, कर्म में तुम हो, चिरतन प्रेरणा–चिरंतन क्योंकि मुक्त और मोक्षदा।''[138] डॉ0 अतुलवीर अरोडा शेखर एक जीवनी में पारिवारिक सम्बन्धों की निष्पत्ति पर लिखते हैं कि– ''अगर शेखर के बनने में शशि कहीं टूट गयी लगती है अथवा शेखर और शशि के सम्बन्धों में कोई अजनबी दृष्टि उपलब्ध होती है तो यह मानवीय भ्रमजालों की मनोभूमि पर ही है। उसे सामाजिक एवं नीतिमर्यादा के रूढि परिप्रेक्ष्यों में संगत अथवा असंगत ठहराना अपने आप में तत्वहीन है।''[139]

नदी के द्वीप

अज्ञेय द्वारा लिखित 'नदी के द्वीप' में मुख्य रूप से चार पात्र है भुवन, रेखा, गौरा और चन्द्रमोहन। भुवन डाक्टर है, विज्ञान का प्रोफेसर। रेखा सुशिक्षित और पति द्वारा परित्यक्ता नारी है। गौरा, भुवन की विद्यार्थिनी, संगीत की छात्रा और अध्यापिका है। चन्द्रमोहन पढ़ा लिखा पत्रकार है और अपनी पत्नी से असंतुष्ट होकर उसे साथ रखते हुए भी छोड़ चुका है। हेमेन्द्र रेखा का पति है जो रेखा को छोड़ चुका है। या यों कहिए कि जो रेखा को केवल भूख तृप्ति के लिए पाना चाहता था और पा नहीं सका क्योंकि रेखा में व्यक्तित्व है हेमेन्द्र एक व्यवसायी है। पक्का दुनियादार उसे सौन्दर्य बोध नैतिकता आदि मूल्यों से कुछ लेना देना नहीं । उसके पशु की भूख के लिए एक नारी चाहिए और वह रेखा को छोड़कर एक पराई औरत को पकड़ लेता है। एक पात्र और है- रेखा का नया पति डाक्टर रमेशचंद्र जो बहुत अच्छा डाक्टर और एक अच्छा व्यक्ति है। यह पात्र परोक्ष रूप से ही उपन्यास में आया है।

इन्हीं चार मुख्य और दो गौण पात्रों के बीच कथा की क्षीणधारा भटकती फिरती है। भुवन रेखा और गौरा दोनों के समीप है। ये तीनों पात्र आधुनिक हैं भुवन के सम्पर्क में आकर रेखा माँ बनने वाली है। परन्तु पति के डाइवर्स देने से वह क्षतविक्षत हो जाती है और अपना गर्भपात कर लेती हैं भुवन अवाक रह जाता है। दूसरी ओर अपने को भुवन से अलग करने (जबकि पूर्ण समर्पित है दिल से) के लिए एक डाक्टर से शादी कर लेती है और भुवन तथा गौरा का रास्ता साफ कर देती है।

इस उपन्यास में सुगठित पारिवारिक जीवन का अभाव होने पर भी विवाह पूर्व रोमांस में ही लेखक ने आरोपित स्त्री पुरूष सम्बन्धों की स्थापना की है। इस नवीनता के कारण पूर्णरूप से नदी के द्वीप में रोचकता आ गई है। भुवन-रेखा के सम्बन्धों में कई स्थानों पर तथा भुवन गौरा के सम्बन्धों में विवाह पूर्व रोमांस के दर्शन होते हैं। इन्हीं स्थानों पर प्रसंगवश लेखक ने आरोपित पति-पत्नी सम्बन्धों की नई उद्‌भावना भी की है। विवाह पश्चात प्रेम को भी अज्ञेय ने विवाह पूर्व रोमांस में गूंथ दिया है। भुवन-रेखा प्रेम पति-पत्नी प्रेम में परिवर्तित होता दृष्टिगत होता है जबकि रेखा अपने विच्छिन्न दाम्पत्य का भार संजोये हैं। नैनीताल में दोनों अत्यन्त निकट आ जाते हैं। और ये प्रेमी प्रेमिका न लगकर पति-पत्नी जैसे प्रतीत होते हैं- "फिर एक साथ ही दोनों ने हाथ बढ़ाकर एक-दूसरे को खींच लिया, प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया और चूम लिया- एक

सुलगता सम्मोहन, अस्तित्व निरपेक्ष तदाकार चुम्बन।"[140] यही नहीं, विवाह–पश्चात प्रेम को विवाह पूर्व रोमांस में गूंथने के साथ–साथ अज्ञेय जी ने पति –पत्नी प्रेम के सूक्ष्म व गहन तत्वों की भी आरोपित स्त्री–पुरूष सम्बन्धो में भी उद्‌भावना की है।

उपन्यास में एक स्थान पर त्यागमुक्त समर्पण की भावना रेखा–भुवन के सम्बन्धों में प्राप्त होती है। जो पति–पत्नी जीवन की आधार शिला है। रेखा भुवन से कहती है– "मैं कुछ मांगूँगी नहीं। तुम्हारे जीवन की बाधा नहीं बनूँगी, सुन्दर से डरो मत, कभी मत डरना– न डर कर ही सुन्दर से सुन्दरता की ओर बढ़ते हैं।"[141]

नदी के द्वीप में दूसरा पारिवारिक सम्बन्ध गौरा–भुवन का हैं जो पहले प्रेमी–प्रेमिका एवम बाद में पति–पत्नी के रूप में रहने लगते है। भुवन रेखा के गर्भपात की घटना के बाद मानसिक रूप से टूट जाता है रेखा के प्रति उसके मन में एक उपेक्षा की भावना घर कर लेती है। और वह गौरा के प्रति उन्मुख होता है। गौरा से अपने मन में रेखा के प्रति स्नेह भाव को व्यक्त कर देता है। उस समय गौरा के कथन मे भुवन के प्रति पूर्ण समर्पण की भावना व्यक्त होती है– "तो सुनिये शब्द अधूरे हैं क्योंकि उच्चारण मांगते हैं। मैं कह नहीं सकती थी, पर लिख सकती थी किसी तरह कुछ भी करके अपने को उत्सर्ग करके आपके ये घाव भर सकती तो अपने को सफल मानती।" भुवन ने स्तब्ध भाव से कहा– "यह मत कहो गौरा मैं और नहीं सुन सकता और अब आगे – हलका ही चलना चाहता हूँ।"[142]

भुवन–गौरा परिवार के अतिरिक्त चन्द्रमाधव– कौशल्या का परिवार है जो उपन्यास में वर्तमान दाम्पत्य जीवन की विखरन का जीवन्त प्रतीक है। अज्ञेय ने चन्द्रमाधव कौशल्या के पारिवारिक विघटन का कारण चन्द्रमाधव की विकृत वासना वृत्ति को ठहराया है। मध्यमवर्गीय मानदण्डों से उसके पास सब कुछ था, पर दूसरे बच्चे के बाद वह गिरस्ती से टूट गया था। गिरस्ती से तबियत उचट गयी थी, और वह पत्नी और बच्चों को छोड आया था। उसे परिवार का एकरस जीवन, पत्नी का मूक समर्पण तुष्ट नहीं कर पाया। चन्द्रमाधव वस्तुतः सनसनी खोजी है। उसे तीब्र बहता हुआ जीवन चाहिए, जो नहीं मिलता। उसे मिली हैं छोटी–छोटी अनुभूतियाँ चुटकियां और चिकोटियां। चन्द्रमाधव अपनी विकृतियों के कारण सुगठित परिवार को छिन्न भिन्न कर देता है। उसकी पत्नी कौशल्या अशिक्षित है जबकि वह शिक्षित है अतः दोनों के मानसिक स्तर न मिलने पर जीवन भर संघर्ष चलता है। पति–पत्नी सम्बन्धों की पवित्रता में उसकी पूर्ण

आस्था नहीं है नैतिकता को वह एक ढोंग बतलाता है। इसलिए वह अपने दाम्पत्य जीवन में विघटन ले आता है और अपनी पत्नी से विलग होकर अमर्यादित, उच्श्रृंखल, उन्मुक्त, प्रेमरस का पान कर उच्श्रृंखल नारी चित्रलेखा से विवाह कर लेता है। यहाँ प्राचीनता में नवीनता का समावेश दृष्टिगत होता है। चन्द्रमाधव कौशल्या के विघटित सम्बन्धों का एक उदाहरण– ''स्त्री साहस करके खाने को पूछती थी, तो वह अन्यमनस्क सा इनकार कर देता था। उसके स्वर में जो प्राणहीन विनय होता था उसे लक्ष्य करके पत्नी मानो बुझ जाती थी और आग्रह नहीं करती थी, हाँ जब वह खाट पर लेट जाता, तब कभी वह जाकर उसके जूते मोजे खोल देती। कभी–कभी हिम्मत करके गले से टाई भी उतार लेती पाजामा उसके पास लाकर रख देती और धीरे से कहती, कपडे तो बदल लेते।''[143] कौशल्या एक पूर्ण समर्पिता भारतीय पत्नी की प्रतीक है जबकि चन्द्रमाधव पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता का पोषक व्यक्ति है जिसे न अपनी पत्नी से प्यार है न अपनी भारतीय संस्कृति से, जिसमें एक निष्ठ पत्नी व्रत धर्म का बडा महत्व है। डॉ0 सुरेश सिन्हा के अनुसार – ''चन्द्रमाधव अपने परिवार से अलग रहता है, क्योंकि उसे अपनी पत्नी का प्रेमिकाओं जैसा उष्णालिंगन नहीं प्राप्त होता, केवल मर्यादित समर्पण ही मिलता है।''[144] सुगठित और पारिवारिक सम्बन्ध समाज की सही व सुदृढ़ नींव हैं। इसके अभाव में सुगठित समाज की कल्पना दुःस्वप्न मात्र है। संगठित परिवार का प्रभाव सन्तान पर अप्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही रूपों में पड़ता है। एक सुखी परिवार अपनी सन्तान को स्वस्थ वातावरण देकर स्वस्थ व उज्जवल बनाते हैं। इसके विपरीत विघटित परिवार के फलस्वरूप संतान असुरक्षा का भाव मन में लिये हुए कलहपूर्ण वातावरण में पलकर समाज के लिये अभिशाप बन जाते हैं। एक स्थान पर कौशल्या कहती है– ''पहले तो एक बार उसने बेटी को भेजा, कि बाबू जी के जूते खोल दे, पर फिर उसकी समझ में आ गया था, कि बच्चों को देखकर उसे और भी झल्लाहट होती है। जबसे वह शाम को जहाँ तक हो सके, बच्चों को उसकी नजर से दूर रखती थी।''[145] ऐसे धूमिल वातावरण में जहॉ सन्तान पिता के स्नेह से वंचित हो तो उस सन्तान का कल्याण असम्भव ही होता है। इस प्रकार विघटित पारिवारिक सम्बन्धों के कारण समाज की श्रृंखला का तारतम्य टूटता दृष्टिगत होता है और संतान के विकृत व अपराधी बनने की पूरी संभावना रहती है।

'नदी के द्वीप' के अन्त में अज्ञेय जी ने पारिवारिक सम्बन्धों की दृष्टि से भुवन रेखा के सम्बन्ध द्वारा एक नवीन प्रश्न उपस्थित किया है। रेखा एक अन्य पुरूष डॉ0 रमेश चन्द्र से शादी का निश्चय करके भी भुवन के प्रति पूर्ण समर्पित

है, पूर्ण आस्थावान है। डॉ0 रमेश से उसका विवाह एक सामाजिक बन्धन मात्र है, आत्मा का गठबंधन 'भुवन' के साथ जो कभी हुआ था, वह आत्मा के सदृश ही चिरस्थायी है– ''यह क्या है भुवन? वरसों मैं श्रीमती हेमेन्द्र कहलाई, उसके क्या अर्थ हैं? कुछ अर्थ तो होंगे, अपने से कहती हूँ पर क्या यह नहीं सोच पाती ... मैं इतना ही सोच पाती हूँ, कि मेरे लिए यह समूचा श्रीमतीत्व मिथ्या है कि मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी ही हुई हूँ और किसी की कभी नहीं न कभी हो सकूँगी..... ये पार्थिवता के बंधन, ये आकार, ये सूने कंकाल महाराज, मेरे त्रिभुवन के महाराज, किस सांस में तुम आये.... मेरे हृदय पुर में..... और कैसे तुम चले गये, मेरा गर्व तोड़कर, भूमि में लुटा कर... पर नहीं भुवन, तोडकर नहीं, तुम्ही मेरे गर्व हो, तुम्हारे ही स्पर्श से 'सकल मम देह–मन वीणा सम बाजे''[146] इससे स्पष्ट है कि परिस्थिति की विवशता के कारण नारी शरीर से अगर विवाह करके किसी अन्य की भी हो जाये तो भी मन आत्मा अपने पूर्व प्रेमी को समर्पित किये रह सकती है। शोध का विषय यह है कि पति पत्नी पर इसका क्या प्रभाव पडता है? अज्ञेय जी ने रेखा–रमेश के वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा अच्छे भविष्य की शुभ कामना की है। उपन्यास के अन्त में भुवन के यह पूछने पर कि रेखा कैसी गुजर हो रही है, रेखा डॉ0 रमेश की उदारता बताकर प्रशंसा ही करती है। रेखा ने भुवन के प्रति पूर्ण समर्पिता होते हुए भी गौरा से उसके सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए उसके सुखद दाम्पत्य एवं उज्जवल भविष्य की कल्पना की है। साथ ही डॉ0 रमेश से विवाह के बन्धन में बंधकर सामाजिक प्रतिष्ठा को महत्व दिया है क्योंकि पूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा तभी सम्भव है जब प्रेमी और प्रेमिका पति–पत्नी के सामाजिक बन्धन में बंधे हों क्योंकि समाज में प्रतिष्ठा इसी पवित्र बंधन की वजह से मिलती है, हृदय की आत्मीयता कितनी भी हो एवं रोमांस की गहराई कितनी भी हो वह मान सामाजिक स्वीकृति के बिना नहीं मिल सकता।

रेखा का रमेश चंद्र से विवाह और गौरा से बंधने की भुवन की आकुलता 'नदी के द्वीप' की ही नहीं, परिवार, बाह्य नर–नारी सम्बन्धों की भी सीमा है। पारिवारिक संदर्भों की दृष्टि से इसमें रेखा और चंद्रमाधव के परिवारों के विखंडन की भावात्मक निष्पत्तियों की इन दोनों व्यक्ति–चरित्रों के माध्यम से संवेदनशील प्रस्तुति हुई है। अज्ञेय के शब्दों में– ''रेखा 'नदी के द्वीप' का सबसे परिपक्व पात्र है... वही अपनी भावनाओं के प्रति सबसे अधिक ईमानदार है और अपने प्रति सबसे निर्भय। एक दूसरी तरह की ईमानदारी चन्द्रमाधव में भी है, लेकिन वह दस्यु की ईमानदारी है – जो नोच खचोट कर पा लेना चाहता है, किन्तु मूल्य चुकाने को तैयार नहीं है।''[147] अपने इस स्वभाव के अनुकूल

चन्द्रमाधव ने भी अपना मार्ग खोज लिया है। उसने अपनी पहली पत्नी को त्याग कर बम्बई जाकर फिल्म अभिनेत्री मिस चन्द्रलेखा से विवाह कर लिया है। इस प्रकार इसमें परिवार प्रमुख न होकर प्रेम सम्बन्धों की प्रमुखता है।

गुनाहों का देवता

'गुनाहों का देवता' (1946) धर्मवीर भारती द्वारा लिखा गया मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। सुधा और चन्द्रकपूर का प्रेम इस उपन्यास की मुख्य कथा है। सुधा के पिता इस विवाह को अस्वीकार देते हैं। सुधा का विवाह चन्द्रकपूर के मित्र कैलाश से हो जाता है। यहीं से चन्द्रकपूर के जीवन में निराशा, घुटन जन्म ले लेती है और वह कुंठित हो जाता है। सुधा कैलाश का दाम्पत्य जीवन भी सुखी नहीं रह पाता है। सुधा के सम्मुख सांस्कृतिक मूल्य हावी रहते हैं। वह पतिव्रत धर्म निभाना चाहती है परन्तु चन्द्र के समक्ष वह डगमगाने लगती है यह स्थिति कैलाश महसूस करता है क्योंकि सुधा से उसे शरीर के अलावा और कुछ प्राप्त नहीं हो सका है वहीं दूसरी ओर चन्द्र के व्यक्तित्व में उथलापन आ गया है।

'गुनाहों का देवता' में एक दूसरा परिवार पम्मी का है उसकी अपने पति से पटरी नहीं खाती है। वह कुंआरे जीवन में पति तथा विवाहित जीवन में प्रेमी की भूखी रहती है। चन्द्रकपूर को स्वेच्छा से शरीर सौंप देती है। चन्द्र भी अपने सरोकारों को भूलकर पम्मी का भोग करता है अन्त में सुधा का चन्द्र कपूर द्वारा प्रताड़ित करना साथ ही सुधा की मृत्यु एवं उसकी बहन विनती के साथ मौन विवाह की स्वीकृति से उपन्यास की कथा समाप्त हो जाती है।

'गुनाहों का देवता' में पारिवारिक विघटन का धरातल विभिन्न कोणों में दृष्टिगत होता है– इसकी अभिव्यक्ति द्वैध व्यक्तित्व से परिपूर्ण मनोविश्लेषण प्रधान अवतरणों से पूर्ण पात्रों में मिलती हैं, कुण्ठा प्रधान पात्रों वाला यह उपन्यास मध्यवर्ग की सामाजिक, आर्थिक, वैयक्तिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक तथा नैतिक समस्याओं को भी लेकर सामने आया है।

वैयक्तिक धरातल पर उपन्यास के सभी पात्रों में मानसिक द्वन्द्व विद्यमान है। चन्द्रकपूर, कैलाश, सुधा, विनती, प्रमिला और गैसू सभी शिक्षित मध्यवर्ग के पात्र हैं जिसके माध्यम से लेखक ने मध्यवर्ग के प्रेम, विवाह तथा सेक्स का वर्णन किया है। परन्तु इसके बाद भी प्रमुख समस्या पात्रों के द्वैध व्यक्तित्व की कुण्ठा तथा मनोद्वन्द्व की प्रवृत्ति है, जो सांस्कृतिक परिवेश में उभरकर सामने आती है। जीवन का यथार्थ व्यक्ति को सभी नैतिक एवं सांस्कृतिक मूल्य नकारने

पर विवश कर देता है, जबकि उसकी बुद्धि एवं तर्क उसे आदर्श के पथ पर टिके रहने देना चाहते हैं यही द्वन्द्व परिवारों के विघटन का बीज साबित होता है।

चन्द्र और सुधा का प्रेम इस उपन्यास की केन्द्रस्थ समस्या है। सुधा का विवाह चन्द्र के मित्र कैलाश से हो जाता है। इसके साथ ही चन्द्र के जीवन में निराशा, घुटन जन्म ले लेती है तथा उसमें कुण्ठा बढने लगती है। सुधा कैलाश पति–पत्नी के रूप में सुखी नहीं रह पाते हैं। सुधा के सम्मुख दाम्पत्य धर्म, नारीधर्म, सांस्कृतिक मूल्य का प्रश्न है। वह आदर्शमयी भारतीय ललना है जो एक पति व्रत धर्म निभाना चाहती है किन्तु चन्द्र के सम्मुख उसका पति–ब्रत डगमगाने लगता है, वह भारी मनोद्वन्द्व की अनुभूति करती है। उसकी इस मनः स्थिति को उसका पति कैलाश भलीभांति जानता है और इसलिए वह चन्द्र से शिकायत रूप में कहता है– ''ये मेरे व्यक्तित्व को ग्रहण भी नहीं कर पाई। वैसे मेरी शारीरिक प्यास को चाहे इन्होंने समर्पण किया, वह भी एक वेमन से, उससे तन की प्यास भले बुझ जाती हो कपूर, लेकिन मन तो प्यासा ही रहता है.... ये मेरी जायज नाजायज हर इच्छा के सामने झुक जाती है, लेकिन इनके दिल में मेरे लिए कोई जगह नहीं, वह जो एक पत्नी के मन में होती है।''[148] कैलाश के ये शब्द सुधा के चरित्र, व्यक्तित्व और स्त्री–पुरूष सम्बन्धों के सांस्कृतिक मूल्यों पर एक प्रश्न–चिन्ह लगाते हैं– आखिर पत्नी क्या है? विवाहेत्तर प्रेम क्यों? सुधा के द्वैध व्यक्तित्व की वैधानिकता कैसी? फिर दाम्पत्य के विघटन की भूमिका क्यों कर बची। मात्र सुधा की घुटन, अन्तर्द्वन्द्व, मौन पीड़क बन सब सहन करने की क्षमता और अन्ततः चन्द्र को सुखी देखने की लालसा में आत्मोत्सर्ग– यह सब सांस्कृतिक मूल्य हैं। भारतीय पारिवारिक जीवन में पति–पत्नी की ओर से त्याग और बलिदान के फलस्वरूप ही सुधा के पिता डॉ0 शुक्ला अन्र्जातीय विवाह को स्वीकारते हैं।

'गुनाहों का देवता' में दूसरा परिवार पम्मी और उसके पति का है। पम्मी की अपने पति से नहीं पटती और वह पति पत्नी की पवित्रता को भंग कर वासना की अग्नि में धधकने लगती है– जिससे पति–पत्नी में अलगाव का बीज पैदा होता है। डॉ0 सुषमा धवन के अनुसार– ''पम्मी एक विवाहित लडकी है जो अपने पति से अलग रहती है। उसका दृष्टि कोण अपना है। वह कुँआरे जीवन में पति और विवाहित जीवन में प्रेमी की भूखी है।''[149] भला इस प्रकार के नारी पात्र दाम्पत्य–जीवन की पवित्रता के संरक्षक कैसे बन सकते हैं। ये तो भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का अवमूल्यन करने वाले हैं। पति और पत्नी के मध्य जो नैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक सामंजस्य रहता है, उसे दूर कर चन्द को मुक्त रूप

से शरीर अर्पण करने वाली पम्मी नारी जाति के लिए एक कलंक ही तो है जिसके कारण पति–पत्नी के सम्बन्धों की सांस्कृतिक प्रतिभा अस्त व्यस्त हो गई है। मुख्य रूप से इन दोनों परिवारों के मध्य विषमता यह है कि सुधा का अनमेल विवाह हुआ है जो आन्तरिक मन से उसे स्वीकार नहीं है इसके साथ ही पम्मी असाधारण मनोविकार ग्रस्त है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'गुनाहों का देवता' उपन्यास में पारिवारिक विघटन का स्वरूप सांस्कृतिक मूल्यों को लेकर है। जहाँ पात्र अपने परम्परा एवं संस्कृति की वर्जनाओं में रहते हुए मन ही मन घुटते विखरते रहते हैं।

ऐतिहासिक यथार्थ वादी स्वरूप के कारण पारिवारिक विघटन

ऐतिहासिक यथार्थवादी उपन्यासकारों ने विभिन्न व्यतीतकालों के आधार पर पृथक–पृथक कथाधारों को स्वीकार करते हुए उपन्यासों की रचना की है, लेकिन एक सत्य जो उभरकर आया है वह यह कि इतिहास का कोई भी काल अथवा व्यक्ति वर्ण्य विषय बनाया गया हो, जिसमें लेखक अपनी दृष्टि का आग्रह नहीं छोड सका है। "राहुल, यशपाल और रांगेयराघव की ऐतिहासिक कृतियों में भी यदि मार्क्सवादी विवेचन है तो हजारीप्रसाद जी और आनंद प्रकाश जैन की दृष्टि आधुनिक है, जबकि अमृतलाल नागर ने अपने यथार्थवादी स्वरूप को ऐतिहासिक रचना में भी नहीं त्यागा और चतुरसेन शास्त्री, वृन्दाबनलाल वर्मा सत्यकेतु विद्यालंकार तथा इकबाल बहादुर देवसरे के ऐतिहासिक उपन्यास उनके रचयिताओं की रचनाएं आदर्शवादी मानवतावादी दृष्टि को ही उजागर करती है।"[160]

दिव्या

इसी ऐतिहासिक यथार्थवादी परिप्रेक्ष्य में यशपाल के उपन्यास को 'दिव्या' को रेखांकित किया जा सकता है। पारिवारिक विघटन की त्रासदी झेलती दिव्या एक ऐसी नारी है जो सामंती संस्कारों का अन्तिम समय तक दश झेलती रहती है इसके साथ ही यशपाल ने "समाज की मूल्यगत और सम्बन्धगत विसंगतियों का पर्दाफाश कर तथा व्यक्ति और समाज के बहुमुखी संघर्षों का चित्रण करअपने समाजवादी दृष्टि कोण का तो परिचय दिया ही है, साथ ही साथ मारिश जैसे पात्र की अवतारणा करके स्थान–स्थान पर उसके द्वारा भौतिक विचार व्यक्त कराकर तथा उसी में सारे संघर्ष की समाहित करके उसे प्रत्यक्ष रूप भी

दिया है।"[151] इतिहास के इस यथार्थवादी जीवन दृष्टि, गतिशील व्यक्तियों तथा परिवेश सम्पृक्त यशपाल के विचारों, भावों, सम्बन्धों की पहचान तथा अजनबीपन के कारण 'दिव्या' एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।

'दिव्या' (ईसापूर्व दूसरी शती) बौद्धकालीन परिवेश मे लिखे गये उपन्यास में यशपाल ने नारी और पुरूष के सम्बन्ध को एक प्रश्न के रूप मे उभारा है। 'दिव्या' महापंडित धर्मस्थ देवशर्मा की प्रपौत्री है। दिव्या के माता–पिता की उसके बचपन में ही मृत्यु हो गयी थी अतः दिव्या का पालन पोषण 'धाता' ने किया। सागल के वार्षिक 'मधुपर्व उत्सव' में दिव्या को सरस्वती पुत्री और पृथुसेन को सर्वश्रेष्ठ खडगधारी की उपाधि प्राप्त होती है। पृथुसेन श्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र है, प्रेस्थ दास वंश से संबंधित है। अतः सागल के आभिजात कुलों में उसका सम्मान नहीं होता। अभिजात्य युवक पृथुसेन का भी अपमान कर बैठते हैं। पृथुसेन का दास वंश में जन्म लेना ही अपराध है, अन्यथा वह अभिजात्य युवकों से कम नहीं। लेकिन दिव्या अभिजात कुल से सम्बद्ध पृथुसेन को प्रेमकर बैठती है। यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से दिव्या और पृथुसेन का प्रेम प्रसंग चलता है। दिव्या ने विवाह से पहले ही पृथुसेन को समर्पण कर दिया है और सागल पर घिर आये युद्ध में पृथुसेन चला गया है। पृथुसेन के पीछे अपने शरीर में पृथुसेन की उपस्थिति या यो कहा जाय कि विवाह से पहले ही गर्भ की स्थिति दिव्या को बडा दयनीय बना देती है।

पृथुसेन के युद्ध के मोरचे पर जाने के कारण वह सन्तोष धारण किये रहती हैं। घायल पृथुसेन लौटता है तो उसे यह भ्रांति ग्रस लेती है कि दिव्या उसकी उपेक्षा कर रही है और वह सीरो से प्रेम करने लगता है। दिव्या असहाय नारी चिरन्तन काल की पीडित नारी चारों ओर से निराश होकर दासी को लेकर घर से निकल पड़ती है और फिर बेसहारा होकर यहाँ–वहाँ तिनके सी बहती फिरती है तथा सामाजिक सम्बन्धों और विसंगतियों के अनेक तटों को छूती हुई उन्हें प्रकाशित करती रहती है। एक बूढी कुटनी की आत्मीयता उसे एक बालिका विक्रेता के हाथ बेंच देती है। फिर वह मथुरा के एक ब्राह्मण के यहाँ बिकती है, जहाँ वह भयंकर ताडनाओं से गुजरती है वहाँ से भागकर महास्थविर से भिक्षुणी बनने का निवेदन करती है और ठुकराई जाती है। आत्म हत्या करने का प्रयत्न करती है परन्तु शूरसेन प्रदेश की राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा द्वारा बचा ली जाती है। रत्न प्रभा उसे अंशुमाला नाम देती है और बडे प्यार से रखती है। अशुमाला के रूप में दिव्या को बहुत ख्याति मिलती है। लेकिन वह संयम और उदासीनता को धारण किये केवल नर्तकी बनी रहती है। अन्त में वह देवी मल्लिका से भेंट होने पर मद्र लौटती है और मल्लिका उसे अपनी उत्तराधिकारिणी बनाने की

घोषणा करती है किन्तु ब्राह्मण वंश विरोध करता है– 'मद्र में द्विज कन्या वेश्या के आसन पर बैठकर उनके लिए भाग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकतीं।' दिव्या एक बार फिर वहाँ से निकलती है। पृथृसेन सत्वहीन होकर भिक्षु हो जाता है तथा वह इस समय दिव्या को भिक्षुणी बनने का उपदेश देने आता है। रूद्रधीर उसे कुलबधू बनाना चाहता है। दिव्या दोनों को ठुकरा देती है और कलाकार मारिश को स्वीकार करती है जो किसी सांसारिक या दैवी जीवन की उच्चता का प्रलोभन न देकर सहज जीवन जीने का पक्षपाती है।

सागल के वार्षिक 'मधु पर्व उत्सव' में दिव्या को 'सरस्वती पुत्री' और पृथुसेन को 'सर्वश्रेष्ठ खड़गधारी' की उपाधि प्राप्ति होती है। पृथुसेन श्रेष्ठी प्रेस्थ का पुत्र है, प्रेस्थ– दासवंश से सम्बन्धित है। अतः सागल के अभिजात कुलों में उसका सम्मान नहीं होता। आभिजात्य युवक पृथुसेन का भी अपमान कर बैठते हैं। पृथुसेन का दास वंश में जन्म लेना ही अपराध है, अन्यथा वह आभिजात्य युवकों से कम नहीं। इसलिए वह सोचता है– "जन्म का अपराध? यदि वह अपराध है तो उसका मार्जन किस प्रकार संभव है? शस्त्र की शक्ति, धन की शक्ति विद्या की शक्ति, कोई शक्ति जन्म को परिवर्तित नहीं कर सकती। कोई शक्ति जन्म के अपराध का मार्जन नहीं कर सकती। जन्म के अन्याय का प्रतिकार क्या मनुष्य दैव से ले।"[152] यहाँ अप्रत्यक्ष रूप से दिव्या और पृथुसेन के प्रणय प्रसंग के माध्यम से यशपाल ने वर्गहीनता को मान्यता दी है। साथ ही स्वच्छ प्रेम में नैतिकता का प्रश्न चिन्ह भी लगाया है। दिव्या ने विवाह से पहले ही पृथुसेन को समर्पण कर दिया है और सागल पर घिर आये युद्ध में पृथुसेन चला गया है। पृथुसेन के पीछे "अपने शरीर में पृथुसेन की उपस्थिति अनुभव कर गर्व और उल्लास से गदगद होकर दिव्या का हृदय उछलने लगता है। पूर्णता की सीमा पर पहुँच कर वह उल्लास व्याकुलता में परिवर्तित हो जाता है कि अब आर्य का तुरंत लौट आना आवश्यक है। उनका अधिक विलम्ब से लौटना चिंता का कारण हो जायेगा।"[153] विवाह से पहले ही गर्भ की स्थिति दिव्या को विनाश के कगार पर पहुँचा देती है और वह अपने मूल परिवार से कट जाती है।

दूसरी ओर युद्ध में विजय श्री प्राप्त करके लौटा हुआ घायल पृथुसेन दिव्या से नहीं मिल पाता, क्योंकि पृथुसेन का पिता प्रेस्थ उसका विवाह गणपति मिथोद्रस की पुत्री सीरो से करना चाहता है प्रेस्थ कहता है "विवाह को जीवन में सामर्थ्य और सफलता का साधन बनाओ। सामर्थ्य से ही मनुष्य भोग और कामना पूर्ण करने का अधिकारी होता है।"[154] दिव्या और पृथुसेन के विफल प्रणय और पृथुसेन के सीरो से विवाह के माध्यम से यशपाल ने पारिवारिक विघटन के लिए

भौतिक प्रलोभनों को उत्तरदायी ठहराया है। अपने पिता प्रेस्थ के आग्रह पर सीरो से विवाह करके पृथुसेन भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है कि विवाह और परिवार का आधार निश्छल प्रेम, प्रेमी–प्रेमिका का सहज उत्सर्ग न होकर 'सामर्थ्य और सफलता के लौकिक आकर्षण हैं।' दूसरे शब्दों में परिवार न तो प्रवृत्ति जन्य है और न उसका भव्य प्रासाद स्नेह, समर्पण और आत्मीयता के उनमूल्यों पर टिका हुआ है। जिनकी यशगाथा विवाह और परिवार के समर्थक प्रायः गाते रहते हैं। वस्तुतः निश्चल प्रेम तो दिव्या को एक के बाद दूसरे ज्वलंत प्रश्नों के बीच असहाय छोड देता है।

दिव्या परिवार में आर्ये मोक्षा के पुत्र – जन्म पर उत्सव को देखकर सोचती है, आर्ये मोक्षा का गर्भ परिवार के लिए उल्लास का कारण है और मेरा गर्भ कलंक का। क्योंकि मेरे गर्भ का पिता नहीं है। "अपने गर्भ को मैं उसके पिता के पास ले जाऊंगी। क्या प्रेस्थ प्रासाद में मेरा गर्भ इसी प्रकार विपत्ति और कलंक का कारण होता ? ... मेरा स्थान वहीं है।"[155] यही सोचकर दिव्या प्रेस्थ के प्रासाद में गयी भी है, पर वह प्रासाद के द्वार से ही लौटा दी गयी। ऐसी अवस्था में दिव्या अपने परिवार में लौटकर भी नहीं आना चाहती दिव्या का कहना है– "मेरे पति ने मेरी वंचना की है। अब प्रपितामह और पति किसी के यहॉ मेरे लिए स्थान नहीं है।..... कह नहीं सकती कहां जाऊंगी।"[156] दूसरे नगर में पहुँचकर दिव्या एक वृद्धा के चक्कर में फंसकर दास के व्यापारी प्रतूल के हाथों बेच दी गयी है । अभिजात कुल की लडकी कुचक्र में फंसकर दासी बन जाती है। एक दूसरे को बिकती हुई दिव्या अंततः पुरोहित चक्रधर के यहाँ पहुंची है। काम मिला है– नवजात शिशु को दूध पिलाने का क्योंकि वह स्वयं भी एक पुत्र की मां है। अपने पुत्र का अधिकार छिनते हुए देखकर दुखी दिव्या भागकर बौद्ध बिहार में शरण लेने पहुंची है। लेकिन शरण उसे वहाँ भी नहीं मिलती क्योंकि वह बिकी हुई दासी है। स्थविर का कथन 'वेश्या' स्वतन्त्रनारी है देवी।"[157] यह कथन उसके मस्तिष्क में घूमता रहता है और वह पुत्र सहित यमुना में कूद जाती है।दैव नियति ने उसे रत्ना के द्वारा बचा लिया परन्तु इस हादसा में उसका पुत्र मारा गया। सूर्यसेन की राजनर्तकी देवी रत्नप्रभा के यहाँ आकर दिव्या को नया नाम मिलता है– अंशुमाला। सागल में राजनर्तकी मल्लिका से सीखी हुई नृत्य कला यहाँ उसके काम आयी है, "लेकिन अंशुमाला की मुस्कान और लास्य केवल कला का कर्तव्य मात्र था। समाज से पृथक होते ही वह निस्संग और तटस्थ हो जाती है जैसे जल से बाहर निकल आने पर हंस शावक अपने पर झाडकर जल की बूंद से रहित हो जाता है। उसका मन दारूण और वीभत्स स्मृतियों के दुर्मेद्य आवरण में वेष्टित

था। उसके मन में शाकुल का वियोग व्याप्त था।''[158] रत्न प्रभा के यहॉ आकर ही दिव्या का साक्षात्कार पूर्व परिचित मारिश से होता है। मारिश कलाकर है और हाथ ही नास्तिक भी। उसका नास्तिक होना सागल–वासियों की दृष्टि में एक भारी अवगुण बन गया है। मारिश से महापंडित धर्मस्थ के निधन का समाचार सुनकर दिव्या सोचती है– ''सम्पन्न परिवार, अनुरक्त पति, सुन्दर संतान? वह सब पाया और नहीं रहा और उस सबके परिणाम में पाया दु:ख।''[159] चूँकि दिव्या ने तन–मन से पृथुसेन को पति मान लिया है, अतः विवाहपूर्व पति भावना ही उसे (दिव्या) हमेशा सालती रही है।

भाग्यचक्र से दिव्या पुनः सागल लौटी है मल्लिका की उत्तराधिकारिणी के रूप में। पर सागल का अभिजात समाज विप्रकन्या को वेश्या के स्थान पर नहीं बैठने देता, क्योंकि वर्णाश्रम की व्यवस्था त्रिकाल सत्य है और ''मद्र में द्विजकन्या वेश्या के आसन पर बैठकर जन के लिए भोग्य बनकर वर्णाश्रम को अपमानित नहीं कर सकती।''[160] दिव्या फिर एक बार निराश्रिता हो गई है। पर इस बार उसे आराम देने वालों की कमी नहीं। आचार्य रूद्रधीर दिव्या को पत्नी बनाने को उत्सुक हैं, पर दिव्या को यह स्वीकार नहीं । बौद्ध भिक्षु के रूप में पृथुसेन भी प्रताड़ित नारी को तथागत की शरण में ग्रहण करने के लिए आया है, परन्तु दिव्या का स्पष्ट मत है 'नारी का धर्म निर्माण नहीं सृष्टि' है। इसके पश्चात मारिश आता है दिव्या को अपनाने के लिए। मारिश कहता है कि वह कुछ और दे या न दे, पर ''संतति के रूप में मानव की अमरता दे सकता है। और भूमि पर बैठी दिव्या अनेक क्षण विचार में ग्रीवा झुकाये रही। फिर उसने सहसा भित्ति का आश्रय छोड़ दोनों बाहु फैला दिये, उसका स्वर आर्द्र हो गया– आश्रय दो आर्य।''[161] मारिश के साथ दिव्या का जाना इस बात का प्रतीक है कि मानव की परम्परा और परिवार की अक्षुणता संतान प्राप्ति द्वारा संभव है।

सीरो–पृथुसेन के वैवाहिक जीवन के वर्णन के माध्यम से भी यशपाल ने सामाजिक सुविधाओं से परिपूर्ण और भौतिक आकर्षणों से बंधे शक्ति सम्पन्न लोगों के परिवार में पलने वाले खोखलेपन मूल्यहीनता और चरित्र शून्यता का चित्रण किया है। सीरो मद्र के परमभट्टारक गणपति की पौत्री गणपरिषद के संवाहक की पुत्रवधू और महापराक्रमी सेनापति की अर्धांगिनी थी। वह सबसे अधिक काम्य भोगों को भोगती और सागल के सबसे अधिक सुन्दर युवा पुरूषों से आदर की आशा करती। उसके रागरंजित होठों को मदिरा में ही घुलते देखा गया। ''स्पर्श सुख उसके लिए युवा पुरूषों की बलिष्ट भुजाओं और लोमपूर्ण कठोर वक्षस्थल के अतिरिक्त न था।''[162] इस पर टिप्पड़ी करते हुए डॉ0 रामदरश

मिश्र लिखते हैं– "सामंती प्रथा में विसंगतियों की एक लम्बी परम्परा होती है। स्वयं दास प्रेस्थ पैसे कमाकर कुलीनों की पॉति में बैठना चाहते हैं और उन्हीं की तरह आचरण करना चाहते हैं, वे अपने वर्ग से छूटकर उसी के मूल्यो, सम्बन्धों और हितों के शत्रु बन जाते हैं। गरीब अपने से कम गरीब का शोषण करता है। बडापन शौर्य और गुण पर आधारित नहीं होता, कुलीनता पर होता है। धर्म भी शक्तिशालियों की रक्षा की ढाल बन जाता है, अशक्तों को ठुकरा देता है।"[163]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि दिव्या और सीरो नर–नारी संबन्धों के दो विपरीत ध्रुव हैं दिव्या एक खोज यात्रा है, अर्थ, भौतिक प्रलोभनों और जर्जर रूढ़ियों के जालों से आवेष्टित नर–नारी सम्बन्धों को पारम्परिक सौहार्द, विश्वास और निश्चल प्रेम के धरातल पर प्रतिष्ठापित करने की दिशा में। इस खोज–यात्रा में दिव्या एक के बाद एक सम्बन्धों के मुखौटे उलटती जाती है। पुरूष नियन्त्रित समाज के पाखंड, छल और प्रपंच के। लेकिन सीरो ? वह है नर–नारी सम्बन्धों, परिवार का पारंपरिक ध्रुव। उच्च वर्ग के परिवारों में लोक–मर्यादा की आड़ में चलता विश्वास, उच्श्रृंखलता और अमर्यादित आचरण। दिव्या और सीरो की सृष्टि करके यशपाल ने विवाह और पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति अपनी शंकाओं को ऐतिहासिक कल्पना के परिवेश में उभारने का सफल प्रयास किया है। दिव्या का मूल्यांकन करते हुए डॉ0 रामदरश मिश्र लिखते हैं कि "दिव्या इतिहास का विश्लेषण है इसलिए ईसापूर्व दूसरी शती की कथा आज भी हमसे कहीं न कहीं जुड़ती हुई अनुभव होती है। सामाजिक सम्बन्धों, परिस्थितियों, मूल्यों तथा व्यक्ति की नियति और जिजीविषा का जो स्वरूप इतिहास के इस अंचल में उभरा है वह समय की लम्बी दूरियां पार करता हुआ हमें छू लेता है, हमारी निकट पहचान का मालूम पड़ता हैं। .... उसका मूल उद्‌देश्य है सामाजिक सम्बन्धों, मूल्यों आदि की विसंगतियों और व्यक्ति की यातना, संघर्ष तथा गति का जीवंत रूप प्रस्तुत करना।"[164]

सन्दर्भ

1. हिन्दी उपन्यास साहित्य में दाम्पत्य चित्रण– डॉ0 उर्मिला भटनागर पृ0 74
2. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका वालुम 19, पृ0 10
3. एच0 लेविन– कम्प्रेटिव लिटरेचर, पृ0 284
4. लिटरेचर एण्ड रियेलिटी– हावर्ड फास्ट, पृ0 17

5. कथाकृती मोहन राकेश–ओम प्रभाकर, पृ0 5
6. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 25
7. हिन्दी कथासाहित्य और विकास परपाठकों की रूचि का प्रभाव–डॉ0 गोपाल राय, पृ0 221
8. परीक्षा गुरू पृ0, 96–97
9. हिन्दी उपन्यास यात्रा गाथा, प्रो0 शशि भूषण सिन्हा, पृ0 51
10. परीक्षागुरू, पृ0 47
11. परीक्षागुरू, पृ0 48
12. परीक्षागुरू, पृ0 49
13. परीक्षागुरू, पृ0 49
14. परीक्षागुरू, पृ0 7
15. परीक्षागुरू, पृ010
16. परीक्षागुरू, पृ0 17–23
17. परीक्षागुरू, पृ0 42–46
18. परीक्षागुरू, पृ0 51–55
19. सेवासदन, पृ0 6
20. सेवासदन, पृ0 7
21. सेवासदन, पृ0 40
22. प्रेमचंद के साहित्य में व्यक्ति और समाज, रक्षा पुरी, पृ0 173
23. सेवासदन, पृ0 18
24. सेवासदन, पृ0 18
25. सेवासदन, पृ0 34
26. प्रेमचंद औन उनका युग – डॉ रामविलास वर्मा, पृ0 35
27. सेवासदन, पृ0 38
28. प्रेमचंद आलोचनात्मक परिचय–डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 123
29. प्रेमचंद और उनका युग–डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 38
30. प्रेमचन्द आलोचनात्मक परिचय–डॉ0 राम विलास शर्मा, पृ0 123
31. निर्मला, पृ0 39
32. प्रेमचंद आलोचनात्मक परिचय–डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 118
33. निर्मला, पृ0 89
34. निर्मला, पृ0 39
35. निर्मला, पृ0 187

36. निर्मला, पृ0 187
37. निर्मला, पृ0 188
38. भूले बिसरे चित्र, पृ0 16
39. भूले बिसरे चित्र, पृ0 16
40. भूले बिसरे चित्र, पृ0 74
41. उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा–डॉ0 ब्रज नारायण सिंह, पृ045
42. भूले बिसरे चित्र, पृ0 115
43. भूले बिसरे चित्र, पृ0 116
44. भूले बिसरे चित्र, पृ0 151
45. भूले बिसरे चित्र, पृ0 181
46. भूले बिसरे चित्र, पृ0 188
47. हिन्दी उपन्यास एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 राम दरश मिश्र, पृ0 152
48. भूले बिसरे चित्र, पृ0 187
49. भूले बिसरे चित्र, पृ0 309
50. भूले बिसरे चित्र, पृ0 345
51. भूले बिसरे चित्र, पृ0 295
52. भूले बिसरे चित्र, पृ0 466
52. भूले बिसरे चित्र, पृ0 468
54. भूले बिसरे चित्र, पृ0 516
55. भूले बिसरे चित्र, पृ0 517
56. भूले बिसरे चित्र, पृ0 518
57. हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास–डॉ0 सुदेश सिन्हा, पृ0 398
58. डॉ0 रणवीर संग्रा से यशपाल की भेंटवार्ता धर्मयुग, 2 मई, 1965, पृ0 45
59. झूठा सच प्रथम भाग, पृ0 398–99
60. झूठा सच दूसरा भाग, पृ0 358
61. झूठा सच दूसरा भाग, पृ0 531
62. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 रामदरश मिश्र
63. झूठा सच दूसरा भाग, पृ0 570
64. धर्मयुग–3 मई 1970, पृ0 51
65. धर्मयुग 10 मई 1970, पृ0 30
66. झूठा सच दूसरा भाग, पृ0 683
67. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृ0 220

68. मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 485
69. मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 499
70. मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 502
71. मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 760
72. मेरी तेरी उसकी बात, पृ0 312
73. नया साहित्य नये प्रश्न–नन्द दुलारे वाजपेई, पृ0 84
74. इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका तालुम 12, 1953, पृ0 256
75. कंकाल, पृ0 17
76. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 67
77. कंकाल, पृ0 12
78. कंकाल, पृ0 21
79. कंकाल, पृ0 267
80. कंकाल, पृ0 159
81. हिन्दी उपन्यास उद्भव और विकास–डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृ0 323
82. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 सुषमा धवन, पृ0 92
83. सन्यासी, पृ0 355
84. सन्यासी, पृ0 423
85. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 105
86. हिन्दी उपन्यास : एक नयी दृष्टि–डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 101
87. आधुनिक हिन्दी उपन्यास–डॉ0 नरेन्द्र मोहन, पृ0 18
88. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 275
89. सफेद मेमने, पृ0 82
90. हिन्दी उपन्यासः एक नयी दृष्टि–डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 103
91. सफेद मेमने, पृ0 12
92. सफेद मेमने, पृ0 65
93. हिन्दी उपन्यासः एक नयी दृष्टि–डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0
94. क्योंकि समय एक शब्द है–डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ, पृ0 313
95. सफेद मेमने, पृ0 149
96. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 274
97. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा–डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 52–53
98. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य और मनोविज्ञान–डॉ0 देवराज उपाध्याय, पृ0 166–67
99. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 52
100. प्रेम चंद और उनका युग–डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 64

101. गबन, पृ0 17
102. गबन, पृ0 141
103. गबन, पृ0 270
104. प्रेमचंद : आलोचनात्मक परिचय–डॉ0 राम विलास शर्मा, पृ0 124
105. त्यागपत्र, पृ0 10
106. त्यागपत्र, पृ0 13–14
107. त्यागपत्र, पृ0 54
108. त्यागपत्र, पृ0 61
109. त्यागपत्र, पृ0 63
110. त्यागपत्र, पृ0 58
111. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 259
112. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 257
113. नया साहित्यः नये प्रश्न–नन्द दुलारे वाजपेई, पृ0 196
114. विचार और अनुभूति–डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 133
115. हिन्दी कथा–साहित्य–डॉ0 पदुम लाल पुन्ना लाल बख्शी, पृ0 101
116. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 शिव नारयण श्रीवास्तव, पृ0 215
117. आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास–डॉ0 अतुलबीर अरोरा, पृ0 87
118. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 260
119. आत्मनेप, अज्ञेय, पृ0 67–68
120. देवेन्द्र इस्सर : कल्पना 223, दिसम्बर 1970, पृ0 34
121. डॉ0 नगेन्द्रः सर्वग्राही अहं का करूण आलेख– शेखरः एक जीवनी, हिन्दी उपन्यास–संपादिका सुषमा प्रियदर्शनी, पृ0 228
122. शेखर एक जीवनी, : पृ0 38
123. शेखर एक जीवनी, पृ0 69
124. शेखर एक जीवनी, पृ0 104
125. शेखर एक जीवनी, पृ0 133
126. शेखर एक जीवनी, पृ0 167
127. शेखर एक जीवनी, पृ0 178–79
128. शेखर एक जीवनी, पृ0 102
129. शेखर एक जीवनी, पृ0 109
130. अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या–डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ0 82
131. शेखर एक जीवनी, पृ0 161
132. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 82
133. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 183
134. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 183–84
135. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 184
136. चिंतन के क्षण–विजयेन्द्र स्नातक, पृ0 125
137. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 163
138. शेखर एक जीवनी दूसरा भाग, पृ0 247
139 आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास–डॉ0 अतुल बीर अरोरा, पृ0 91
140. नदी के द्वीप, पृ0 132
141. नदी के द्वीप, पृ0 252

142. नदी के द्वीप, पृ0 299
143. नदी के द्वीप, पृ0 189
144. हिन्दी उपन्यास—डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृ0 307
145. नदी के द्वीप, पृ0 189
146. नदी के द्वीप, पृ0 314
147. अत्मनेपद, अज्ञेय, पृ0 83
148. गुनाहों का देवता, पृ0 330
149. हिन्दी उपन्यास—सुषमा धवन, पृ0 259
150. कथाकृती मोहन राकेश—ओम प्रभाकर, पृ0 18
151. हिन्दी उपन्यासःएक अन्तर्यात्रा—डॉ0 रामदरश मिश्र पृ0203
152. दिव्या, पृ0 21
153. दिव्या, पृ0 75
154. दिव्या, पृ0 82
155. दिव्या, पृ0 91
156. दिव्या, पृ0 96
157. दिव्या, पृ0 119
158. दिव्या, पृ0 127
159. दिव्या, पृ0 136
160. दिव्या, पृ0 195
161. दिव्या, पृ0 201
162. दिव्या, पृ0 163
163. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्राडॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 203
164. हिन्दी उपनयास : एक अन्तर्यात्रा—डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 200

चतुर्थ अध्याय

मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

एक और जिन्दगी, अपरिचित, आर्द्रा, ग्लास टैंक, फौलाद का आकाश, गुंझल, पहचान, सुहागिनें, क्वार्टर, खाली, भूखे,हकहलाल, जानवर और जानवर, पांचवें माले का फ्लैट, मन्दी, उसकी रोटी, जख्म, मिसपाल, वारिस, जंगला, चांदनी और स्याह दाग, परमात्मा का कुत्ता, आखिरी सामान, एक ठहरा हुआ चाकू, मलवे का मालिक, कम्बल, क्लेम,

चतुर्थ अध्याय

मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का अंकन

मोहन राकेश का कथा–लेखन हिन्दी कहानी के उस नये दौर का सूचक है जहाँ कहानी के केन्द्र में केवल व्यक्ति की प्रतिष्ठा ही नहीं, अपितु सामाजिक शक्तियों का समाहार भी किया गया है। यही कारण है कि इनकी कहानियों का धरातल न तो जैनेन्द्र अज्ञेय के समान नितांत व्यष्टि चिंतन से प्रेरित है और न ही यशपाल के समान समष्टि चिंतन से। राकेश के कथा–साहित्य का संबंध समकालीन समय के जीवित यथार्थ से है लेखक के मन में बोध को लेकर कहीं भी किसी प्रकार का पूर्वाग्रह नहीं है। उसके अधिकांश अनुभव–संदर्भ नितांत वैयक्तिक होने के बावजूद युगीन सन्दर्भ पा लेने के बाद सामाजिक बनते गये हैं।

मोहन राकेश ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि "उनकी रचना–दृष्टि का सीधा संबंध आस–पास जिये जा रहे जीवन के साथ तथा इस जीवन की विडम्बनाओं और विभ्रमों को झेलते हुए व्यक्ति के साथ है। उनका लेखक व्यक्ति को भी आस–पास के प्रभावों से अलग एक कटी हुई इकाई के रूप में नहीं देखता, बल्कि सम्पूर्ण मानसिक सामाजिक–राजनीतिक परिवेश को उसका अभिभाज्य अंग समझता है। व्यक्ति और उसके परिवेश के अंदर से ही संवेदना और व्यंग्य के सूत्र उठाकर वह उन्हें कथा खंडों में बुन देता है।"[1] मोहन राकेश की यह वैयक्तिक सोच उनके लेखन का केन्द्र–बिन्दु शुरू से लेकर अन्त तक रही है। लेखक के इस बुनियादी सरोकार के उत्स को उनके व्यक्तिगत जीवन के परिप्रेक्ष्य में जाना व पहचाना जा सकता है। प्रायः उनके व्यक्तिगत अनुभव बने हैं। बचपन से ही उनकी आँखें आस–पास की जिन्दगी के प्रति सतर्क थीं अपने से बाहर घर को और घर से बाहर सामाजिक बंधनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगी थीं। अपने आस–पास का माहौल उन्हें कीचड़ भरा लगता। परिचय–क्षेत्र के बहुत से लोग, हर गुजरते दिन के साथ पहले से छोटे जान पड़ते थे।..... स्नेह, सहानुभूति, साहस और उत्साह की झिल्लियों के नीचे उसने चेहरे बहुत डरपोक, मजबूर और हतोत्साह दिखायी देते थे। यह सब देखकर उनके मन में हलचल होती। इसलिए छोटी सी उम्र में जीवन में अस्थिरता व अतिवादिता का समावेश हुआ और मन आक्रोश से भर गया। बाद में इसी यथार्थ की अभिव्यक्ति उन्होंने अपने साहित्य में की।

मोहन राकेश कहानी पर विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं–"मेरे लिए अनुभूति का सीधा संबंध मेरे यथार्थ से है और यथार्थ है मेरा समय और

परिवेश.... व्यष्टि से परिवार, परिवार से राष्ट्र और राष्ट्र से मानव समाज तक का पूरा परिवेश। मैं इनमें से किसी एक से कटकर शेष से जुड़े नहीं रह सकता.... अपने आस-पास के सन्दर्भ से आंख हटाकर दूर के सन्दर्भ में जी नहीं सकता।"[2] उन्होंने व्यक्ति को काल के परिप्रेक्ष्य में रखकर चित्रित किया है। केवल देश की स्थिति में व्यक्ति का चित्रण उनका अभीष्ट नही, क्योंकि कहानी व्यक्ति की नहीं, उसके पूरे समय की है। कहानी का प्रत्यक्ष कैनवस बहुत छोटा और साधारण हो सकता है पर जिस परोक्ष की ओर उसका संकेत है वह छोटा और साधारण नहीं है। उन्होंने हमेशा एक नयी दृष्टि और सही कथा पर जोर दिया। एक और जिंदगी (भूमिका) कहानी-संग्रह की भूमिका में राकेश ने इसी सन्दर्भ का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "बात नई जगह जाकर नयी तरह के व्यक्ति की कहानी लिखने की नहीं, उसी जगह रहकर, उसी इंसान के उन्हीं अंतर्द्वन्द्वों को जीवन के नये संदर्भ में देखने की है।"[3] मोहन राकेश ने व्यक्ति और समाज का कभी कोई विभाजन नहीं किया और न ही यथार्थ से विमुख होकर ही कहीं व्यक्ति के स्वत्व की प्रतिष्ठा की है। वे यह मानते हैं कि "व्यक्ति का जीवन एक इकाई का जीवन नहीं होता, एक समाज और एक समय के जीवन की प्रतिध्वनि भी उसमें सुनी जा सकती है।"[4] मोहन राकेश के अनुसार "यथार्थ की प्रतिक्रिया ही वस्तुतः अनुभूति को जन्म देती है, जबकि अनुभूति की व्यापकता और गहराई यथार्थ की व्यापक और गहरी पकड़ पर ही निर्भर करती है" ।[5] कोई भी सचेत और संवेदनशील रचनाकार समय के आतंक से उदासीन या अलग नहीं रह सकता। जिन प्रभावों में वह जीता है उनसे मुक्त रहकर सृजनशील हो पाना संभव ही नहीं है। लेखक का वास्तविक कमिटमेंट किसी विशेष विचारधारा से न होकर अपने से, अपने समय से और समय के जीवन से होता है। यदि वह अपने अंदर से कमिटेड है तो वह अंधे की तरह लकड़ी लेकर अंधेरे में अपने अकेले के लिए रास्ता नहीं टटोलता, अंधेरे और आतंक को पैदा करने वाली शक्तियों के साथ अपने समूचे अस्तित्व से लड़ जाना चाहता है और अकेला नहीं, अनेकानेक लड़ने वालों के साथ मिलकर। यह सामूहिक प्रयत्न ही उसके संघर्ष को सार्थकता देता है, वरना वह जिंदगी भर एक अपाहिज की तरह आवाज लगाये जाने और याचना करते रहने के लिए अभिशप्त है।

मोहन राकेश की यह विशेषता है कि उन्होंने किसी टूटे विशृंखलित, आरोपित, अविश्वसनीय सत्य की उपलब्धि में अपनी गरिमा को कभी नहीं झुठलाया, वरन एक व्यापक सामाजिक सत्य एवं यथार्थ के अन्वेषण में अपनी शक्ति लगाई। वे स्वीकारते हैं कि "लेखक का अपना एक अलग अस्तित्व है। किन्तु वह अस्तित्व भी सामाजिक संदर्भ में ही स्वरूप लेता है। क्योंकि इकाई के रूप में अपने को जानना भी उसके 'पूरे' के अंदर जीने का ही परिणाम है। चेतना के स्तर पर वह किसी भी तरह 'एक' या अकेला नहीं है। बोध में वह प्रभावों को

समेटता है और प्रभावों की शुरूआत से ही उसमें एक होने की स्थिति समाप्त होती है।"[6] इसलिए कथ्य कैसा भी हो किसी एक अकेले व्यक्ति का न होकर, उसके परिवेश का होता है। यही कारण है कि राकेश हमेशा सामाजिक संदर्भों को मान्यता देते रहे। इनकी कहानी की मुख्य धारा में नये संदर्भों की खोज सामाजिक चेतना से संचालित है और इसमें सांकेतिकता का विकास समष्टि सत्य एवं व्यापक परिवेश के धरातल पर हुआ है। उन्होंने युगीन सामाजिक यथार्थ और वस्तु–सत्य तथा बदलते विश्वास को नयी दृष्टि दी, मनुष्य के पारिवारिक सम्बन्धों को उसके परिवेश में देखने की यथार्थ–दृष्टि भी दी है।

मोहन राकेश के कथा–साहित्य में पारिवारिक विघटन के नये–नये ऐसे कोण उभर कर आते हैं जो शिल्प के साथ गुंफित होकर संवेदना के स्तर पर कोई बहुत ही बेलाग बात कह देने की सामर्थ्य रखते है। उस बिंन्दु से कहानी के ये कोण शुरू होते हैं जिस बिन्दु पर प्रेमचन्द्र अपनी कथा–यात्रा समाप्त कर चुके थे। 'कफन' और 'पूस की रात' तक आकर जो परम्परा अवरूद्ध हो गयी थी, उसी को गति देने का प्रयास मोहन राकेश ने अपने ढंग से किया।

मोहन राकेश की काहानियां परिवर्तन की एक पूरी प्रक्रिया का साक्षात्कार कराती हैं। यह प्रक्रिया साहित्यिक मूल्यों की भी है और सामाजिक–साहित्यिक मर्यादा की भी। मोहन राकेश वे सृजनात्मक धरातल पर संक्रांन्ति युग के समस्त दबावों को अपने पर झेला है और इस दबाव से जन्मे तनाव और संत्रास को भोगा है। विभाजन के साथ जिस 'क्राइसिस' का आरम्भ हुआ था वह उत्तरोत्तर बढ़ता चला गया। सामाजिक एवं नैतिक मान्यताएँ टूटने लगीं। जिंदगी का सारा अंदरूनी ढ़ाँचा भुरभुरी मिट्‌टी की तरह झड़ने लगा। नयी जमीन पर नयी मान्यताएँ उभर रही थी, किन्तु पाँव अभी टिक नहीं पा रहे थे। अतः लेखक ने इस नये पारिवारिक वातावरण में एक विशेष प्रकार की घुटन और आत्मपीड़न की स्थिति को अनुभव किया। युग की सच्चाइयों से जुडने की तीव्र लालसा और युग की आत्मा को प्रतिध्वनित करने की कामना ने उसके कहानीकार –व्यक्तित्व को एक विकासशील चरित्र प्रदान किया, जो सामाजिक–वैयक्तिक धरातल पर बदलते पारिवारिक जीवन के बदलते यथार्थ को आंकता चलता है और साहित्यिक धरातल पर सैद्धान्तिक आग्रहों के स्थान पर अनुभव की सच्चाइयों को अपना संबल बनाता है। राकेश का कथा–साहित्य युग की समग्रता को अपने परिवेश में समेटकर व्यक्ति और परिवेश के तथा व्यक्ति और समाज के अनेक स्तरीय सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देने का प्रयत्न करता है।

राकेश की मनोरचना मध्यवर्गीय चेतना से सम्बद्ध है। उनके जीवन में आई स्थितियों–परिस्थितियों की टकराहट अनुभव और अनुभूतियॉ सबकी सब मध्यवर्गीय संस्कारों को निरूपित करती हैं। उनकी कहानियों में अनुभव की निजता

है, किन्तु वह परिवेशबद्ध होकर निरंतर सामाजिक भूमिका पर उतरती गई हैं। आधुनिक कहानीकारों में राकेश ही एक ऐसे कहानीकार हैं, जिन्होंने जीवन के वास्तव को अपने स्तर पर भोगकर कहानियों के शिल्प में ढाल दिया है। जीवन का यथार्थ शरबत नहीं कुनेन की वह गोली है जिसे अनुभव की जुबान पर रखें तो वह तो कडवी हो ही जाती है, उसे अभिव्यक्ति देने वाली शैली भी उससे अप्रभावित नहीं रह सकती है। यथार्थ की यह कड़वाहट कभी प्रत्यक्ष और कभी अप्रत्यक्ष रूप से राकेश की कहानियों में मिल ही जाती है। कुछ आलोचकों एवं समीक्षकों की मान्यता है कि राकेश के लेखन में वैयक्तिक अनुभव भले ही कितना गहरा हो, किन्तु वह व्यापक नहीं है। यह उनके प्रगतिशील चिंतन की महत्वपूर्ण सीमा है– यायावरी जीवन को जीकर भी उन्होंने एक 'ठहरा हुआ चाकू' जैसी एकाध कहानियों को छोड़कर जीवन को व्यापक संदर्भों में नहीं उठाया अपने मुताबिक कुछ नुक्ते उठाये हैं जो मनुष्योचित सामर्थ्य का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं। जीवन के व्यापक संदर्भों के अभाव की शिकायत राकेश की कहानियों के सन्दर्भ में डॉ0 नामवर को भी रही है। इसी कारण उन्होंने लिखा है कि "अपने आस–पास के वातावरण में उड़ती हुई कहानियों को पकड़कर निस्सन्देह मोहन राकेश ने उन्हें उतनी ही तेजी के साथ व्यक्त किया है। जो मन में एक फ्लैश की तरह कौध जाती है। लगता है उन्होंने अभी बिजली की कौंध ही पकड़ी है, बिजली कि वह शक्ति नहीं जिसका उपयोग हम अपनी सीमा में उष्णता तथा आलोक के लिए कर सकें जो कि मनुष्योचित सामर्थ्य का प्रतीक है।"[7] यह तो ठीक है कि राकेश की कहानियों में उनके आस–पास का परिवेश प्रतिबिम्बित है, किन्तु यह मानना पड़ता है कि अनुभव का प्रत्येक क्षण जीवन में हर बार कुछ नया जोड़ देता है तो जो कलाकार अपने परिवेश के हर परिवर्तित क्षण के मुहाने परसतर्क हो, उसके लेखन में व्यापकता के अभाव की शिकायत हठधर्मिता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है? यों भी बिजली की कौंध में यदि परिवेश को तीव्रता से उजागर करने की क्षमता है तो फिर उसके अभाव की शिकायत उस कहानीकार की कहानियों में कैसे की जा सकती है जो हर अनुभूति क्षण में एक कहानी कसमसाती हुई देखता हो।

राकेश की कहानियों में परिवर्तित परिस्थितियों, बदले हुए परिवेश में सांस लेते व्यक्ति के सम्बन्धों, एक विशेष व्यवस्था से बंधे रहने की अनिवार्यता को ढोते जाने की विडम्बना और महानगरीय संत्रास की सशक्त अभिव्यक्त हुई है। उनकी कहानियां उनके कहानी लेखन के प्रारंम्भिक वर्षों से लेखन के चरमोत्कर्ष तक के परिवेश को कलात्मक अन्विति के साथ काल सापेक्ष भी हैं। इस दृष्टि को मोहन राकेश ने स्वयं स्वीकार किया है– "मेरे लिए नयी कहानी की दृष्टि अपने संदर्भों में रहकर उनके अंदर से अपने समय और परिवेश को आंकने की दृष्टि है

जो हर बार नये प्रयोग में यथार्थ को उसकी सजीवता में व्यक्त करने की एक नयी कोशिश करती है।"[8]

राजेन्द्र यादव के अनुसार –"विभिन्न स्थितियों और विविध मनोविज्ञानों में उतर सकने की (राकेश की) अंतर्दृष्टि– ऑब्जेक्टिविटी या निर्वैयक्तिता– यथार्थ के तर्क संगत, सार्थक संदर्भों की पकड... मदी का बूढा हो या 'मवाली' का बच्चा 'आखिरी सामान' की आधुनिक नारी की ट्रेजिडी हो या 'उसकी रोटी' की डायवर पत्नी की मजबूरी, 'गुनाह बेलज्जत' का नपुंसक हो या 'परमात्मा का कुत्ता' का यमला (धाकड़) जाट– कहीं भी राकेश की कलम डगमगाती नहीं है.... एक ओर उसने देश के विभाजन पर 'मलवे का मालिक' जैसी सशक्त कहानियां दी हैं तो दूसरी ओर घुटन और उमस के बीच 'नये बादलों' को रेखांकित करने की कोशिश की है। कभी वह पहाडी स्कूल में अध्यापन करती 'सुहागिनों' की समानांतर जिंदगी के बीच रहता है तो कभी सजल मातृत्व की करूण और आर्द्र छाया के नीचे, कभी वह अपने भोले–भाले बच्चे की निष्कपट आंखों से कुहासे में डूबी 'एक और जिंदगी' को देखता है तो कभी मिसपाल के बहाने छूटे हुए को छोड़ नहीं पाता या शीशे को अमृत बानो (ग्लास–टैंकों?) में लौट जाता है।"[9] मोहन राकेश के कहानी–साहित्य की विषय वस्तु सम्बन्धी विविधता के सन्दर्भ में राजेन्द्र यादव के उपरोक्त कथन को उद्धत करने का एक मात्र आशय यही है कि माहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का स्वरूप कैसा है एवम इसके प्रमुख कारण क्या हैं? इसमें इसकी पृष्ठभूमि को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका रहेगी।

मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के कारण

राकेश की अधिकांश कहानियों में मध्यवर्गीय चेतना है जिसका मूल केन्द्र व्यक्ति है, अतः इनमें व्यष्टिचिंतन एवं समष्टिचिंतन दोनों इस प्रकार विलय हो गये हैं कि एक को दूसरे से पृथक करना कठिन है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में व्यक्ति–सत्य और समाज–सत्य पर समान आग्रह है। "व्यक्ति चेतना और समाज चेतना के बीच किसी कृत्रिम द्वन्द्व का परिहार कर राकेश की कहानियां संवेदना और बोध के उस धरातल से शुरू होती है जिसे व्यक्ति और समाज की आंगिक सापेक्षिता का धरातल कहा जा सकता है।"[10] इनमें लेखक व्यक्ति के माध्यम से निरन्तर कुलबुलाते और संघर्ष करते सामाजिक पार्श्व को उभारना चाहता है, क्योंकि वह अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सचेत है।

औद्योगीकरण एवं विज्ञान के विकास के बढते प्रभाव से महानगरीय या कस्बाई जीवन ही नहीं भारतीय संस्कृति की आत्मा गाँव भी इसकी चपेट में

आ गये। आधुनिकता का प्रश्न पश्चिमी क्षेत्रों की सभ्यता एवं संस्कृति के अति निकट है, फिर भी "राकेश की आधुनिकता भारतीय आधुनिकता के समानान्तर है।"[11] अतः यहां पर मोहन राकेश की कहानियों में पारिवारिक विघटन का स्वरूप आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित रहेगा, क्योकि उनकी आधुनिकता केन्द्रीय पात्रों में है जो यथार्थ में रहकर भी एक अन्वेषी–दृष्टि बोध रखते हैं। आज का मनुष्य अपने आस–पास पैदा हुए सवालों से टकराता है, टूटता है और निर्वासित हो रहा है। वह अपने जीवन में वैज्ञानिक उपलब्धियों को जाने अनजाने स्वीकार कर रहा है और वैज्ञानिक विचारधारा ही आधुनिकता की धारणा बन गई है। अतः आधुनिकता ने वार्तालाप के दायरे को नितांत सीमित एवं संकुचित कर दिया है। इसी कारण व्यक्ति अकेलेपन से निकलने और परिवेश से जुड़ने के लिए व्याकुल हो रहा है। इन्सान अपनी इच्छाओं के सहारे जीना चाहता है पर हालात (परिस्थिति) उसे वैसे जीने नहीं देती।

सम्बन्धों का विघटन और जुड़े रहने की छटपटाहट के कारण पारिवारिक विघटन

आधुनिकीकरण तथा स्वतन्त्रता से भारतीय परिवेश और जनमानस में एक उत्क्रान्ति आई है। आदर्श और मर्यादाओं के मलवे पर यथार्थ और नये मानव मूल्यों को स्थापित किया गया है। जीवन की सपाटता और सिधाई में असंगतियां, विषमतायें और अनेक विडम्बनाओं ने अड्डा जमा लिया है। मनुष्य समाज से कटा है और अपने इस कटने–टूटने और बिखरने में वह नितांत अकेला छूटता गया है– "सहज मानवीय सम्बन्धों की गर्मी एक ठण्डी उदासीनता का रूप लेती जा रही है। आपाधापी की इस दुनिया में एकाकीपन और परायापन आज के जीवनकी अनिवार्यता सी बन गई है। जीवन की यह अनिवार्यता वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सर्वत्र व्याप्त है। क्योंकि वैयक्तिक सम्बन्धों को धकियाकर नितान्त निर्वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित होते जा रहे हैं। स्थिति यह है कि स्त्री–पुरूष, पति–पत्नी, माता–पिता, भाई–बहन, प्रेमी–प्रेमिका आदि के सम्बन्ध महत्वहीन हो गये हैं। मनुष्य का सचेतन, सहज और रचनात्मक कार्य विच्छिन्न होता जा रहा है और वह अपनी निजता खोता जा रहा है। धीरे–धीरे संवेदन शून्यता (स्वपैथी) निसंगता और जड़ता बढ गई है।"[12] गॉव के उजड़ने और नगरों के आबादहोने से व्यक्ति–व्यक्ति के सम्बन्ध बदले हैं। पहले का वह दाम्पत्य जीवन जो कभी विश्वास के पगों चलता और समर्पण के मैदान में खेलता था आज वही संदेह और अविश्वास की वैसाखियों के सहारे चल रहा है। जहाँ दिल के अतल में कभी प्यार जगमगाता था, वहीं , अब अहं के गुब्बारे में भरी हुई नफरत की हवा डोलती है। परिणाम यह कि मानवीय सम्बन्ध मात्र औपचारिकता, विवशता, अभिशप्त जीवन और ऊब व अकेलेपन के पर्याय बनकर रह गये है।

मोहन राकेश ने स्वयं ही कहा है– "व्यक्ति और समाज को परम्परा विरोधी एक दूसरे से भिन्न और आपस में कटी हुई इकाइयाँ न मानकर यहॉ उन्हें एक ऐसी अभिन्नता में देखने का प्रयत्न है जहॉ व्यक्ति समाज की विडम्बनाओं का और समाज व्यक्ति की यन्त्रणाओं का आइना है।"[13] यों तो राकेश ने व्यक्ति क्रान्ति के सम्बन्धों को विशदता से अपनी कहानियो में चित्रित किया है, किन्तु उनका ध्यान अधिकतर पति–पत्नी के सम्बन्धों तक ही केन्द्रित रहा है, आज स्त्री पुरूष के साथ रहना तो चाहती है लेकिन कौन सा–पारिवारिक , सामाजिक और सार्वजनिक स्तर पाकर, अभी तक निर्णय नहीं कर पाई है। पुरूष भी नारी की आवश्यकता तो अनुभव करता है, किन्तु कितनी और कैसी वह भी निश्चित नहीं कर पाया है। मोहन राकेश की अधिकांश कहानियां सम्बन्धों के विघटन और इससे जुड़े रहने की समकालीन छटपटाहट को व्यक्त करती हैं, जो इस प्रकार हैं– एक और जिंदगी, अपरिचित, आर्द्रा, ग्लास टैंक, फौलाद का आकाश, गुंझल, पहचान, सुहागिनें, क्वार्टर आदि।

एक और जिन्दगी

'एक और जिन्दगी' दो व्यक्तियों के अहं के परस्पर टकराव और टकराकर बिखर जाने की कहानी है। इसके पति और पत्नी, दोनों ही अपने–अपने अहं और अधिकारों की रक्षा के लिए सतत जागरूक रहते हैं, इसी कारण उनमें टकराव होता है और दोनों हमेशा के लिए अलग हो जाते हैं। इसमें टूटते सम्बन्ध और फालतू होती जिन्दगी का यथार्थ वर्णन है। व्यवस्था के साथ सन्तुलन न कर सकने की प्रकाश की कमजोरी ही हर छोर से उसे तोडती है और दूसरे गलत कोने से उसे बांधती है जितनी तेजी से वीना और प्रकाश का परस्पर विरोध तलाक में परिणत हो गया था, उतनी ही तेजी से उद्दाम रोग से ग्रस्त निर्मला से विवाह भी उसके लिए नरक बन गया। प्रकाश और बीना पति–पत्नी हैं उनका एक छोटा बेटा प्रकाश भी है। दोनों का प्रेम विवाह हुआ है। दोनों ही समान स्तर के हैं –सामाजिक और मानसिक, दोनों एक दूसरे को अच्छी तरह से समझने का प्रयत्न भी करते हैं और न ही समझ पाते हैं इसलिए छोटे–छोटे तनावों को लेकर टूटते रहते हैं और फिर टूटते ही चले जाते हैं उन्हें लगता है कि शायद शुरूआत ही गलत हो गई है, उनका पति–पत्नी बन जाना ही शायद गलत था। तभी बीना एक दिन प्रकाश से कह बैठती है– "मैंने तुमसे शादी करके एक अपराध किया हैं।"[14] दोनों अतृप्त और एक दूसरे से असन्तुष्ट रहने लगते हैं और तलाक ले लेते हैं। दूसरे निर्णय में प्रकाश एक और जिन्दगी की तलाश में एक हिस्टिरिक मित्र की बहन से शादी कर लेता है। परन्तु प्रकाश के लिए नये विवाह का यह सम्बन्ध और भी घातक और तोड़ने वाला सिद्ध होता है। निर्मला नाम की यह स्त्री हिस्टिरिक और हिपोक्रेटिक दोनों है। उसे हिस्टीरिया के दौरे तो पड़ते ही हैं,

साथ ही वह इस भ्रम में भी ग्रसित रहती है कि उसमें देवी का अंश है। कभी स्वयं को रोगी समझती है दौरा पड़ने पर प्रकाश से कहती है– "तुम मुझे छुओ मत... मुझमें देवी का अंश है।"[15] प्रकाश इस सबको सहन नहीं कर पाता और उससे छुटकारा पाने की कोशिश करने लगता है। वह दोनों की तुलना कर (बीना–निर्मला) पुनः छुटकारा पाने की कोशिश में टूट जाता है।

पति–पत्नी का यह अहंवादी दृष्टिकोण भारतीय संस्कारों को एक नई दिशा एवं दशा प्रदान करता है, क्योंकि प्रकाश और बीना का परस्पर प्रेम, विवाह और अन्त में तलाक हमारे विवाह–सम्बन्धी परम्परागत विचारों और परम्पराओं का उल्लंघन करते हैं और उल्लंघन करके भी दोनों सुखी और सन्तुष्ट नहीं रह पाते। इसका कारण यह है कि पुराने मूल्य तो टूटते जा रहे हैं, परन्तु उनके स्थान पर, नवीन स्वस्थ मूल्यों की स्थापना नहीं हो पा रही है। संक्रान्ति–कालीनयुग में प्रायः ऐसी ही विषमताएं जन्म लेती रहती हैं और धीरे–धीरे उनका निराकरण होता रहता है। डॉ0 नरेन्द्र मोहन के शब्दों में– "एक और जिन्दगी में व्यक्ति की संक्रान्ति मनः स्थिति का चित्रण है। उसे लगता है जैसे वह जी न रहा है। क्या यही वह जन्दगी थी जिसे पाने के लिए उसने वर्षों तक अपने से संघर्ष किया था? यह चित्रण यहाँ, दाम्पत्य–सम्बन्धों की जटिल स्थितियों के विवरणों के सहारे है। ये विवरण फालतू नहीं हैं, बल्कि मनः स्थिति को गहराते हैं।"[16]

मोहन राकेश ने व्यक्तिगत जीवन में इस पीड़ाको महसूस किया था। उन्होंने स्वीकार किया है कि "आस–पास खड़ी होती हुई ऊंची–ऊंची इमारतों के बीच हमारे अंदर कुछ लगातार टूट रहा है। चाहते हैं उसे टूटने से बचा सकें, मगर न जाने क्या मजबूरी है कि केवल गवाह की तरह खड़े उस ढहने की प्रक्रिया को चुपचाप देख रहे हैं। तटस्थ और उदासीन भाव से कभी कन्धे हिला देते हैं बस। विश्वास किये हैं कि उस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं किया जा सकता। कम से कम अपना प्रयत्न उसमें निरर्थक है। अगर कुछ होगा, तो बाहर होगा। वरना जो ढह रहा है, उसे ढहना तो है ही।"[17] मूल्यों के इस ध्वंश में व्यक्ति कर ही क्या सकता है उसे तो आने वाले समय का ही इन्तजार रहता है कि हो सकता है कि आगे कुछ अच्छा ही हो।

डॉ0 बच्चन सिंह 'एक और जिन्दगी' की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि "आज के ट्रेजिक तनाव को पूरी गहराई में आंकती है, जहाँ मनुष्य न तो छूटी हुई जिन्दगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई जिंदगी को अपना सकता है। दोनों ओर खींचा जाकर वह क्षत–विक्षत हो जाता है।"[18] लेकिन राकेश के लिए कहानी केवल स्थिति की पहचान मात्र नहीं, इसके आगे किन्हीं भविष्यत संकेतों की तलाश भी है, इसलिए कहानी के अन्त में प्रकाश का रात के अंधेरे में बारिस में भीगते हुए एक (भीगे हुए) कुत्ते के साथ–साथ चलना

एक ऐसा संकेत है जो इस सारे तनाव को ढीला करता है, जिससे यह कहानी आज के पारिवारिक विघटन की जटिलताओं में से गुजरते हुए व्यक्ति को बेहतर जिंदगी की खोज में आगे बढ़ते रहने का व्यक्तिनिष्ठ संकेत भी देती है, एक खामोश और अंतर्मुख संकेत।

अपरिचित

'अपरिचित' कहानी का कथा–नायक और महिला दोनों एक सीधी स्थिति में एकाकी जीवन जीने को विवश हैं। अपरिचित 'का मैं' अपनी पत्नी की महत्वांकाक्षाओं को पूरा न करने के कारण दोनों के परस्पर सम्बन्ध टूटते हैं। दोनों एक दूसरे की उपस्थिति में अजनबी बन जाते हैं और कहानी की पत्नी और दिशी भी एक दूसरे में न होने का बोध करते हैं। दोनों दम्पत्तियों के गलत चुनाव और रूचि वैभिन्य के कारण आई त्रासद स्थितियों का निश्चल अभिव्यंजन है। 'अपरिचित' में अपरिचय में परिचय की तलाश साफ झलकती है। सहयात्रिणी स्त्री अपने पूरे भोलेपन से दाम्पत्य सम्बन्धों के बीच आई कटुता, तिक्तता और रिक्तता का बोध कराती है। वह गलत निर्णय और रूचियों के अन्तराल के बोझ को ढो रही है। वह 'मिसफिट' है, किन्तु उसमें निर्ममता ज्यादा है तभी तो गहने बेचकर भी पति की कोई एक साथ अपने से पूरी होते देख सन्तोष करना चाहती है। यह एक ऐसी स्त्री है जो बहुत से परिचित लोगों के बीच अपने को अपरिचित, बेगाना और अनमेल अनुभव करती है, किन्तु यही स्त्री कथानायक से खुल कर बातें करती है। कारण दोनों के बीच एक सी रूचियों का आभास सा है। वह पहाड़ी लोगों के बीच बच्चों में अपनापन खोजती है तो कथानायक भी आदिम संस्कार वाले व्यक्तियों के बीच अच्छा महसूस करता है।

कहानी में कितनी भारी विडम्बना है कि जो नारी अपरिचित है वह स्वभावनुकूल होने पर परिचित लगने लगती है और परिचित है वह स्वभाव के विपरीत होने के कारण अपरिचित। परिणाम स्वरूप कहानी के दोनों ही पात्र एकाकी जीवन जीने को विवश हैं। विवाहित हो कर भी वे दोनों दाम्पत्य सुख न भोगकर वैवाहिक संस्था की मर्यादा को ही निभा रहें हैं। यात्रा साथ–साथ करते समय एवं समान रूचियों की पीठिका पाकर कुछ और खुलते हैं। यद्यपि यह खुलावट स्त्री की ओर से है। वह अपनी जैसी रूचि का सहयात्री पाकर भीतर कहीं दूषित है। अतः कथानायक से पानी मंगाती है। चलती गाड़ी पर जब कथानायक पानी का गिलास लेकर चढता हैं तो उसकी सॉस फूल जाती है। वह अपने आप को धिक्कारती है कि "क्यों भेजा पानी के लिए, कुछ हो जाता तो...... आप न चढ़ पाते तो...."[19] यहाँ जो सम्बन्ध विकसित हुए हैं वे अपरिचत में आकस्मिक रूप से उगे परिचय और कहीं भीतर ही द्रवित मनोभावों के संकेतक हैं। फिर स्त्री का कथानायक को बत्ती बुझाकर सुला देना और रजाई उडा देना

अपरिचय में परिचय की तलाश को अन्तिम रूप दे देते हैं। दाम्पत्य जीवन की कटुता और नीरसता को यहाँ नया परिचय भुला देता है, किन्तु पारिस्थितिक विचित्रता दोनों को अलग कर देती है यही सम्बन्धों की जड है, यथार्थ धरातल है जो जिस रूप में है का सही गवाह है। कथानायक भी दूषित है तभी तो उसके अचानक किसी स्टेशन पर उतर जाने से रिक्तता का अनुभव करता है। "इसी स्टेशन पर न उतरी हो यह सोच कर मैंने खिडकी का शीशा उठा दिया और बाहर देखा।.... विस्तर में नीचे को सरकते हुए मैंने देखा की कम्बल के अलावा रजाई भी लिये हूँ जिसे अच्छी तरह कम्बल के साथ मिला दिया गया है। गर्मी की कई एक सिहरनें एक साथ शरीर में भर गई।"[20]

असल में यह कहानी बेमेल रूचियों के कारण जीवन में आई रिक्तता, कटुता और बासीपन की अभिव्यक्ति है। रूचि वैभिन्य स्त्री-पुरूष को किस सीमा तक और किस तरह अलगाव के बिन्दुओं की ओर ले जाता है तथा उसमें नारी अपने को कितनी रिक्त, विवश और टूटा हुआ अनुभव करती है, पुरूष किस तरह किसी भी बहाने उससे अलग होकर नयी मूल्यवत्ता खोजता है व स्थिति की जटिलता किस तरह अपरिचय और अजनबीपन के बीच एक नये परिचय की अगरबत्ती जला कर बुझा देती है आदि सब कुछ इस कहानी का कथ्य है। एक ओर मानवीय सम्बन्धों की सूक्ष्मता पूरी जटिलता के साथ यहाँ है और दूसरी ओर मानवीय वृत्ति की सहज निश्चलता से प्रेरित अपरिचय में परिचय की तलाश। यह स्थिति उसे बदलते मूल्यों के साये में विकसित नये मानव सम्बन्धों की कहानी प्रमाणित करती है। इन्द्रनाथ मदान इसे विवेचित करते हुए लिखते है कि "राकेश की यह कहानी उन कहानियों में से है जिसके मूल में चेतना सामाजिक की अपेक्षा वैयक्तिक स्तर पर है। "[21]

आर्द्रा

'आर्द्रा' कहानी में जीवन की व्यर्थता एवं सम्बन्धों का तनाव चित्रित है। इस कहानी में भाई-भाई के बीच का स्नेह सम्बन्ध का टूट कर तनाव में परिवर्तित होना तथा उसके अन्तराल में छटपटाती माँ का चित्रण किया गया है। बड़ा भाई छोटे भाई से अलग सुख-सुविधा सम्पन्न जीवन व्यतीत करता है तो छोटा भाई अभावों से ग्रस्त जीवन यापन करता है उन दोनों के बीच माँ की तनावपूर्ण जिन्दगी चलती है। एक तरफ माँ छोटे बेटे की अभावग्रस्त जिन्दगी से छटपटाती है, उसके लिए "वह सोचती है और करवटें बदलती है।"[22] और दूसरी तरफ बड़े बेटे के पास जाकर अजनबी और मेहमान सा अनुभव करने लगती है। उसे "आज इस बात की उलझन हो रही थी कि उसका भजन में मन क्यों नही लगता। अब जब की भजन के लिए पूरी सुविधा, पूरा समय, उसके पास था, तो आसन पर बैठने से ही वह क्यों जी चुराती थी।"[23] बहू कुसुम उससे इतनी

शिष्टता और कोमलता से बात करती थी, "उससे वचन को लगता था की वह उस घर में मेहमान है।"[24] वचन जब भी कोई काम या अन्य लोगों की व्यवस्था में कुछ उपचार करती है तो उसका पुत्र लाली भी कहता है–"माँ, तू काम करेगी, तो घर में दो–दो नौकर किस लिए है।"[25] वह बहू बेटे और बच्चों के बीच अपने को एक फालतू सामान सा महसूस करती है। संवाद विहीन घर में रह कर वह एक दो दिन में ही ऊब जाती है। इस तरह पारिवारिक विघटन सम्बन्धों की निरर्थकता में और अपने ही घर में मेहमान होने की व्यथा में अभिव्यक्ति है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'आर्द्रा' कहानी महानगरी परिवेश से जुड़ी है। नगर परिवेश में व्यर्थ होते सम्बन्धों और तनाव की जिन्दगी का यथार्थ उदघाटन कहानी का लक्ष्य है। इस कहानी की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डॉ0 सुषमा अग्रवाल लिखती हैं कि " आर्द्रा में दो अलग–अलग रह रहे पुत्रों के बीच ममतालु माँ की पीड़ा प्रतिबिम्बित हुई है। माँ दोनों के बीच विभाजित होकर जीती है। यही उसकी पीड़ा और दारूण यंत्रणा का कारण है। "[26]

ग्लास टैंक

'ग्लास टैंक' एक ऐसे परिवार की कहानी है जिसका प्रत्येक सदस्य जीवन के प्रति अपनी मान्यताएं रखता है। वह दूसरे के साथ सहमत न होते हुए भी उसकी भावना की कद्र करता चलता है। इसमें बड़ी सूक्ष्मता के साथ एक पारिवारिक ट्रेजेडी की अभिव्यक्ति मिली है। निरन्तर कृत्रिम होती जा रही जिन्दगी और उसमें समाती जाती ऊब व उदासी को निरूपित किया गया है। 'मछली' व ग्लास टैंक प्रतीकार्थ रखते हैं। ये प्रतीकार्थ पूरी तरह हृदयग्राह प्रतीत नहीं होते हैं। मछली का प्रतीक तो फिर भी संवेद्य प्रतीत होता है, किन्तु 'ग्लास टैंक' का प्रतीक आरोपित होता है । उपेन्द्र नाथ अश्क के अनुसार "ग्लास टैंक का प्रतीक आरोपित लगता है। यदि 'ग्लास टैंक' के बारे में कही गयी सभी बातें कहानी से काट दी जायें यानी कहानी के पहले चार पृष्ठ और चौथे पृष्ठ की केवल अन्तिम चार पंक्तियों को छोड़कर काट दिये जायें और कहानी दूसरे परिच्छेद से शुरू की जाये तो प्रभाव में कुछ भी फर्क नहीं पडेगा।"[27] मछलियाँ आत्मकेन्द्रित और अपने में डूबी जिन्दगी की ऊब और नीरसता को व्यक्त करती हैं। कहानी की नीरू का सोचना भी इसी से सम्बद्ध है कि "बिल्लोरी पानी में तैरती सुनहरी मछलियाँ अच्छी लगती थीं, मगर हर बार देखकर मन में उदासी भर जाती थी। सोचती, कैसे रह पाती हैं ये? खुले पानी के लिए कभी इनका जी नहीं तरसता? कभी इन्हें महसूस नहीं होता कि ये सब एक–एक और अकेली हैं? एक–दूसरे से कुछ कहना चाहती हैं? या कभी शीशे से इसलिए टकराती हैं कि शीशा टूट जाये? शीशे के और आपस के बन्धन से ये मुक्त हो जायं।"[28]

नीरू और मम्मी के अतिरिक्त परिवार में डैडी और बीरे का ही अधिक महत्व है, किन्तु इस परिवार पर हावी उदासी की परतों का निरंतर घनीभूत होते जाना एक तीसरे व्यक्ति सुभाष के कारण है। नीरू और मम्मी दोनों उसकी ओर झुकी हुई हैं। मम्मी के झुकने में सहानुभूति और करूणा का गहरा दर्द भरा भाव है, तो नीरू के झुकने में दर्द भरे प्यार का। नीरू का मछलियों की 'इमोशनल लाइफ' के बारे में जिज्ञासु होना भी उसकी भावात्मक मनः स्थिति को ही रेखांकित करता है। 'ग्लास टैंक' परिवेश की सीमितता और उसकी हदों को व्यक्त करता है। 'ग्लास टैंक' में मछलियों का इधर से उधर घूमना और अपनी हदबंदी पर शीशे से उनकी टकराहट में उनकी मुक्ति का प्रयास झलकता है वैसे ही नीरू व मम्मी भी अपनी सीमाओं में रहकर भी उनसे ही टकराती रहती हैं। बाहर आना वे भी चाहती हैं, किन्तु वे अपनी विवशता और उदासी पर दुःखी तो हो सकती हैं, उसे काटकर मन मुताबिक जी नहीं सकती हैं। ममा की करूणापूर्ण प्रेमिल दृष्टि का आभाष इन पंक्तियों में है। "नाता रिश्ता नहीं है, फिर भी मैं सोचती थी कि ......।"[29] वे सुभाष की चिट्‌ठी के लिए व्यग्र रहती थीं– भीतर से छिली सी रहती थीं। उसके आगमन पर उनका बराबर देखते जाना नीरू की दृष्टि में ऐसा है। "मैं देख रही थी कि ममा एक टक उसे ताक रही है, जैसे आँखों से ही उसके माथे के जख्म को सहला देना चाहती हों।"[30]

ममा अतीत की जिन्दगी के डॉक्टर शम्भूनाथ से तो नहीं जुड़ पायी किन्तु उसके बेटे सुभाष से अवश्य जुड़ी हुई हैं। "ममा सुभाष की बातें सुनते–सुनते काम करना भूल जाती थीं।"[31] सुभाष को देखकर उसके पिता शम्भूनाथ की स्मृति एवं अनिर्णय के दर्द को चुपचाप सह लेती है। लेकिन पति के डर से प्रेम को जबान पर आने नहीं देती। दूसरी तरफ नीरू के मन में सुभाष के प्रति आकर्षण रहता है। सुभाष अपनी निरीहता और दीनता में भी नीरू के लिए महत्वपूर्ण है। बचपन में उसे 'ब्राउन कैट' ही कहता है, तो नीरू की प्रतिक्रिया है। "यह भी लगता है कि मैं आँखों से कह रही हूं कि जिसे तुम सहला रहे हो, वह 'ब्राउन कैट' नहीं है। 'ब्राउन कैट' मैं हूँ। मैं यहाँ से दूर अंधेरे में खड़ी हूँ। चाह रही हूँ कि कोई आकर मुझे देख ले और गोद में उठा ले।"[32] नीरू मानों अंधेरे में खड़ी होकर निश्चय नहीं कर पा रही है। उसका चुनाव अवसाद बनकर ह्रदय के अंदर घुमड़–घुमड़ कर रह जाता है। ममा भी सुभाष को देखकर अपने अतीत की पीड़ी से झुलस जाती हैं और उसी भावुकता में नीरू से कहती हैं – "नीरू, और जैसी भी होना...... अपनी ममा जैसी कभी न होना।"[33] यह सत्य है कि ममा सुखी है लेकिन मन का सुख नीरू के डैडी के साथ उसे कहॉ मिल सकता है? पर आज उसके लिए आत्मपीड़ा से प्राप्त होने वाला सुख ही शेष रह गया है। इस कहानी में नीरू और ममा के अनिर्णय के दर्द के साथ पारिवारिक सम्बन्धों में विघटन के बीज छिपे हुए हैं। 'ग्लास टैंक की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डॉ0 उर्मिला

मिश्र लिखती हैं कि "ग्लास टैंक चुनाव के निर्णय और अनिर्णय के दर्द की कहानी है। इसलिए यह सुभाष के निर्णय से उत्पन्न घुटन और अकेलेपन के साथ नीरू और उसकी ममा के अनिर्णय से उत्पन्न अवसाद और घुटनपूर्ण जिन्दगी की कहानी है।"[34]

फौलाद का आकाश

'फौलाद का आकाश' कहानी पति–पत्नी एवं तीसरे व्यक्ति के सम्बन्ध को लेकर लिखी गयी है। दात्पत्य सम्बन्धों में सांवेगिक एकाकीपन तथा मनोवैज्ञानिक कारणों के सन्दर्भ में जो विघटन होता है। वही 'फौलाद का आकाश' में मोहन राकेश ने दिखलाने की कोशिश की है। रवि अपनी पत्नी मीरा के साथ दिन में एक औपचारिक जिन्दगी जीता है क्योंकि मीरा की भावुकता उसे पसन्द नहीं किन्तु रात में मीरा से ही अपनी कामवासना तृप्त करता है। उनके परस्पर के व्यवहार में एक उदासीनता रहती है। सम्बन्धों के अजनबीपन में मीरा और रवि एक जीवन जी रहे है। रवि अब डिग्री कालेज में साधारण लेक्चरर न होकर –स्टील प्लांट में लेबर एडवाइजर है। मीरा को पूरा समय घर पर ही व्यतीत करना होता है। पूरी सुख सुविधाओं में रहते हुए भी ये लोग अपने से तथा परिवेश से कटे–कटे से रहते है और अन्दर ही अन्दर एक अनाम लडाई लडते रहते है। "दस साल साथ रहकर मीरा जान चुकी थी कि इस तरह बात उसकी मर्जी पर नहीं छोड़ी जाती, सिर्फ आदेश को तकुल्लुफ का जामा पहना दिया जाता है।"[35] मीरा जब कोई काम करती रहती है। और बीच में रवि को कोई वस्तु की आवश्यकता होती है तो वह प्रत्यक्ष रूप से मीरा से न कह कर नौकर शंकर के रूप में मीरा से ही कहता है कि देखो मीरा– "शंकर से कहोगी चाय दे जाए"[36] मीरा को अभी तक ऐसा प्रतीत होता है कि हम लोग एक दूसरे को सही तरह से समझ नहीं सके हैं।

रवि एक व्यस्त अधिकारी है सुबह से शाम तक वह अपने कार्यालय में व्यस्त रहता है लेकिन रात को उसको मीरा की आवश्यकता है। मीरा को अपनी बाहों के कसाव में भींचने का प्रयत्न करते हुए वह उससे पूछने लगता है। "मेरे साथ, अपनी जिन्दगी तुम्हें बहुत रूखी लगती है न?"[37] कुछ बोलने से पहले वह उसके होठों को अपने होठों से भींच देता और मंजिल दर मंजिल शारीरिक निकटता की हदें पार होती जाती हैं। आखिर जब पसीना होकर वह उससे अलग होता तो भी मीरा को यही लगता है "जैसे अब भी लिखते –लिखते हाथ थक जाने से उसने कागज परे हटा दिये हों "[38] मीरा को अंतरंग से अंतरंग क्षणों में भी अपने को रवि से अलग, बिल्कुल अलग पाती है। कभी उसे लगता है कि ऐसा उम्र के बढ़ते सालों की वजह से है पर इससे आगे के सालों की बात सोचकर मन में और टीस जागती, कभी उसे लगता कि "सारा दोष रवि का है। कभी

लगता है कि दोषी रवि नहीं, वह स्वयं है।"[39] मीरा मन ही मन रवि की बाते सोचकर उसके कई अर्थों में उलझी रहती है और यह उलझना उसे रात दिन के फैसले में इतनी दूर करता जाता है कि सम्बन्धों के विखराव की निर्णायक स्थिति में पहुँच जाती है।

'फौलाद का आकाश' मे पति रवि, पत्नी मीरा और उसके पूर्व–प्रेमी राजकृष्ण का त्रिकोण तथा इसके अंतर्गत नायिका मीरा की अपने पति के साथ रहते जीवन की एकरसता से ऊबकर अचानक राजकृष्ण का आकर तोड़ना जिस कलात्मक प्रभावशीलता के साथ मोहन राकेश ने अंकित किया है। वह चरित्रों के अंतस में उनकी गहरी पैठ और मनोविकारों की सूक्ष्म पकड़ का ही प्रमाण है। राज कृष्ण मीरा का सहपाठी था और यूनीवर्सिटी की डिबेटों एवं चाय की कैन्टीन तक इन लोगों के साथ रहा था, और दोस्ती में जो अन्तरंगता होनी चाहिए थी, वह सब यूनीवर्सिटी के समय में इन दोनों में विकसित हो गई थी, परन्तु आज की स्थिति भिन्न है। राजकृष्ण अब एक मन्त्री है। और एक मुलाकात में राजकृष्ण मीरा का सम्बन्ध देह के स्तर पर ही समान रूप से महसूस होता है इसलिए मीरा अपने पति और मित्र दोनों के लिए 'रिलैक्स' होने का माध्यम होकर रह जाती है। "बौद्धिक भावना शून्य पुरूष को पति के रूप में वरण कर भावुक नारी को लगता है। वह फौलाद के आकाश के नीचे रह रही है, जहॉ प्यार की गर्मी और वात्सल्य की आर्द्रता और सरसता की सम्भावना ही नहीं है (इसलिए वौद्धिक दृष्टि से अस्वीकार कर भी) प्रेमी की प्यार भरी बाहों की उष्णता का विरोध नहीं कर पाती।"[40]

कहानी में सम्बन्धों की व्यर्थता के अन्दर टूट रही मीरा की जिन्दगी निरर्थक दिखाई पड़ती है। रवि भी कहीं कभी किसी भी स्तर पर सम्बन्ध बनाने का बोध नहीं करता है। व्यस्त जिन्दगी ने सम्बन्धों का लोपकर, व्यक्ति को मात्र पुर्जा बना दिया है। मीरा भी पति और मित्र के लिए मात्र 'रिलैक्स' करने का पुर्जा बनकर रह गई है। कहानी में सम्बन्धों के विघटन तथा इससे जुड़े रहने की विवशता है।

गुंझल

गुंझल कहानी में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन और इससे जुडे रहने की छटपटाहट व्यक्त हुई है। लेखक कहानी के अन्दर सम्बन्धों को नहीं उद्‌घाटित करता, फिर भी कारण स्पष्ट है। चन्दन और कुन्तल पति–पत्नी होकर भी आपसी तनाव के कारण एक दूसरे से दूर हैं। कुन्तल और चन्दन अपनी वृत्तिक आवश्यकताओं हेतु एक दूसरे से दूर रहते है अलग रहने की पीड़ा बड़ी दुःखदायी होती है, दोनों लोगों में सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए कोई विशेष

उत्सुकता नहीं दिखाई देती है। सम्बन्धों में इतना फैसला बढता जाता है कि दोनों एक ही बस में एक सीट पर बैठकर यात्रा करते समय हृदय की दूरियों से काफी दूर हैं यहॉ तक कि अब उन्हें एक दूसरे के स्पर्श तक से भी घृणा हो गयी है– "ब्रेक लगी, तो एक बार पति–पत्नी के शरीर आपस में छू गये कुन्तल ने अपनी बाहे सिकोड ली और पहले से थोड़ा सिमटकर बैठ गई।"[41] सम्बन्धों की चटखन की इससे बढकर और त्रासदी क्या हो सकती है, सहज रूप से अंदाजा लगाया जा सकता है।

चंदन बात–चीत के माध्यम से मामला सुलझाना चाहता है और कुन्तल से कुछ जानना चाहता है और कुन्तल अब और कुछ कहना नहीं चाहती है। "तुम अपने मन में क्या चाहती हो, क्योंकि तुम्हारे मन की बात का मुझे अभी तक पता नहीं चल सका।"[42] कुन्तल स्पष्ट करते हुए कहती है कि "हम अपने लिए न तो कुछ चाहते है, और न ही इस विषय में हमें कोई बात करनी है।"[43] चन्दन सलाह के रूप में एक प्रस्ताव कुन्तल के सामने रखता है कि कुन्तल के पिता के सामने यदि सभी बातें रखी जायें तो शायद मामला कुछ निपट सके, परन्तु कुन्तल इस विषय पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करती हुई कहती है कि "हमें किसी के सामने कोई बात नहीं करनी है......। हम लोग बच्चे तो हैं नहीं जो किसी तीसरे आदमी के सामने बैठकर बात करेंगे....। और पिता जी के सामने तो हम कभी भी कोई बात नहीं करेंगें।"[44] दोनों लोगों की इस हठधर्मिता की वजह से एक द्वन्द्व सा चलता रहता है। विशेषकर कुन्तल की यह हठधर्मीता चन्दन की बेकारी की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करती है, इसके पीछे कुन्तल की विश्वविद्यालय के समय की महत्वाकांक्षाएं मुख्य बाधा बनती है क्योंकि उसकी महत्वाकांक्षाएं चन्दन को पचा नही पाती हैं चन्दन यह बात नहीं सोच पाता है। वह सोचता है कि "क्या एक लड़की का सोचने का ढ़ंग और उसके अन्दर का हठ ही उसके जीवन की हर चीज को तोड़ने के लिए कुछ भी नहीं कर सकता था।"[45]

अपनी मानसिक सोच में चन्दन विचारों के द्वन्द्व में उलझ सा गया है और विचारों के इसी गुंझल से निकलने की वह भरपूर कोशिश करता है उसे यह भली भांति मालूम है कि कुंतल अब उससे सम्बन्ध बनाना नहीं चाहती है फिर भी चन्दन सम्बन्धों की तलाश में कोशिश जारी रखता है अपनी यात्रा के पड़ाव में चंदन ने कुन्तल की हरकतों को झेलते हुए काफी कष्ट सहा, परन्तु जब कुन्तल उसके भूखे रहने के बावजूद खुद खाना खाकर आ जाती है तब उसका धैर्य जबाब दे देता है– "उसके मन की हलचल पहले से कहीं बढ गई थी और उसे महसूस हो रहा था जैसे वह उसी समय कुछ करना चाहता हो, उसकी उत्तेजना उसकी बाहों और पिंडलियों में सरसरा रही थी और मन हो रहा था कि और कुछ

नहीं तो वह बिस्तर को ही ठोकर लगाता कुछ दूर तक ले जाय।"[46] और यही वह क्षण था जब उसने सोच लिया था कि क्या और इस तरह से जीवन जीया जा सकता है। इसी समय चन्दन अपने को कुन्तल से अलग रहने का निर्णय कर लेता है।

मोहन राकेश इस बात को स्वीकार करते हुए लिखते है कि "यह अलगाव जहाँ एक लेखक के अपने स्वतंत्र और निजी व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, वहाँ वह उसके अन्दर उस अस्थिरता को भी जन्म देता है जो उसे अपने आस-पास के पूरे रचना परिवेश के प्रति तटस्थ और उदासीन नहीं रहने देती। इस तरह "अलग होने के साथ-साथ सहभागी (पार्टिसिपेंट) होना भी उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। "[47] चन्दन सब कुछ जानते हुए एक दूसरे से जुड़ना चाहता है जब कि कुन्तल नारी जन्य अहं के कारण अलगाव की स्थिति में जाने का निर्णय लेती है। डॉ0 उर्मिला मिश्र इस कहानी को सम्बन्धों के विघटन को इस रूप में मूल्यांकित करती हुई लिखती हैं कि "दोनों एक-एक दूसरे से न चाहकर भी कुछ चाहते हैं। दोनों एक दूसरे के साथ रहकर भी नहीं रहना चाहते और दोनों एक दूसरे से मुक्त होना चाहकर भी नहीं मुक्त हो पाते हैं। दोनों के बीच एक अबूझ पहेली है जिसको सुलझा नहीं पाने के कारण दोनों टूट-टूट कर बिखर रहे हैं। दोनों की खामोशी एक दूसरे की जिन्दगी को बोझिल और असह्य बनाये हुए है। घिसटती-छटपटाती जिन्दगी कुन्तल तथा चन्दन को अपने से काट कर रख देती है चन्दन बेकारी और अभावों की मिली-जुली अनुभूति के कारण घुट रहा है। "[48] लेखक दोनों की तनावपूर्ण एवं अवसाद ग्रस्त जिन्दगी के सम्बन्ध में कुछ भी अभिव्यक्त करने में संकोच करता है फिर भी कहानी में दोनों के सम्बन्ध अन्तःसंघर्ष से मुखर है। 'गुंझल' के अंदर 'निर्णय' का प्रश्न अनवरत पति-पत्नी के अन्दर चलता है जिसका उत्तर चाहकर भी पात्र नहीं दे पाते।

पहचान

व्यक्ति समूह यह भीड़ में अपना परिचय खोता जा रहा है यहाँ तक कि व्यक्ति परविार के बीच 'पहचान' की तलाश में खोया हुआ है। 'पहचान' कहानी में शिवजीत अपनी पहचान की तलाश में खाली, अजनबी और परिचित लोगों के बीच भी मेहमान सा अनुभव करता हैं सम्बन्धों के एक-एक रेशे टूटे हुए हैं। पर सम्बन्धों की तलाश और नई जिन्दगी की शुरूआत में बच्चा अकेला और फालतू हो जाता है। मिसेज महेन्द्र सचदेव स्वतन्त्र और मनचाही जिन्दगी जीने के लिए मिसेज सचदेव से मिसेज अवरोल बन जाती है। वह पूर्व पति (महेन्द्र सचदेव) की हर वस्तु से नफरत करती है। उसकी धारणा पति-पत्नी के रिश्ते के विपरीत है। वह अपने ढंग से जीने के लिए मन चाहे साथी का चुनाव करती है पर दोनों सम्बन्धों के बीच मिसेज सचंदेव का बच्चा शिवजीत अपने बारे में मम्मी से सुनता

है कि – "मैं उस आदमी को इसे किसी भी हालत में नहीं ले जाने दूँगी। कानून–आनून मैं कुछ भी नहीं जानती। ग्यारह साल मैने इसे पाला है.......।"[49]

माता–पिता का अप्रतिबद्धतापूर्ण जीवन शिवजीत के अह को आहत करता है। पिता महेन्द्र सचदेव से मॉ के सम्बन्ध टूट जाने पर अब उसकी 'रोलकाल' में (मॉ के अबरोल अंकल के साथ रहने लगने के कारण) शिवजीत सचदेव की जगह शिवजीत अबरोल बोला जाता है। ऐसी स्थिति में उसे उसकी ग्रन्थि कुंठित कर देती है और "उस वक्त उसे कुछ ऐसे लगा था जैसे भरी क्लास में उसकी नेकर उतार कर उसे नंगा कर दिया गया हो।"[50] ऐसी स्थिति में शिवजीत को अपना पितृत्व अनिर्णीत लगता है। पापा उसे ले जाना चाहते हैं उसे यह भी पता नहीं है कि स्कूल में उसका 'सरनेम' बदल दिया गया है। वह सोचता है कि वह असल में क्या है सचदेव या अबरोल? या इनमें से दोनों नहीं? कौन पापा है महेन्द्र सचदेव या डॉ0 हरदेव अबरोल । शिवाजी का यह अन्तर्द्वन्द्व उसे मन ही मन तोड़ता रहता है क्योंकि क्लास में जब दबे स्वर में उसे सुनने को मिलता है कि लोग आपस में उसी के बारे में ही काना फूँसी कर रहे हैं तो अंदर ही अंदर विद्रोह पर उतारू होकर स्कूल से भाग आता है और अपने नये घर (अवरोज अंकल) के सदस्यों के साथ एक मेहमान की तरह अजनबीपन महसूस करता है मां कहती है– "तू उनके बच्चों के साथ घुलता मिलता क्यों नहीं? वे तुझे इतना प्यार करते हैं......। सुखदेव अबरोल उससे तीन साल बड़ा है.... जब भी उसे अकेला पाता है। उसे घूरकर देखता है। बाकी तीनों .... नीना, मीना और बसन्त उससे अलग–थलग बड़े भाई से खुंसर–पुसर बातें करते हैं। साथ खेलने के लिए बुलाते हैं जैसे किसी मेहमान को साथ खाना खाने के लिए कह रहे हों। वह चाहे भी तो उनके साथ नहीं घुल–मिल सकता और वह चाहता भी नहीं।"[51] ग्यारह वर्ष का शिवजीत अपने माता–पिता की मनोवैज्ञानिक समस्याओं के बीच कितना अलग एवम् कुंठित हो गया है कि वह अभी से अपने माता–पिता के मूल परिवार से विघटित हो गया है, और उसे नये परिवेश में तालमेल बैठाने की जद्दोजहद करनी पड़ रही है। साथ ही वह भवष्यि के बारे में सोचकर भी परेशानी महसूस करता रहता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, 'पहचान' कहानी में मोहन राकेश ने बालक शिवजीत के माध्यम से पति–पत्नी के आपसी तनाव और अलगाव के उपरान्त पत्नी द्वारा किये गये दूसरे विवाह के परिणाम स्वरूप शिवजीत के नाम से आये परिवर्तन के बहाने सन्तान की अपनी वास्तविक पहचान का प्रश्न उठाया है।"[52] शिवजीत अबरोल को समाज की वास्तविकता स्वीकार कर उसके अनुसार चलना पड़ेगा क्योंकि भौतिकता की दौड़ में व्यक्ति बहुत आगे बढना चाह रहा है

और वह सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है जो उसके दिमागी जेहन में भरा हुआ है। उसका अवचेतन मन समाज की परवाह नहीं करता तथा वह केवल व्यक्तिगत स्वार्थ में इतना तल्लीन हो जाता है कि अपने परिवार के अस्तित्व को भूल सा जाता है औरऐसे शिवजीतों को केवल सोचने और जीने के लिए छोड़ जाता है इस वास्तविकता और विभाजन की त्रासदी में वह केवल सहानुभूति ही जता सकता है कर कुछ नहीं सकता? डॉ0 उर्मिला मिश्र के शब्दो में– "शिवजीत के मन में जो पहचान और परिचय अपनी माँ और अबरोल अंकन की थी अब एक साथ और एक घर में रहकर भी वह अपरिचय के धुन्ध में अपने अंदर शून्य अनुभव करता है क्लास में उसे सूनसान और अकेला लगने लगता है, घर में माँ अवरोल लगने लगती है और वह अवरोल अंकल तथा उनके बच्चों के बीच स्वयं को मेहमान सा अनुभव करता है। इस तरह आधुनिकता टूटते सम्बन्धों के तनाव में अभिव्यक्त होती है।"[53]

सुहागिनें

'सुहागिनें' कहानी सम्बन्धों के विघटन और जुड़े रहने की छटपटाहट की समस्या को लेकर लिखी गयी है। कहानी के अन्दर सभी सम्बन्ध छिन्न–भिन्न हो गये हैं पर कहीं न कहीं से अवचेतन रूप से सम्बन्धों का बोध बना रहता है। कहानी में सम्बन्धों की तलाश जारी नहीं है। मनोरमा सुशील (पति) से कुछ कहना चाहती है और वह अपने खालीपन का बोध उसे कराना चाहती है लेकिन वह चाह कर भी कुछ कह नहीं पाती। अतः कहानी में अनिर्णय की स्थिति में आधुनिक बोध होता है।

'सुहागिनें' की दोनों नायिकाएँ मनोरमा और काशी आत्मनिर्भर है। मनोरमा सचदेव गर्ल्ज हाई स्कूल की हेड मिस्ट्रेस होते हुए भी भीतर से बहुत अकेली है वह अपने पति सुशील से अलग रहकर नौकरी करती है पति बाहर नौकरी पर है और शायद उसे पत्नी की इतनी जरूरत नहीं जितनी उसके पैसे की। यही हालत उसकी नौकरानी काशी की है "सुशील नहीं चाहता था कि वह नौकरी छोड़कर घर–गृहस्थी के लायक ही हो रहे। साल–छः महीने में सुशील को अपनी बहन उम्मी का ब्याह करना था। उसके दो भाई कालेज में पढ रहे थे। उन दिनों उनके लिए एक–एक पैसे की अपनी कीमत थी। कम से कम चार–पॉच साल एहतियात से चलना चाहता था। "[54] विवाहिता नारी यदि नौकरी करती है तो ससुराल वाले और पति समझते हैं कि उसे नौकरी की इजाजत देकर बहुत बड़ा अहसान किया है अतः उसकी आय पर पहला अधिकार उनका है।

मनोरमा इस पारिवारिक दायित्व को निभाने के लिए सुशील से अलग रहने के लिए निर्णय कर लेती है। मनोरमा को प्रारम्भ में इस निर्णय से काफी

कष्ट हुआ, परन्तु शीघ्र ही उसे एकसास हो गया कि हमारा और सुशील का रिश्ता केवल पैसों पर टिका है वह सोचती है भला ऐसा कौन सा पति होगा जो अपनी पत्नी को इतने–इतने दिनों तक अकेला छोड देगा। मनोरमा सुशील को पत्र भी नहीं लिखती है– "क्योंकि कई दिनों से वह सोच रही थी कि सुशील को दूसरी चिट्ठी लिखे, मगर स्वाभिमान उसे रोकता था । क्या सुशील को इतनी फुर्सत भी नहीं थी कि उसे कुछ पंक्तियाँ ही लिख दे।"[55] मनोरमा को सुशील से कितना कुछ कहना है और कितना कुछ स्वयं से शिकायत है परन्तुं मन ही मन के अन्तर्द्वन्द्व तथा स्वाभिमान को दबाये वह जी रही है।

पति द्वारा शोषित मनोरमा अपने से अधिक सौभाग्यशाली उस काशी को समझती है जो पति की मार खाकर भी परदेश से आने वाले पति के लिए श्रृंगार करती है और दुबारा गर्भवती बनती है। मातृत्व सुख से वंचित हो मनोरमा काशी के बच्चों को स्नेह देती है और पति को आर्थिक सहायता देते हुए अपना रस सुखाती है। मनोरमा के यहाँ नौकरानी काशी अपने तीन बच्चों सहित रूखी सूखी खाकर जी रही है परन्तु काशी की लड़की कुन्ती को देखकर मनोरमा के मन में एक ललक सी उत्पन्न होती है। इस ललक को सुशील पूरा नहीं होने देता है – "वह नहीं चाहता था कि अभी कुछ साल वे एक बच्चे को घर में आने दें, उससे एक तो उसका फिगर खराब होने का डर था, फिर उसकी नौकरी का भी सवाल था। सुशील नहीं चाहता था कि वह नौकरी छोड़कर बस घर–गृहस्थी के लायक ही हो रहे।"[56]

दूसरे स्तर पर पारिवारिक सन्दर्भों की त्रासदी मनोरमा की पन्द्रह रूपये मासिक आमदनी पर रखी गयी काशी नौकरानी झेलती है फिर भी वह पतिनिष्ठ है। उसका पति अजुध्या शहर में एक दूसरी औरत के साथ रहता है और दो–तीन साल के बाद एक बार काशी के पास आकर उसको मारपीट कर सारा धन छीनकर प्रसवावस्था में छोड़ कर चला जाता है। काशी कितनी विपन्नावस्था में अपना व बच्चों का पालन करती है, इसका उसके पति को अहसास तक नहीं। इस प्रकार मनोरमा और काशी दोनों को विवाह का कोई सुख नहीं। वे तो केवल सुहागिन होने की विडम्बना ढो रही हैं– "हमारी असमान व्यवस्था अपने सोच एवं व्यवहार में किस हद तक क्रूर, अमानवीय और स्त्री विरोधी हो सकती है। जैसी स्थितियां हैं उनमें आर्थिक दृष्टि से स्त्री के आत्मनिर्भर होने से भी कोई बड़ा फर्क पड़ने वाला नहीं है, पुरूष वर्चस्व वाले इस सामाजिक ढांचे में बुनियादी परिवर्तन के बिना स्त्री सब कहीं एक सी बेबस और लाचार है।"[57]

मनोरमा और काशी देखने में तो समाज के लिए सुहागिनें हैं परन्तु उनका मन अकेलापन, खालीपन और घुटन की संवेदना से सम्बन्धों को

अजनबीपन की ओर ले जाता है ''क्योंकि वैयक्तिक स्तर पर काशी और मनोरमा जिस सामाजिक दायित्व को निभा रही हैं उसमें लेखक का समष्टि बोध झलकता है। नारी स्वातन्त्र्य केवल एक नारा मात्र है, वस्तुतः पुरूष द्वारा शासित समाज में नारी अभी तक विवश जीवन जीने को मजबूर है।''[58] नारी की यह स्थिति उसे इतनी विवश कर देती है कि ''सभी तरह से कोशिश करने पर वह अपने को दूसरों के बीच मिसफिट पाती है मनोरमा भी घर और बाहर के बीच दिन रात सन्तुलन स्थापित करने के लिए दिन रात रात खटती रहती है फिर भी किसी से जुड़ नहीं पाती।''[59]

लोकाचार की दृष्टि से सम्बन्धों का यह निर्वाह तो चलता ही रहता है और नारी का संस्कारी मन एक वाध्यता के रूप में जुड़ा भी रहना चाहता है परन्तु इस जुड़े रहने की विवशता ही उसे खोखला एवम जड़हीन बना देता है। निष्कर्ष रूप में ओम प्रभाकर की टिप्पड़ी इस प्रकार है– ''सुहागिनें , जिसमें मनोरमा और काशी दो विवाहित स्त्रियों के माध्यम से पत्नी रूप नारी की विवशता (लेकिन साथ ही त्याग और ममत्व भी) तथा सुशील और अजुध्या नामक दो पुरूषों के द्वारा पति–रूप पुरुष की निर्ममता और स्वार्थपरता को उभारकर दाम्पत्य जीवन के उसी भयावह रूप को ही अंकित किया गया है। संस्कार ग्रस्त नारी का पत्नी–रूप में कष्ट झेलना और पुरूष का पति–रूप में जाने–अनजाने आततायी हो उठना ही जैसे दाम्पत्य जीवन की वास्तविकता है।''[60]

क्वार्टर

'क्वार्टर' कहानी निम्न मध्यवर्गीय परिवार के आपसी कलह तथा दाम्पतय सम्बन्धों में आयी कटुता को रेखांकित करती है जो महानगरीय जीवन बोध की वर्तमान में एक त्रासदी भी है। शंकर राजवंशी और उसकी पत्नी राधा दिल्ली में कनाट पैलेस से कुल आधा मील की दूरी पर पॉच कमरे का फ्लैट लेकर रहते हैं। बेतन एवं क्वार्टर से वे दोनों सन्तुष्ट से दिखतें हैं परतु इसमे शंकर के पिता, दो बहनें, दो भतीजे, बड़े भईया नाथ तथा अन्त में मुकुन्द के आ जाने से 'क्वार्टर' काफी व्यस्त सा हो गया है इसलिए तो पत्नी राधा कहती है कि ''जितने जितने लोग आकर पड़े रहते हैं, उससे मुसाफिर खाने से कुछ कम भी नहीं लगता मुझे।''[61] शंकर को पहले इसी फ्लैट को लेकर कितना गर्व था, परन्तु संबन्धियों की इस भीड़ में वह उसे काटने को दौडता है क्योंकि पत्नी राधा के साथ–साथ उसे बच्ची की देखभाल जो करनी है।

पारिवारिक सम्बन्धियों का यह जमावड़ा अर्थ के स्तर के साथ साथ सभी सदस्यों के विचारों में सन्तुलन भी नहीं स्थापित कर पाता है क्योकि शंकर के बूढ़े पिता को ऐसा प्रतीत होता है कि शंकर उनकी देखभाल उचित ढंग से

नहीं करता है और पैसों को अनावश्यक पानी की तरह बहा रहा है। वहीं शंकर को अपने पिता का अनावश्यक हस्तक्षेप पसन्द नहीं हैं शंकर के दोस्तों के ऊपर होने वाला खर्च देखकर पिता जी कुढते रहते हैं– "कहीं इस तरह भी घर चला करते हैं? कमाना बाद में और खर्च पहले कर देना। मैं कहता हूँ सारे अरमान एक ही बार पूरे कर लोगे तो बाकी उम्र काटने को बचेगा क्या?"[62] पिताजी पुरानी पीढी की सोच रखते हुए भी वर्तमान की स्थिति को शंकर से इसलिए जिक्र करते रहते है, क्योंकि यह अनावश्यक खर्च एक दिन उन्हें परेशानी में डाल सकता है, परन्तु "क्वार्टर के पापा का अस्तित्व अपने बेटे शंकर राजवंशी की दृष्टि में नगण्य है। पिता को पुत्र की आदतें पसन्द नहीं और पुत्र को पिता की इसलिए दोनों पीढ़ियॉ तनाव झेलती हैं......। पापा विरोध चाहे कितना ही करें, पुत्र के साथ रहना उनकी मजबूरी है वह अपने को फलतू अनुभव करते हुए पहाड़ जैसे दिन बिता रहे हैं।"[63]

पत्नी राधा को शंकर से शिकायत रहती है कि उसने इस भीड़ में डालकर उसके साथ ज्यादती की है। शंकर की बहनों की झिडकी तो एक हद तक वह सुन सकती थी, परन्तु राधा को यह कतई गवारा नहीं है कि उसकी बगल वाली पड़ोसन मिसेज शर्मा घर आये और उसके पति को काफी पिलाकर चली जाये। राधा को शंकर की महिला मित्रों मिसेज शर्मा और लल्ला से चिढ है इसलिए वह शंकर के प्रति शक करने लगती है। यही शक की स्थिति उसे अपने पैतृक घर जाने को विवश कर देती है। परन्तु शंकर के गलतफहमी दूर करने में उल्टे राधा गुस्से में शंकर से कहती है– "नाम लेने की भी जरूरत है क्या? मेरे सामने बैठे हुए तुम्हारी आँखें ब्लाउज के अंदर घुसी रहती है।"[64] और ऑखों की गलत फहमियां दोनों के जीवन में एक ऐसी दरार पैदा कर देती हैं जो प्रयास करने पर भी नहीं पट पाती है। छोटा भाई मुकुन्द जो शादी के बाद अपनी ससुराल में रह रहा था वह भी लड़कर भाग आया है और उसने तय कर लिया है कि एक दो दिन में वह पत्नी को भी यहीं ले आयेगा।

क्वार्टर में परिवार के लोग केवल कुछ दिनों के लिए, अस्थाई रूप से साथ रहने को एकत्रित हुए हैं, पर वे उस थोड़े समय के लिए भी सहज नहीं हो पाते। पिता–पुत्र, भाई–बहन, भाई–भाई और यहाँ तक कि पति–पत्नी के सम्बन्ध तक क्वार्टर में इस सीमा तक विघटित हो चुके हैं कि वे एक दूसरे पर केवल अपना दृष्टि कोण लादना चाहते हैं तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की चेष्टा ही नहीं करते हैं। बाप–बेटे, बहू, भाई–भाई सभी सम्बन्धों की निरर्थकता में एक दूसरे से कटे, अजनबी और फालतू हो चुके हैं किसी को किसी के लिए किसी भी तरह की छटपटाहट नहीं है। बाप वृद्धावस्था और बेकारी से टूट रहा है। जिसके कारण वह अपने बहू–बेटे के साथ रहकर भी मेहमान हो गया

है। भाई–भाई साथ रहकर भी एक दूसरे के लिए कोई स्नेह नहीं रखते। पति–पत्नी अलग हैं। राधा बेबी को लेकर अलग ही टूट रही है। सभी एक दूसरे के लिए अजनबी और बेगाने से लगते हैं। दूसरी तरफ शंकर सभी प्रकार के सम्बन्धों से घिरकर भी अकेला और खाली महसूस करता है– "ढेर सारी जगह बाह्य सुविधापूर्ण क्वार्टर भी मन के मेल के अभाव में यातनादायी बन जाता है।"[65]

'क्वार्टर' कहानी में परिवार के परिपूर्ण बिम्ब के खण्डित हो जाने की प्रक्रिया उपस्थित है। वास्तव में आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में आज परिवार का ढांचा टूट रहा है। कहानी में सम्बन्धों की व्यर्थता और अकेलेपन की यन्त्रणा स्पष्ट तौर पर दिखती है। डॉ0 उर्मिला मिश्र के शब्दों में – "क्वार्टर कहानी में टूट रहे परिवार का यथार्थ चित्रण हुआ है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए और एक दूसरे से अलग और कटे हुए हैं। वे एक दूसरे को दोष देते हैं, खीजते हैं और क्रोधित होते हैं। एक क्वार्टर में सभी रहकर भी न रहने की तरह हैं, एक दूसरे से न जुड़कर भी जुड़े रहने का असफल प्रयास करते है।"[66]

आर्थिक विवशता और जिन्दगी के दुहरेपन के कारण पारिवारिक विघटन

आधुनिकीकरण के द्वारा विकास को गति मिली। विकास एवं प्रगति की दौड़ में अभी 'और आगे' की भावना नहीं, साथ ही मनुष्य के लिए आधुनिकता ने परिवार रूपी संस्था में एक ऐसे 'ब्लैक होल' का निर्माण किया है, जिसमें स्वयं वह घुट रहा है। वैज्ञानिक आस्था ने आधुनिक समाज के सम्मुख दो दृश्य खड़े कर दिये है। एक दृश्य है, पक्की सड़कें, वस्तियां, ऊंचे–ऊंचे मकान, बाजार, मनोरंजन के साधन, बिजली के उपकरण, शिक्षा केन्द्र, राजनीतिक गतिविधियों के केन्द्र, तेज चलने वाले वाहन, अन्य शहर या देशों से सम्पर्क साधन, सुख–सुविधाओं की दुनियां, आदि यह आधुनिक नगरों की देन है। तो दूसरा दृश्य है, गन्दी बस्तियाँ, मुंहतोड महगांई, बेकारी, संयुक्त परिवार में दरार, भुखमरी, बीमारी, असमान वितरण, गरीबी का नर्क, मानसिक तनाव,न सुलझने वाली समस्याएं, असुरक्षा, अपराध–बोध, अकेलापन, आत्मघाती स्थितियॉ और आत्म परायापन भी दिया है।

वर्तमान समय की बेकारी और धन–वितरण की अव्यवस्था व्यक्ति को व्यर्थ, निःसहाय और अजनबी बना चुकी है, जिससे पारिवारिक, सामाजिक और व्यक्तिगत सम्बन्ध छिन्न भिन्न हो रहे हैं। आधुनिक मनुष्य पैसे की अनिवार्यता से बंध गया है। उसके जीवन से सारे सम्बन्ध निर्मूल हो गये हैं।

अर्थ पर आधृत समाज की संरचना बन गयी है। किसी भी समाज का परिदृश्य मुख्यतः आर्थिक कारणों से ही संचालित होता है। अर्थ एवं अर्थ–व्यवस्था आज वह धुरी बन गयी है, जिसके द्वारा समाज के व्यवहार, सम्बन्ध, रिश्ते आदि सभी निर्धारित होते हैं। मनुष्य की दृष्टि अर्थोन्मुख और अर्थकेन्द्रित होने का परिणाम ही है कि संयुक्त परिवारो में दरार पडकर अलग–अलग छोटे–छोटे परिवार बन गये हैं। माता–पिता, भाई–बहन, चाचा–भतीजे, पति–पत्नी आदि के सम्बन्ध ढ़ोये जा रहे हैं। इन सब में अर्थ का विषधर कुंडली मारकर बैठ गया है। फलतः वर्तमान समय बेकारी और अर्थ–वितरण की अव्यवस्था आदमी को व्यर्थ, असहाय और अजनबी बना चुकी है। राकेश जी की कहानियों में आर्थिक तनाव और अर्थाश्रित विवशताओं का चित्रण मिलता है। अर्थ के संकट के कारण जिन्दगी का दोहरापन उनकी कहानियों में प्रखरता से मिलता है– 'खाली', 'भूखे,' 'हकहलाल,' 'जानवर और जानवर', 'पांचवे माले का फ्लैट', मंदी, वारिस, 'उसकी रोटी', इत्यादि।

खाली

'खाली' कहानी पति–पत्नी के ऊब भरे जीवन की कहानी है। प्रत्येक पात्र अपने दैनिक कार्यक्रम से बहुत बोझिल और रोचकता विहीन गति विधि से उदास दिखाई देता है। इसमें अकेलेपन की गहन अनुभूति है। यह अकेलापन कुछ विशिष्ट स्थितियों की उपज है जो व्यक्ति के बाहर और भीतर दोनों जगह विद्यमान है। ये स्थितियाँ उसकी अपनी चुनी हुई हैं। और इसलिए चुनाव के क्षणों में यह मनः स्थितियाँ, अनिश्चय और अनिर्णय की हैं। विद्रूप और व्यंग्य की है। असंगति और विसंगति की है। इस ऊब और एकाकीपन ने इस कहानी के पात्रों को इतना नीरस बना दिया है कि सब आस–पास का वातावरण तथा सगे सम्बन्धी उनके जीवन के स्रोतों को सुखा से देते हैं।

तोषी और जुगल मध्यनिम्न वर्गीय दम्पत्ति हैं। जुगल एक दफ्तर में साधारण कर्मचारी है, तोषी पढ़ी लिखी है किन्तु घर के कार्यों को देखते हुए दिन भर उसे खालीपन तथा रिक्तता का अनुभव होता है। इससे सम्बन्धों में बिखराव पैदा होने लगता है। तोषी और जुगल नामक दम्पत्ति के माध्यम से पति–पत्नी के असंगत जीवन–सम्बन्धों को उकेरा गया है। तोषी को जीवन की एक रस निरंतरता और अकेलेपन से इतनी ऊब हो गयी है कि उसका मनस्तत्व असंतुलित हो उठा है। वह इस सूने घर में एक विचित्र मनः स्थिति का एहसास करती है। ''दहलीज की तरफ जाते हुए उसे लग रहा था कि गर्मी उसे परेशान कर रही है। उधर से लौटते हुए लगने लगा की गर्मी नहीं, एक गन्ध है, जो उसे ठीक से साँस नही लेने दे रही। वह गन्ध हर चीज से आ रही थी। पलंग से खूंटी पर टंगें कपड़ों से फर्श से अपने आप से।''[67] सम्बन्धों तथा अकेलापन की इस पूर्ति के

लिए तोषी पति जुगल से कुछ बात करना चाहती है तो ऐसे समय में वह अपने को और खालीपन तथा खोखली महसूस करती है यदि कोई वस्तु की फरमाइश या शिकायत उसे जुगल से रहती है तो जुगल की आंखों की बेबसी तथा असहाय चेहरा उसे बडा भयानक सा लगने लगता है– "तोषी को फिर वही चिढ़ हो रही थी। वह समझ नहीं पा रही थी– किस चीज से। अपने से ? कमरे के कोने–कोने में लदे सामान से? खिडकी से कमरे में फैल आयी धूप से।"[68]

तोषी को देखने से ऐसा लगता है कि सीमित परिवार के कारण उत्पन्न अकेलेपन ने तोषी को न केवल घर गृहस्थी अपितु बाहरी परिवेश (धूप) और यहाँ तक कि स्वयं से भी विरक्ति बना लिया है। वह इस सारी ऊब और तनाव भरे जीवन के लिए अपने पति जागरूक को जिम्मेदार मानती है तथा उसे छोड़कर चली जाना चाहती है क्योंकि उसे ऐसा प्रतीत होता है कि जुगल के साथ वह बाहर की दुनिया से उत्तरोत्तर कट सी गयी है जिम्मेदार जुगल ही है, क्योंकि "जुगल को उसके मायके के लोगों से चिढ़ थी, अपने घर के लोगों से चिढ़ थी, पास पड़ोस के लोगों से चिढ थी, हर आने–जाने वाले से चिढ थी, कभी–कभी तो लगता था कि उस आदमी को सिवाय अपने, हर एक से चिढ है, बल्कि अपने आप से भी चिढ़ है। वह सुबह दफ्तर जाता था तो दफ्तर के लोगों पर बड़बड़ाता हुआ शाम को घर आता था, तो घर के लोगों पर बड़बड़ाता हुआ। जिन्दगी की हर चीज उसकी नजर से किसी वजह से गलत थी और वह अकेला हर गलत चीज को ठीक करने के लिए क्या कर सकता था?"[69] अस्तित्वादी दर्शन का एक मार्मिक पहलू होता है कि व्यक्ति अपने सिवाय किसी को कुछ समझता ही नहीं है उसे सारी दुनिया कटी एवं खाली सी महसूस होती नजर आती है उसे सब सगे सम्बन्धी बेगाने से लगते हैं इसलिए तो तोषी से जुगल कहता है कि "कोई किसी का कुछ नहीं लगता....। ऐसा ही वहम होता है कुछ दिनों का, इन दो–तीन लोगों के साथ भी वहम ही बना हुआ है जब खत्म हो जाएगा, तब किसी को याद भी नहीं आएगी किसी की.....।"[70] यह खालीपन तथा अलगाव वातावरण से उपजने के साथ ही साथ लेखक की व्यक्तिगत स्थिति को भी व्यक्त करता है। "यह अलगाव जहां एक लेखक के अपने स्वतन्त्र और निजी व्यक्तित्व को प्रभावित करता है, वहॉ वह उसके अन्दर उस अस्थिरता को भी जन्म देता है जो अपने आस–पास के पूरे रचना परिवेश के प्रति तटस्थ नहीं रहने देती। इस तरह 'अलग' होने के साथ–साथ सहभागी (पार्टिसिपेंट) होना भी उसके लिए अनिवार्य हो जाता है"[71] यह अलगाव या खालीपन जुगल तोषी को पूरे विद्रोह तथा असन्तोष के बावजूद साथ रहने के लिए मजबूर करता है क्योंकि वर्तमान जीवन की सबसे बडी विसंगति भी यही है।

निष्कर्षतः इस कहानी में भी "पति–पत्नी साथ रहकर कुछ भी नहीं पाते, बल्कि एक दूसरे से भी खाली होते जाने की जिन्दगी की ओर बढ़ते रहते हैं। पति–पत्नी के सम्बन्धों के ठंडेपन के पीछे कोई सामाजिक दबाव नहीं, अपितु निजी स्वभावगत कारण है, अतः यह कहानी व्यष्टि–बोध की है।"[72]

भूखे

'भूखे' कहानी में आर्थिक विवशता एवम दाम्पत्य जीवन की पारम्परिक संस्कृति का परम्परागत रूप मानवीय सम्बन्धों के आधार पर उकेरा गया है। यह कहानी उस सुन्दर और आकर्षक युवती एवलीन की कथा है जिसे परिस्थितियों के क्रूर थपेडों ने निरन्तर प्रहार करके जर्जरित कर दिया है। सड़क चलते नवयुवक, होटल का मैनेजर, ढाबेवाला सभी उसकी विवशता से लाभ उठाना चाहते हैं। वह आर्थिक अभाव में भी अपना स्वाभिमान बनाए रखती है या अपने और अपने बच्चे के लिए किसी की दया नहीं चाहती।

एवलीन ने अंग्रेज होते हुए भी सत्यपाल नामक पंजाबी युवक से प्रेम विवाह किया है। सत्यपाल अच्छा चित्रकार होते हुए भी धन कमाने में सफल नहीं हो सका। चिंता एवम संघर्ष के कारण उसे टी0 वी0 हो जाती है एवलीन अपना सब कुछ बेचकर उसे स्वास्थ्य लाभ हेतु शिमला ले आई है और तन–मन से उसकी देखभाल करती है परन्तु बचा नहीं पाती है। वह पति द्वारा बनाये गये चित्र बेचना चाहती है, पर उनका खरीददार नहीं मिलता। पति की मृत्यु, आर्थिक संकट और बच्चे का दायित्व उसे बिल्कुल ही तोड़ कर रख देते हैं– "एवलिन आर्थिक संकट के तनाव में जीती है अर्थ के अभाव में एवलिन अपने नवजात शिशु को अण्डे न देकर टिकिया खाने के लिए मजबूर करती है। माली हालत ठीक न रहने के कारण एवलिन को नैतिक और सामाजिक संकट भी झेलना पड़ता है।"[74] जहाँ कहीं भी जाती है लोग उसके यौवन और सौन्दर्य पर छींटा कशी करते हैं। उसके यौवन का सौदा करना चाहते हैं– लोग तस्वीरों को न खरीद कर कुछ दूसरी बात ही करते है। तभी तो होटल मैनेजर कहता है– "बात करने के लिए तो पचास आदमी जाते हैं, मगर उनका बात करने का मकसद तस्वीरें खरीदना थोड़े ही होता है? वे तो इसलिए जाते हैं कि दस मिनट का लुत्फ ले लें....। तुम भी हो आओ।"[75] एवलीन जिस जगह भी जाती है सभी लोग उसे भूखे आदमी की तरह घूर–घूर कर देखते रहते हैं– "लोगों की आंखें, नासिकाएं और होंठ मुसकरा रहे थे। जो बातें कही नहीं जा सकती थीं उनका चटखारा लोग इशारों में ले रहे थे"[76] परन्तु एवलिन कभी परिस्थिति से समझौता नहीं करती। उसकी आशा और विश्वास उसे हर संघर्ष का सामना करने की शक्ति देते हैं।

'भूखे' कहानी में मोहन राकेश ने प्रतीकात्मक रूप से सम्बन्धों के क्षरण होने की प्रक्रिया को चित्रों के माध्यम से उभारा है। एवलीन द्वारा बेचे जाने वाले चित्रों का शीर्षक 'गिद्ध' एवम 'दाता' से यह तश्वीर उभर कर सामने आती है– "एक चित्र का शीर्षक था 'गिद्ध'। उसमें गिद्धों की आंखें कुछ ऐसी थीं जैसे वह दुनिया की हर चीज का मजाक उडा रही हों और चोंचें कुछ इस तरह खुलीं थी जैसे हर चीज को निगल जाना चाहती हों। चोंचों और पन्जों पर पुराने जमें हुए लहू के निशान थे। वह एक ऐसा चित्र था जिसे देख कर लेने को मन होता था और ऑखें हटा देने पर फिर देखने की कामना होती थी।"[77]। इसी तरह दूसरा चित्र भी वर्तमान हकीकत को प्रदर्शित करता था। चित्र का शीर्षक था 'दाता'। "उसमें एक हड्डियों का ढाँचा एक ठूठ के नीचे बैठा हाथ का खाली कटोरा शून्य की ओर उठाए था। वे ऐसे चित्र थे जो डरावनी छायाओं की तरह दिमाग में घर कर जाते थे।"[78] कहानी में भूखे प्रतीक ऐसा सजीव चित्र खींचता है जो मानवीय सम्बन्धों को दोनों स्तर पर जीते एवं मरते चैन से नहीं रहने देता।

'भूखे' कहानी में पारिवारिक विघटन की दास्तान एवलिन की निर्वासित और तनाव पूर्ण जिन्दगी में जाकर उभरता है। और एवलिन की व्यर्थता में जाकर स्पष्ट होता है। भूखे का मूल्याकंन करते हुए डॉ0 ओमप्रभाकर लिखते हैं– "भूखे मोहन राकेश की एक कहानी है जिसमें एवलीन बार्कर नामक विदेशी महिला के माध्यम से एक ऐसी निष्ठावान पत्नी का चरित्र अंकित किया गया है जो अपने पति के बीमार और बेकार हो जाने पर उसके (और अपने भी) पुत्र के पोषण तथा पति की तीमार दारी के लिए अथक संघर्ष कर अपने प्रेमी और पति (एवलीन ने प्रेम विवाह किया था) के प्रति अपने भक्ति के स्तर तक पहुँचे हुए प्रेम और कर्तव्य दोनों का एक साथ निर्वाह करती है। मोहन राकेश द्वारा उकेरा गया दाम्पत्य जीवन का एक चित्र यह भी है जो न केवल हमारी पारंपरिक संस्कृति से ही अनुमोदित है अपितु स्वयं में भी पर्याप्त आकर्षक वास्तविक अतः स्पृहणीय है।"[73]

हकहलाल

'हकहलाल' आर्थिक विवशता और जीवन के दुहरेपन के कारण जीने वाले दम्पत्तियों के पारिवारिक दस्तान को यह कहानी रेखांकित करती है। 'हकहलाल' में पहाड़ी बस्तिओं के उस परम्परा बद्ध प्रेम का निरूपण है जिसके अन्तर्गत नारी अन्य उपभोग वस्तुओं की भांति क्रय विक्रय की वस्तु मानी जाती है। भारत एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र है यहां पर सभी धर्मो के अपने–अपने रीति–रिवाज हैं जो व्यक्ति जिस समाज से सम्बन्ध रखता है उसे उसी के अनुसार अपनी रीतियों एवं परम्पराओं का निवर्हन करना आवश्यक होता है यदि वह समाज की परम्पराओं या कर्मकाण्डों का उल्लंघन करता है तो उसे सर्वप्रथम परिवार दण्ड देता है यदि

परिवार इसे नियंत्रित नहीं कर पाता है तो सामाजिक संस्थायें या सरकार उसे दण्डित करती हैं। पहाड़ी रीति रिवाजों के अनुसार शादी के वक्त वधू की कीमत वर को चुकानी रहती है। बुड़ढा अपनी जवान और खूबसूरत लडकियों को बृद्ध अखबार वाले पण्डित के हाथ बेंचता है। वह आर्थिक विवशता के कारण अपनी लड़कियों की नहीं शादी कर सकता पर उन्हें बेचकर अर्थ का उपार्जन करता है।

अनमेल विवाह और उम्र का अन्तर अखबार वाले पण्डित को अपनी जवान बीबी से सामंजस्य स्थापित नहीं करने देता है और एक दिन उसकी बीबी घर से भाग जाती है। अपनी व्यथा को कथावाचक से पण्डित कहता है कि "आज इस औरत ने पुलिस वालों के जूते भी सुंधा दिये। यह काम भी तकदीर में लिखा था।"[79] अपनी इस विवशता एवं संवेग को लेकर वह कथावाचक से यह भी कहता है कि कोई बात नहीं, मैं इसके स्थान पर उसकी दूसरी बहन को ले आऊँगा। और दावे के मुताविक वृद्ध पण्डित बुडढ़े की दूसरी जवान लडकी को ले आता है क्योंकि ढ़ाई सौ का खर्च वह बुडढ़ा पंडित को दे नहीं सकता था, फलतः उसने लड़की देना ही उचित समझा। कुछ दिन बाद उसकी दूसरी पत्नी पुलिस के हाथ लग जाती है और पुनः बृद्ध पंड़ित को सौंप दी जाती है ऐसी स्थिति में दूसरी स्त्री को भी पंड़ित बृद्ध को नही सौंपता, क्योंकि पंड़ित कथानायक से यह कहता है कि "मैंने आपसे कहा था, इसका बाप बहुत गरीब आदमी है। उसके पास इसे खिलाने के लिए एक पैसा भी नहीं है। उसको इसका सौ–सवा सौ चाहिए सो मैं उसे दे दूँगा। इतने दिनों से घर में रही है, सो अब छोड़ने का मन नहीं करता आदमी को आदमी से मोह हो जाता है और क्या पता कल को बड़ी भाग जाय। ऐसी का कोई भरोसा थोड़े है।"[80] आज मानवीय मूल्यों का पतन एवं नारी जीवन की विवशता तथा सम्बन्धों का विखरना इतना तीब्र है कि उसे व्यक्ति रोक नहीं पा रहा है और निरन्तर विघटित होता जा रहा है। मोहन राकेश इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते है कि इसमें "लेखक का वास्तविक कमिटमेन्ट किसी विशेष विचार धारा से न हो कर अपने से, अपने समय से और समय के जीवन से होता है।"[81]

निष्कर्ष रूप में यह कहानी वर्तमान के यथार्थ, पारिवारिक मूल्यों के पतन होने की दम भरती है क्योंकि "कहानी में आर्थिक विपन्नता के कारण एक तरफ बुड्ढ़ा कराह रहा है और दूसरी तरफ उसकी बेटी वृद्ध पंडित के साथ रहकर ऊब और घुटन से निर्वासित सी हो गयी है। वे दोनों बहिनें वृद्ध पंडित से जुड़कर भी नहीं जुड़ पा रहीं। इसमें आधुनिकता बुड्ढ़े की घुटन और दोनों लड़कियों की मजबूरी में आकर स्पष्ट होती है। कहानी में पात्र व्यर्थता के बोध से कराहते है, छटपटाते हैं पर मूक हैं।"[82]

जानवर और जानवर

आर्थिक विषमता ने किस सीमा तक निम्न मध्य वर्ग को तोड दिया है, झिंझोड दिया है और टूटकर मनुष्य किस तरह जीवन की विडम्बनाओं व यातना मूलक असंगतियों को विवश भाव से सहता हुआ भी जीने की ललक लिये हुए है यही सब 'जानवर और जानवर' कहानी में अभिव्यक्त हुआ है। 'जानवर और जानवर' में व्यक्ति के जीवन की विडम्बनाएं और तत्सम्बधिंत घुटन को गहन सूक्ष्मता के साथ उरेहा गया है। इस कहानी में मानवीय सम्बन्धों के विघटन का समकालीन परिपेक्ष में यथार्थ का कड़वा और तीखा स्वर है। कहानी के सभी पात्र अपनी विवशता के कारण पादरी से जुड़े हुए हैं। उनमें आर्थिक अभावों से उत्पन्न पीड़ा गहरे मानवीय सम्बन्धों का बोध कराती है। जिस वर्ग के ये पात्र हैं, उस वर्ग की समस्त यातना गाथा और विडम्बनाएं पीटर, पाल, आन्ट सैली और अनीता के माध्यम से व्यक्त हुई है। अपनी विडम्बनाओं को सहते हुए भी इन पात्रों में अभी भी कहीं न कहीं जीवन का स्पन्दन है जिसका स्वर पाल की वाणी में सुना जा सकता है। जिस समय पाल के गिरजाघर न जाने पर पादरी उससे प्रश्न करता हुआ यह कहता है "तुम जानते हो जो अच्छा भला हो कर भी सुबह गिरजे में नहीं आता उसे यहाँ रहने का कोई अधिकार नहीं है।"[83] मानवीय सम्बन्धों के प्रति पादरी की प्रतिक्रिया वाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्तर पर तोड़ कर रख देती है। यह राकेश की अनुभूति की प्रवणता ही कही जायेगी।

राकेश यथार्थचेता कलाकार थे, क्योंकि उन्होंने यह सब अनुभूति के स्तर पर झेला था। 'जानवर और जानवर' कहानी के माध्यम से पहाड़ी स्कूल की विशिष्ट परिस्थिति में जीते, भोगते और झेलते मास्टर और मेट्रनों की जीवन–व्यापी विवशता पराश्रित भावना अरिक्षित स्थितियों की ओर संकेत किया है। फादर 'फिशर' का चरित्र काली स्याही से लिखा गया है अनीता और मणि नानावटी को वासनापूर्ति का माध्यम बनाया गया है, अधिकारों की शक्ति का प्रयोग करते हुए पादरी जिस तरह अनाचार, अनीति और भ्रष्ट तरीकों को अपनाता है इससे मानवीय सम्बन्धों के पतित एवं विघटन की यथार्थ तस्वीर स्पष्ट रूप से गवाही देती है। "तुम तीन दिन से गिरजे में नहीं आये, उत्तेजना में पादरी का हाथ पीठ के पीछे चला गया। वह बहुत कठिनाई से अपने स्वर को वश में कर पाया था।"[84] पाल के प्रति यह पादरी का हिटलर जैसा वर्ताव एवं स्कूल से निकाल दिया जाना, अन्य शिक्षकों के लिएं दहशत का रूप धारण कर लेता है तभी तो जॉन कहता है कि "मुझे लगता है कि इसके बाद अब मेरी बारी आएगी। मुझे पता है कि उसकी आंखों में कौन–कौन खटकता है। सैली का कसूर यह था कि वह रोज उसकी हाजिरी नहीं देती थी और न ही वह ...."[85] पादरी के पास अधिकारों की यह असीमित शक्ति दूसरों के लिए व्यवस्था विरोधी हो जाती है।

'जानवर और जानवर' में कुत्तों के माध्यम से इंसान और इंसान के अंतर को गहराया गया है। मिशन स्कूल की विशेष परिस्थिति में जीते, भोगते, झेलते टीचर्ज और मेट्रनों की जीवन की व्यपक विवशता, पराधीनता और असुरक्षा की ओर किये गये संकेत लेखक के समष्टिबोध को प्रकट करते हैं। पादरी की कुतिया और पाल का कुत्ता छोटे और बडे के अंतर को स्पष्ट करता है– "हर जानवर एक सा नहीं होता। जानवर और जानवर में फर्क होता है।"[86] जानवरों में यह अन्तर स्वीकृत है। बड़ी मछली, छोटी मछली को खा सकती है। इसी नियम के अनुसार फादर फिशर ने मिराशी, पाल, पीटर और आंट सैली को जब चाहा नौकरी से बरखास्त कर दिया। मिशन के इस स्कूल का परिवेश इतना घुटन भरा है कि स्थिति कभी भी विस्फोटक हो सकती है, किन्तु फिर भी सभी चुप हैं। केन्द्रीय पात्र अनिता मुखर्जी के माध्यम से तनाव रचा गया है जिससे मिशन स्कूल की सम्पूर्ण खोखली सतही, नकली जिन्दगी बेनकाब हो उठती है। ऊपर से भलामानुस दिखने वाला फादर फिशर अंदर से काली शक्तियों को प्रश्रय देने वाला एक शोषक हैवान है, मनुष्य के वेश में जीवित जानवर है, जिससे लड़ना शेष है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान इस पर टिप्पड़ी करते हुए यह व्याख्या करते हैं कि "इस कहानी की रचना प्रक्रिया व्यंग्य के स्तर पर है। व्यंग्य के छींटें इस रचना में जान डाल देतें हैं और जानवर का प्रतीक इसके अंशों को बिखरने नहीं देता है। अन्त में गिरजे की घंटियों का डिंगडांग मिशन के अहाते की सतही नकली और खोखली जिन्दगी को मुखरित करता है।"[87] कहानी में अमानवीयता व्यंग्य के स्तर पर अन्याय सहते हुए पात्रों के भीतर कसमसाहट को व्यक्त करती हैं तभी तो दूधनाथ सिंह इस पर अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार व्यक्त करते हैं– "राकेश झॅझोड़ देने वाले तिलमिला देने वाले व्यंग्य से काम लेते हैं ।"[88]

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जानवर और जानवर कहानी में खोखली जिन्दगी के प्रति उभरता हुआ आक्रोश लेखक के समष्टिबोध पर पारिवारिक रिश्तों (स्कूल) पर प्रकाश डालता ही है, सामाजिक न्याय के अभाव को भी रेखांकित करता है। 'जानवर और जानवर' एक विशेष परिस्थिति में जीते, उसे भोगने और झेलते मास्टर और मैट्रनों के जीवन की व्यापक विवशता और अरक्षा की कहानी है। लेकिन यह विवशता, पराधीनता और अरक्षा आज उन सभी के लिए है जो नौकरशाही के शिकार हैं।

पॉचवें माले का फ्लैट

'पॉचवें माले का फ्लैट' में आर्थिक संकट को झेल रहे आधुनिक व्यक्ति को दिखाया है जो अर्थ के अभाव में अपनी प्रेमिका के साथ दोहरी जिन्दगी जीता है एवं अपने साथ दूसरी जिन्दगी जीता है। "यहॉ अभावपूर्ण अविनाश की जिन्दगी है। वह समाज में स्थान ग्रहण करने के लिए लोगों से

अपेक्षित न होने के लिए अपनी जेब में एक–दो चारमीनार सिगरेट रखता है और उसके लिए पैंट का क्रीज ठीक रखना अनिवार्य है। वह पैसे के अभाव में सरला और प्रमिला से भी नहीं बंध पाता और यहाँ तक कि वह स्वयं से भी नहीं जुड पाता। अर्थ के अभाव ने उसे 'पाँचवें माले के फ्लैट' से अवश्य जोड दिया है। कहानी का नायक अविनाश पैसे के अभाव में अपनी प्रेयसी प्रमिला से सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता है और उसे झूठ भी बोलना पड़ता है क्योंकि प्रमिला एक आधुनिक लडकी है और वह अविनाश से कुछ न कुछ फरमाइश करती रहती है – "वह पिक्चर देखना चाहती थी हैमलेट। एक दिन पहले मैं उनसे यही कहकर आयाथा। खुद ही उसने हैमलेट की तारीफ की थी। पचासेक रूपये एक दोस्त से उधार ले लिए थे। मगर चालीस से ज्यादा उनके यहां ताश में हार गया था– उनके भाई के पास जो कि इस समय सत्ती से सतीश हो गया था। शर्मा के यहाँ वे लोग ठहरे थे। उसी ने उनसे परिचय कराया था। वह उस वक्त पर नहीं था। शाम की ड्यूटी पर गया था। वह होता तो और दस–बीस उधार ले लेता। जब उन दोनों को साथ लेकर निकला, जेब में कल छः रूपये बाकी थे।"[89] अविनाश की यह विवशता हैकि वह झूठी शान शौकत दिखाकर प्रेमिका एवं उसकी बड़ी बहन सरला के साथ जुडा रहना चाहता है परन्तु इस जुड़ने में आर्थिक समस्या उसे जुड़ने नहीं देती है। आधुनिक पारिवारिक विघटन में महानगरों की एक अहम भूमिका रहती है। व्यक्ति अर्थ की तलाश में ठोकरें खाता फिरता रहता है और समय से उचित काम न मिलने से अभाव ग्रस्त जीवन जीने पर मजबूर होता है अविनाश की स्थिति यही है कि वह पैसों के अभाव में एक ऐसे गर्हित स्थान में पॉचवीं मंजिल में रहता है जहॉ हर कोई रहना पसन्द नहीं करता विशेष कर प्रमिला और सरला तो कतई इसे पसन्द नहीं करती हैं– "सोचा, घर ही चलना चाहिए, पर कदम ही नहीं उठे, अंधेरे जीने का ख्याल आया। एक के बाद एक – पाँच माले। पहले माले पर सारी बिल्डिंग की सडांध। दूसरे पर खोपड़े की बास। तीसरे पर कुठ और अनारदाने की बू। चौथे पर आयुर्वेदिक औषधियों की गंध। पांचवें माले की बू का ठीक पता नहीं चलता था। प्रमिला ने तब कहा था कि सबसे तेज बू वही हैसरला इससे सहमत नहीं थी। उसका कहना था कि सबसे तेज गन्ध आयुर्वेदिक औषधियों की है।"[90] कहीं न कहीं कुछ तो कमी थी ही इस फ्लैट में नहीं इतनी व्यंग्य भरी बातें उसके सम्बन्धी नहीं कहते। अविनाश की इस जगह रहने के पीछे उसकी अपनी विवशतायें थीं तो दूसरी ओर इस स्थान पर आना या न आना प्रमिला और सरला के लिए कोई महत्वपूर्ण बात नहीं थी, फिर भी अविनाश के प्रति लगाव के कारण प्रमिला यहाँ दो बार आयी थी शायद उसने सोचा हो कि अविनाश हो सकता है कि अब इस स्थान को बदल चुका हो इसलिए उसने इतने दिनों की मुलाकात में वही प्रश्न किया कि वहीं पॉचवें माले में अभी रह रहे हो शायद इसके पीछे प्रमिला के दिमागी जेहन में वही गन्ध रही

हो जो सबसे ज्यादा सबसे तीखी थी। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार– "कहानी में महानगरी बोध किस तरह इंसान को परिवेश से काटकर अकेले छोड़ देता है इसका वर्णन किया गया है।"[91]

इस प्रकार सम्बन्धों के विघटन की यह त्रासदी अर्थ की समस्या को लेकर प्रमुख रूप से उत्पन्न हुई है। उर्मिला मिश्र के शब्दों में कहें तो यह "बिखरी हुई जिन्दगी अभाव ग्रस्तता के कारण है। यहाँ परिवेश से कटकर जीने में आधुनिकता स्पष्ट होती गई है। इस तरह की आधुनिकता नगरबोध से जुड़कर भी उभरती है।"[92]

मंदी

'मंदी' आर्थिक विषमता से ग्रस्त पहाड़ी जीवन के लोगों की अभाव ग्रस्त जीवन की दास्ता बया करती है क्योंकि यहॉ का जीवन मैदानी लोगों की कृपा से ही चलता है। पहाड़ी जीवन की अपनी कुछ विषमतायें एवं विडम्बनायें होती हैं जो विशेष वर्ग की कृपा से जुड़ी हुई होती हैं। इस कहानी के सभी पात्र नत्था सिंह, बसन्ते, हलवाई रेस्तरां का पाजामा कमीज वाला व्यक्ति, पहाडी कोयले वाली नवयुवती तथा उसका छोटा बेरोजगार भाई तथा बुड्ढा सभी लोग आर्थिक संकट झेल रहे हैं।, ये लोग अपने लिए नहीं दूसरों के लिए अवश्य जी रहे हैं ये सब स्वयं से न जुड़कर घूमने आये "मैं' से अवश्य जुड जाते हैं क्यों ये अपने लिए नहीं पर 'मै' के लिए मुर्गा बनाने की नियति में जी रहे हैं "खास आपके लिए मुर्गा बनाया था, नत्थासिंह ने कहा, हमने सोचा था कि भाई साहब देख लें, हम कैसा खाना बनाते हैं। खयाल था दो एक प्लेटें और लग जायेंगी। पर न आप आए और न किसी और ने ही मुर्गे की प्लेट ली। हम अब तीनों खुद खाने बैठे हैं। मैंने मुर्गा इतने चाव से , इतने प्रेम से बनाया था कि क्या कहूँ। क्या पता था कि खुद ही खाना पड़ेगा। जिन्दगी में ऐसे भी दिन देखने थे। वे भी दिन थे कि जब अपने लिए मुर्गे का शोरबा तक नहीं बचता और एक दिन यह है भरी हुई पतीली सामने रखकर बैठे हैं गांठ से साढ़े तीन लग गए जो अब पेट में जाकर खनकते भी नहीं।"[93] यह विवशता अकेले नत्था सिंह की ही नहीं है इस दंश रूपी मंदी से यहाँ सभी पहाड़ी ग्रसित हैं क्योंकि कोयले वाली लडकी अपने छोटे भाई को 'मैं' के पास रखना चाहती है– "आपको खाना बनाने के लिए नौकर चाहिए? मेरा छोटा भाई है सब काम जानता है।पानी भी भरेगा। बरतन भी मलेगा। आठ रूपये महीने में सभी काम कर देगा। पहले एक डॉक्टर के घर में काम करता था। डॉक्टर अब यहाँ से चला गया है...। मैं कल इसी वक्त उसे लेकर आउंगी लड़की ने फिर भी चलते–चलते मुड़कर कह दिया।"[94]

आर्थिक विषमता से मानवीयता का लोप होता है बुड्ढा जो कभी एक कोठी एवम बाग का मालिक था, आज को एक प्याली की तलाश में बर्बाद कर देना चाहता है– "उसी समय वह आदमी, जो कुछ घंटे पहले मुझे चेयरिंग क्रास पर मिला था, मेरे पास आकर खडा हो गया। अंधेरे में उसने मुझे नहीं पहचाना और छडी पर भार देकर नत्था सिंह से पूछा, नत्था सिंह एक ग्राहक भेजा था, आया था? कौन ग्राहक? नत्था सिंह चिढ़े– मुरझाए हुए स्वर में बोला। घुंघराले बालों वाला नौजवान था: मोटे शीशे का चश्मा लगाए.... ? उसने मुझे लक्ष्य करके कहा और फिर नत्था सिंह की तरफ देखकर बोला, तो ला नत्था सिंह चाय की प्याली पिला"[95] बुड्ढे की यह त्रासदी और उसकी यह स्थिति असंगति और फालतू होते जाने के बोध को अभिव्यक्ति देती है। पारिवारिक एवं मानवीय सम्बन्धों का विघटन जारी है, साथ ही "भूख बेबसी, बीमारी बढती जा रही है और मनुष्य केवल पैसा कमाने वाली एक कलमात्र बनकर रह गया है और उधर 'मंदी' ने अच्छे खाते–पीते व्यक्तियों को कमीना बना दिया है।"[96]

उसकी रोटी

'उसकी रोटी' कहानी सम्बन्धों के विघटन और जुड़े रहने की छटपटाहट को व्यक्त करती है। इसमें पति–पत्नी किसी भी स्तर पर एक दूसरे से बंधे हैं। सुच्चा सिंह के आने की प्रतीक्षा में उसकी पत्नी टूट रही है। बालो और उसका पति ड्राइवर सुच्चासिंह के टूटते–जुड़ते सम्बन्धों की कहानी है एक गॉव में बालो अपनी छोटी बहिन जिंदा के साथ रहती है और सप्ताह में छह दिन उसे सुच्चा के लिए एक मील पैदल चलकर खाना देने जाना होता है। घर के कार्यों में थोड़ा लेट हो जाने पर उसे सुच्चासिंह की झिड़क भी सुननी पड़ती है सुच्चा कहता है कि "वह सरकारी नौकर है, उसके बाप का नौकर नहीं कि उसके इन्तजार में बस खड़ी रखा करे वह चुपचाप उसकी डांट सुन लेती और रोटी दे देती"[97]

बालो पुराने संस्कारों से बंधी एक भारतीय पतिब्रता स्त्री है उसकी विवशता है कि वह पति सुच्चा से खुलकर बात नहीं कर सकती है । पति सप्ताह में चाहे एक दिन आये या न आये वह उससे कुछ पूछ नहीं सकती है क्योंकि उसे चिन्ता है कि ऐसा करने से उसका पति उसे पैसे देना छोड देगा और पति प्रेम से वह वंचित भी हो सकती है। बालो को पति से बहुत सी शिकायतें एवं आकांक्षायें हैं, जो उसे अंदर ही अंदर तोड़ती रहती हैं। उसे यह भी मालूम पड़ा है कि शहर में सुच्चा ने एक रखैल छोड़ रखी है। और अपने वेतन का तीन चौथाई भाग वह उस पर खर्च भी करता है। इसी तरह बालो ने एक दिन सुच्चा से कहा था कि उसे शहर में घूमने जाना है। तब सुच्चा ने कहा कि "क्यों तेरे पर निकल रहे हैं? घर में चैन नहीं पड़ता? सुच्चा सिंह वह मरद नहीं है कि औरत की बांह पकडकर

उसे सड़कों पर घुमाता फिरे। घूमने का ऐसा ही शौक है तो दूसरा खसम कर ले मेरी तरफ से तुझे खुली छुट्टी है।"[98] डॉ ओम प्रभाकर इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं कि यहाँ "नायिका बालो का अपने बस ड्राइवर पति के प्रति एक सामान्य भारतीय ग्रामीण नारी का एक निष्ठ प्रेम है।"[99] सुच्चा सिंह से बालो अपनी व्यर्थता एवं कष्ट को बताना नहीं चाहती। इसके पीछे उसके पुरातन संस्कार हावी हो जाते हैं यही कारण है कि जिंदा बहन को गांव का एक सिरफिरा जंगी छेड़ देता है फिर भी बालो पति की भलाई के लिए इसकी चर्चा नहीं करती है क्योंकि इसमें उसके पति का हित जुड़ा हुआ हैं ओम प्रभाकर की टिप्पड़ी है कि यहाँ बालो जैसी नारी का पत्नी रूप में कष्ट झेलना और पुरूष का पति–रूप में जाने–अनजाने आततायी हो उठना ही जैसे दाम्पत्य जीवन की वास्तविकता है।"[100]

नारी की यह विवशता ही उसको महान बनाती है क्योंकि बालो यह भलीभांति जानती है कि उसका पति दूसरी स्त्री रखे हुए है और उसे सप्ताह में जब कब ही मिलने का अवसर देता है परन्तु फिर भी वह समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाती है क्योंकि इसी में उसकी अभीष्ट सिद्ध है भविष्य की सुखद कल्पना में बालो सुच्चा के प्रति पूर्ण आस्थावान भी नजर आती है। यह वर्तमान जीवन की नियति को रेखांकित करती है।

डॉ0 उर्मिला मिश्र इस कहानी के मूल्यांकन में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहती हैं कि "अपने 'लोकल टच' के कारण प्रेमचंद की परम्परा की कहानी बन जाती है। सम्बन्धों की व्यर्थता ही मात्र कहानी को आधुनिक बना देती है। इस कहानी में अनपढ़ और आश्रित नारी के आदर्श का उदघाटन संवेदन ढंग से किया गया है जो यथार्थ परक, वास्तविक और विश्वसनीय है"[101]

बिलगाव और खण्डित होने की प्रक्रिया के कारण पारिवारिक विघटन

आधुनिकी और ज्ञान विज्ञान के प्रभाव के कारण मनुष्य मात्र पुर्जा बनकर जीवित है। परिवेश दबाव और वास्तविकता के त्रासद बोध से उसके अंदर व्यापक संक्रांति उत्पन्न हुई है। राकेश की कहानियों में भारतीय परिवेश में निरन्तर खण्डित होते हुए आदमी का चित्रण प्रखरता से दिखाई देता है। वर्तमान समय में व्यक्ति की मानसिकता के स्तर में बदलाव आया है। वह आपसी रिश्तों में केन्द्रित और संकुचित हो गया है। और निरन्तर अकेले होने की यंत्रणा से पीडित है। अकेलापन मनुष्य के जीवन में सामाजिक स्थिति बन गयी है। एकान्त की कामना और अकेलेपन की दुर्निवार अनुभूति ही व्यक्ति में बिलगाव की स्थिति लाती है। वह भीड़ में भी अकेला अनुभव करता है। परिणाम है कि व्यक्ति सबसे कटकर जीने के लिए विवश है। यही स्थिति आत्मनिर्वासन की स्थिति उत्पन्न

करती है। दूसरी तरफ आधुनिक भाव–बोध की स्थिति ने मनुष्य को स्थापित मान्यताओं और सामाजिक रीति–रिवाजों से काट दिया है। आधुनिकीकरण ने ही आदमी–आदमी के जीवन मे औपचारिकता का भाव घोल–घोल कर रख दिया है इसलिए वर्तमान में व्यक्ति जिन्दगी के सारे चक्रों में फॅसने के लिए अभिशप्त है।

मोहन राकेश की कहानियों के अनेक पात्र दिग्भ्रमित, निर्वासित और अन्दर के तनाव में टूटते हैं– जख्म, मिसपाल, वारिस, भूखे, मन्दी इत्यादि।

ज़ख्म

'ज़ख्म' कहानी व्यक्ति के अलगाव एवं आत्म खण्डित होने की कहानी है। राकेश कृत 'जख्म' केवल जख्मी आदमी की ही कहानी नहीं है बल्कि आज के उन लोगों की कहानी है जो मानव–नियति की भयंकर प्रवंचना में सांस ले रहे हैं। इस कहानी में जख्मी आदमी का संत्रास उसका केवल अपना नहीं है, सार्वदेशिक है। 'जख्म' का वह बिखरा हुआ, भटका हुआ और बदचलन दिखाई दे सकता है किन्तु जिन कारणों के दुर्दान्त यथार्थ ने उसे तोड़ा है और व्यवस्था विरोधी बनाया है उसकी स्पष्ट छाया पूरी कहानी के परिवेश में है। कहानी का नायक 'वह' प्रबल अहंवादी व्यक्ति है। यह झुकना नहीं जानता धीरे–धीरे टूटता जाता है इस टूटन की खनक भी कोई सुने, यह उसे गवारा नहीं है।वह पीकर घायल एवं परेशानी में मित्र के साथ कहीं जाना चाहता है। वह अधिक पीकर बहुत खुश होता है। वह कहीं जाकर दोस्त को सिर्फ यह बताना चाहता है कि वे दोनों अब दोस्त नहीं है। वह दोस्त से भी इस तरह की बातें करता है जैसे उससे उसकी पुरानी दुश्मनी है......। "तुम्हारी बुश्शर्ट पर ये दाग कैसे हैं? मैंने पूछा उसने भी एक नजर उन दागों पर डाली–ऐसे जैसे उन्हें पहली बार देख रहा हो। कैसे हैं? उसने ऐसे कहा जैसे मैंने उस पर कोई इल्जाम लगाया हो। 'हाथ कट गया था, उसी के दाग होंगे।' हाथ कैसे कट गया? उसका चेहरा कस गया। कैसे कट गया? वह बोला, कैसे भी कटा हो, तुम्हें इससे क्या है।"[102]

नायक वह अनेक बार अच्छी सी लड़की देखकर शादी करने का निश्चय करता है क्योंकि अपना अकेलापन उसके लिए असह्य हो गया है। वह छोटी–छोटी बातों में लोगों से झगड़ जाता है। वह बिना किसी लाग लपेट के सब बातें कहने की क्षमता रखता था। उसका अधिकतर प्रेम विवाहित स्त्रियों के साथ ही होता था। वह जिन्दगी के विषय में बड़े–बड़े मनसूबे बॉधता था। वह कभी नौकरी लगी होने पर कहता– "नहीं, मैं तुम लोगों की तरह नहीं जी सकता..... मैं अपने वक्त का हिस्सा नहीं, उसका निगहवान हूँ।"[103] लम्बी बेकारी के दौरान वह कहता है "मुझे समझ आता है कि मैं बिल्कुल कट गया हूँ.... हर चीज से बहुत

दूर हो गया हूँ।"[104] इस तरह उसका बेकारी के दौरान सबसे कट जाना बहुत स्वाभाविक है। राकेश को मालूम था कि बेरोजगारी मनुष्य को क्या से क्या बना देती है। अतः अनुभूति सत्य को उन्होंने जख्म के माध्यम से सशक्तता प्रदान की है। नौकरी छूटने पर व्यक्ति अपने को अशक्त मानते हुए भी स्वीकार करना नहीं चाहता । उसका अहं उसे झुकने नहीं देता है। डॉ0 उर्मिला मिश्र के अनुसार – "जख्म का नायक अमानवीय दौड़ धूप के बावजूद जीवन मे कोई निर्णय नहीं ले पाता, जीने के लिए कोई निश्चित धरातल नहीं ढूँढ़ पाता। वह बाहर भीतर से लहूलुहान होकर भी जिन्दा है।"[105]

जख्म कहानी का कथा–नायक आत्मकेन्द्रित है। वह अपने परिवेश से कटकर नितांत एकाकी जीवन जी रहा है, बिल्कुल अपनी ही तरह का जीवन । कभी वह नौकरी पर जाता है तो कभी बेकार है। व्यवस्थित जिंदगी से शीघ्र ही ऊब जाता है। नायक वह अपने ढंग से जीने का कायल है। किन्तु परिवेश में अकेलेपन के बोझ से दबा हुआ है। कभी वह नौकरी करता है तो कभी बेकारी भोगता है। जीवन में आये अकेलेपन को वह शादी से भरना चाहता है। वह जीने के लिए जीवन में ऐसी लड़की का चुनाव करना चाहता है जो उसके बेकार होने पर "अपना भार खुद संभाल सकती हो"[106] वह विवाह करने का फैसला करता है लेकिन जीवन में उस फैसले को दुहराता है, करता नहीं है। क्योंकि वह "जैसा बेकार कल था वैसा ही आज भी है"[107] उसकी भटकन व अकेली स्थिति जीवन की व्यवस्था के कारण है। वह टूटा हुआ और बिखरा हुआ तो है किन्तु इस सबके पीछे व्यवस्था जिम्मेदार है क्योंकि जख्म के नायक का चिन्तन साधारण न होकर असाधारण है सामाजिक व्यवस्था से टूटा हुआ और अकेला यह नायक वक्त का निगहवान है। "वह जीता नहीं है, देखता है: क्योंकि जीना अपने में घटिया चीज है। जीने के नाम पर तो पेड़–पौधे भी जीते हैं पशु पक्षी भी जीते हैं।"[108] नायक वह का व्यक्तित्व आस्तित्विक संदर्भों में भी देखा–परखा जा सकता है। भयावह परिवेश में घिरकर और अकेलेपन से दबकर टूटता हुआ वह जिजीविषा से मुक्त है। उसका यह चाहना और कहना कि "पर तुम्हें इतना बता दूँ कि मुझे कम से कम बीस साल और जीना है। मैं तुम्हारे या दूसरे लोगों के बारे में नहीं कह सकता पर अपने बारे में कह सकता हूँ कि मुझे जरूर जीना है।"[109] यह कथन उसकी आस्तित्विक दौड़ को स्पष्ट करता है। ऐसा लगता है कि जख्म यहॉ हाथ में नहीं है अपितु उसके मूल अस्तित्व रूप में भी है जिससे कचोट और पीडा बाहरी जख्म को महसूस ही नहीं होने देतीं असल में बाहरी जख्म तो उतना नहीं है जितना कि भीतरी । यही कारण है कि बड़े शहरों की भीड़ में इस व्यक्ति का चेहरा यह इशारा करता है कि आज सम्बन्ध कितने जड़ निष्क्रिय हो गये हैं और व्यक्ति अर्थहीन और अकेलेपन से भर गया है।

डॉ0 इन्द्रनाथ मदान समीक्षात्मक रूप से इस कहानी की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि – "यह कहानी एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जिसकी मूल समस्या है जीवन को अपने तौर–तरीके से जीने की समस्या, लेकिन लेखकीय प्रस्तुतीकरण नायक के चरित्र और उसकी समस्या दोनों को ही जीवन–जगत की सहजता से जुड़ा नहीं रहने देता। अपने देशकाल में नायक की अकेले होने की अनुभूति के साथ अपनी शर्तों पर जिन्दगी जीने का विश्वास परस्पर एक–दूसरे को काटते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि नायक के आचार–विचार भोक्ता के नहीं, वक्ता के आचार–विचार हैं,.... कथानयक की आस्था कहानी के भीतर से उभरने के बजाय बाहर से आरोपित लगती है।"[110] मदान जी की टिप्पड़ी उचित है परन्तु यह भी सच है कि यह टूटे हुए एवम बिखरे व्यक्ति की कहानी है जो अकेलापन झेल रहा है अस्तु फिर भी अपने अस्तित्व के प्रति सजग एवं जागरूक है।

मिसपाल

'मिसपाल' कहानी एक ऐसी अविवाहित नारी के पारिवारिक विघटन की अभिव्यक्ति है जो परम्परावादी परिवार में अपने ही माता–पिता तथा भाई–बहनों के स्नेह से वंचित होकर अपना घर नहीं बसा पाती, नौकरी तथा शरीर की स्थूलता से समाज उसे स्वीकार नहीं करता और वह बिलगाव तथा खण्डित हो जाती है।

अपने बाह्य परिवेश तथा अंतर्जगत में कोई सामंजस्य न बैठा पाने के कारण 'मिसपाल' का जीवन एक कुंठित नारी का जीवन बनकर रह गया है। लेखक ने इसका चित्रण वैयक्तिक स्तर पर किया है। 'मिसपाल' दिल्ली में सूचना विभाग में कार्यरत हैं। दफ्तर के वातावरण में अपने–आप को मिसफिट महसूस करते हुए 'मिसपाल' बेहतर जीवन जीने के लिए नौकरी छोडकर कुल्लू मनाली चली जाती है यह सब निर्णय वह इसलिए करती है क्योंकि दफ्तर में उसके विभाग के सहयोगी उस पर व्यंग्य करते हैं– "क्या बात है मिसपाल आज रंग बहुत निखर रहा है।"..... दूसरी ओर से दूसरा सहयोगी कहता है कि "आजकल मिसपाल पहले से स्लिम भी तो हो रही है।"[111] मिसपाल भी अपने स्थूल शरीर के प्रति असहजता महसूस करती है। इसलिए अपने एक सहयोगी मित्र रणजीत से कहती है कि मैने इस लिए त्याग पत्र दिया है कि "यहाँ ऐसे लोगों के बीच और रहूँगी तो मेरा दिमाग बिल्कुल खोखला हो जायेगा। तुम नहीं जानते कि मैं तुम्हारे लिए सुबह दूध और सब्जियाँ लेकरजाती रही हूँ, उसे लेकर भी ये लोग क्या क्या बातें करते रहे हैं। ये लोग अच्छे– से अच्छे काम का ऐसा कमीना मतलब लेते हों उनके बीच आदमी रह ही कैसे सकता है।"[112] ऐसे लोगों से बचने के लिए ऐसे स्थान की तलाश करती है। "जहाँ यहाँ की सी गन्दगी न हो, और लोग इस तरह

की छोटी हरकतें न करते हों।"[113] 'मिसपाल' को "लोगों से अपना पिंकी ज्यादा अच्छा लगता है।"[114] उसको सहसा देखकर यह निर्णय कर पाना मुश्किल हो जाता है कि वह औरत है या मर्द। यहाँ तक कि उसके बनाये हुए चित्रों से भी इसका आभास मिलता है। क्योंकि वह हमेशा अपने चित्रों के लिए मोटी भद्दी और विकलांग आकृतियाँ ही चुनती है।

मिसपाल कहानी में एक ऐसे नारी चरित्र की व्याख्या हुई है, जो बहुत अधिक चर्चित उपेक्षित, निन्दित होते हुए भी हद से ज्यादा इन्सान हैं वह अपने वातावरण से अब ऊब चुकी है और नहीं चाहती कि उसका कोई परिचित उसे याद करे। मिसपाल इसलिए रणजीत से मिलने पर जो उसका कुल्लू मनाली में सहयोगी के साथ–साथ इस समय अतिथि भी है, वह उससे अपने पूर्व सहयोगियों के प्रति अनास्था व्यक्त करती है साथ ही रणजीत के प्रति विशेष अनुराग, क्योंकि "अब जबकि वह किसी भी पुरूष को स्वीकार कर लेने के लिए प्रस्तुत है, कोई भी तो नहीं है जो उसके अन्तर की पुकार सुन सके। इस स्थिति में वह यदि असामान्य व्यवहार कर बैठे तो सहानुभति के स्थान पर अनेक शब्द और आक्षेप उस पर चिपका दिये जाते हैं।"[115] कुल्लू प्रवास के समय रणजीत भी मिसपाल से कट रहा है क्योंकि एक रात मिसपाल के यहाँ व्यतीत करने पर मिसपाल का खुलापन रणज़ीत पचा नहीं पाता है और इसे वह मजाक की दृष्टि ही समझता है। मिसपाल ने रणजीत को अपने यहाँ जानबूझकर इसलिए ठहराया है कि वह उससे प्रणय निवेदन कर सके परन्तु कुण्ठित एवं अनाम डर से वह ऐसा नहीं कर पाती है। रात में सोते समय उसने पूरी कोशिश की कि रणजीत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर सके, रणजीत ने भी महसूस किया कि उसके "आस–पास एक बहुत तेज सांस चल रही है जो धीरे–धीरे दबे पैरों, सारे वातावरण पर अधिकार करती जा रही है।"[116] इन स्थितियों के प्रति ऐसा नहीं था कि रणजीत पहले से अवगत न हो? वह इस भय से भलीभांति परिचित था और यह अनकहा प्रणय निवेदन वह स्वीकार नहीं कर सका। सुरेश धींगड़ा इस पर टिप्पड़ी करते हुए लिखते हैं कि "कालान्तर में भी 'सेक्स' उसे आब्सेस करता रहा। यहाँ तक कि वह जीवन में कभी भी इतना साहस नहीं जुटा पाई कि मर्द की पशु–शक्ति का सामना कर सके। परिणामतः वह नौकरी से त्यागपत्र देकर एकान्त पहाडी ग्राम में एकाकी जीवन व्यतीत करने लगती है, किन्तु अनुभूति उसे नहीं त्यागती कि वह एकदम अकेले अनप्यार पाई स्त्री है।"[117]

मिसपाल जीवन के क्षेत्र में ऐसी असफल आधुनिका नारी है जो अपने भीतर की घुटन और अवसाद से टूट रही है उसकी जिन्दगी विखर सी गई है। "हर चीज दूसरी चीज की जगह काम में लायी जा रही थी, एक कुर्सी ऊपर से नीचे तक मैले कपड़ों से लदी थी। दूसरी पर कुछ रंग बिखरे थे और एक प्लेट

रखी थी। जिसमें बहुत सी कीलें पड़ी थीं।''[118] यह चित्र मिसपाल के बिखराव को व्यक्त करते है यही अस्त–व्यस्त जिन्दगी उसे अजनबी और अकेला बना देती है। डॉ0 इन्द्र नाथ मदान मिसपाल कहानी का मूल्यांकन करते हुए लिखते हैं कि– ''एक बार अपने अतिथि से थोडा खुलकर वह फिर अपने में बंद हो जाती है, उसका खुलना बेकार है, लेकिन उसका बंद होना उसके भीतर को खोलता है। एकाएक थोड़ा परिचित होकर वह अपरिचित होने लगती है परिचित होना बेकार है। वह इंसानों और चूहों से तंग है।''[119]

वारिस

'वारिस' कहानी आर्थिक विवशता में जीते हुए तथा पढ़े लिखे उस वर्ग की कहानी है जो रोजगार की तलाश में ट्यूशन तक करने पर विवश होता है और इस पीड़ा में वह लगातार टूटता तथा विघटित होता जाता है। वारिस के अंग्रेजी मास्टर बी0 एल0 पास हैं और अर्थ की समस्या के कारण वह दो छोटे बच्चों को ट्यूशन पढ़ाने पर विवश हैं, इस विवशता के बीच उन्होंने सिद्धान्तों एवम उसूलों से समझौता नहीं किया है। वह एक वेतन मास्टर नहीं अपितु एक कर्मठ स्नेहशील, साहित्यिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति भी हैं– ''एक दिन अचानक ही वे पिताजी के पास बैठक में आ पहुँचे थे। उन्होंने कहा था कि एक भी पैसा पास न होने से वे बहुत तंगी में है। मगर वे किसी से खैरात नहीं लेना चाहते, काम करके रोटी खाना चाहते हैं।''[120] ट्यूशन मास्टर की यह आर्थिक विवशता इतनी निरीय एवं दयनीय है कि वह ऐसी गर्हित जगह में रहते हैं जहाँ स्वास्थ्य ठीक रह ही नहीं सकता है कथानायक जब उनकी बीमारी में उनके कमरे में गया तो ठिठक गया– ''कोठरी निहायत बोसीदा थी और उसमें चारों तरफ से पुरानी सीलन की गंध आती थी। दीवारों का पलस्तर जगह–जगह से उखड गया था और कुछ जगह उखड़ने की तैयारी में ईंटों से आगे को उभर आया था। पलस्तर का कोई टुकड़ा खप से नीचे आ गिरता, तो मैं ऐसे चौंक जाता जैसे मेरी आंखों के सामने किसी मुर्दा चीज में जान आ गई हो।..... खिड़की में सलाखों की जगह बांस के टुकड़े लगे थे। गली से उठती हुई भयानक दुर्गन्ध से दिमाग फटने लगता। वह गली जैसे शहर का कूड़ा–घर थी। एक मुर्गा गली के कूडे को अपने पैरों से विखेरता रहता और हर आठ–दस मिनट के बाद जोर से बांग दे देता।''[121] मास्टर जी की यह विवशता उनकी अपनी व्यक्तिगत विवशता ही नहीं है वरन ऐसे कितने लोग और भी हैं जो इस तंगहाली बेरोजगारी की मार झेल रहे हैं।

ट्यूशन मास्टर के पास कुल जमा पूँजी उनका लिखा हुआ साहित्य है जो वे बच्चों को देना चाहते हैं परन्तु समाज की विडम्बना देखिए कि जिस व्यक्ति ने जीवन के कटु यथार्थ को भोगा और उसे अपनी लेखनी से अनुभव सत्य

को लिखा, उसकी कद्र करने वाले उसे नहीं मिलते यदि मिलते हैं तो उन कागजों से एक खेल खेला जाता है– "मास्टर ही से कागज लेते हुए हम चोर आंख से एक–दूसरे की तरफ देखते और मुश्किल से अपनी मुस्कुराहट दबाते। मास्टर जी किसी–किसी दिन अपने पुराने कागजों के पुलिंदें साथ ले आते थे और वहीं बैठकर उनमें से हमारे लिए कुछ हिस्से नकल करने लगते थे। इधर मास्टर जी वे पुलिंदे हमारे हाथों में देकर सीढ़ियों से उतरते उधर हमारी आपस में छीना झपटी आरम्भ हो जाती और हम एक–दूसरे के कागज को मसलने और नोचने लगते। अक्सर इस बात पर हमारी लड़ाई हो जाती कि मास्टर जी एक को अठारह और दूसरे को चौदह पन्ने क्यों दे गए हैं।"[122] ये है मास्टर जी की जीवन पूंजी जो आज बच्चों की निगाह में सिर्फ कागज का रद्‌दी ढेर या पुलिंदा मात्र है औरइसकी कीमत सिर्फ इतनी ही है कि मात्र ये गिनती में केवल चौदह और अठारह ही क्यों है? "कैसा क्रूर व्यंग्य है? प्रकृति का कि साहित्य की अमूल्य रचनाओं की बच्चे नाव बनाकर खेलते रहें और वह साहित्यकार संसार में उपेक्षित और अनजान ही रह गया। विवश, पीड़ित, टूटे हुए और अकेलेपन के बोध को गहराने वाली यह राकेश की अच्छी कहानियों में एक से है।"[123]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वारिस के ट्‌यूशन मास्टर इसलिए ही एकान्त पहाड की खोज में जाना चाहते हैं कि अब शायद इससे ज्यादा सहने की विवशता अब उनमें शेष नहीं बची है। डॉ0 उर्मिला मिश्र इसका मूल्यांकन करते हुए लिखती हैं कि– "वारिस कहानी का मास्टर अपने अकेलेपन और बेकारी के संत्रास को झेलता है और तंग आकर एकांत की तलाश में घने पहाड़ों के बीच जाने की कामना करता है।"[124]

मानवीयता और नये मूल्यों की खोज के कारण परिवारिक विघटन

व्यक्ति पुरातन मान्यताओं, रूढ़ियों और परम्पराओं को अस्वीकार कर रहा है। वह अपनी तरह से और अपने ढ़ंग से जीना चाहता है। आज प्राचीन मान्यताओं के द्वारा जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति आदमी अपने जीने के लिए नैतिकता का चुनाव स्वतन्त्र व्यक्तित्व और विवेक के साथ करता है। आज इसका स्वरूप आधुनिकता के बदलते स्वरूपों के साथ विकसित हो रहा है– "आज का युवक किसी की परवाह किये बगैर ही विश्वास के साथ अपना चुनाव खुद करता है। उसके चयन में एक मानवीयता की गंध है।"[125]

मोहन राकेश की 'जंगला' और 'चांदी और स्याह दाग' इन दोनों कहानियों में विकल्प की स्वतन्त्रता की समस्या को उठाया गया है। जंगला पारिवारिक संघर्ष की कहानी के साथ–साथ वर्तमान जीवन में व्यक्ति के बदलते परिवेश एवं जीवन मूल्य की कहानी है जो अपने संस्कारों से विद्रोह कर मानवीयता के धरातल पर बने नये सम्बधों को वरीयता देता है। कहानी का नायक

बिशना परम्परा से चिपके माता–पिता की परवाह किये बगैर एक विश्वास के साथ परित्यक्ता राधा का चुनाव करता है। सम्बन्धो को मानवीयता के परिप्रेक्ष्य में देखकर मॉ–बाप को त्यागकर राधा का वरण करना उचित समझता है। इसी तरह से 'चॉदनी और स्याह दाग' में नायक प्राचीन रूढियों को वैयक्तिक मूल्य के समक्ष तोडता है यह कहानी वैयक्तिक निर्णय के अन्त.संघर्ष की कहानी है जिसमें समदू (नायक) अन्त में कवाइलियों द्वारा लूटी जा चुकी अपनी प्रेमिका मेहर को स्वीकार कर परम्पराओं के प्रति गहरी चोट करता है।

जंगला

'जंगला' कहानी में विकल्प चुनने तथा बदलते मूल्यों के कारण पारिवारिक विघटन घटित होता है। मॉ–बाप की धार्मिक आस्था से समझौता न कर पाने के कारण बिसने घर छोड़ देता है। फूलकौर और बनवारी दम्पत्ति पति–पत्नी के रूप मे जी रहे हैं परन्तु परिवार से अधिक प्यार बनवारी को अपनी परम्परा तथा भक्तई से है। इसलिए तो फूलकौर "भगत के शरीर को वह हाथ से नहीं छूती। छूने से शरीर गन्दा हो जाता है। भगत को उतनी रात में ही कपड़े बदल कर नहाना पड़ता है।"[126] पति–पत्नी में द्वन्द्व इस बात को लेकर है कि उनके बेटा बिसने ने एक ऐसी औरत से शादी कर ली है जो पति द्वारा परित्यक्त थी। मानवीय सम्बन्धों की इज्जत करते हुए बिसने ने घर छोड़ना ही उचित समझा और दोस्त राधे के साथ रहने लगा था। इसी को केन्द्र बनाकर बनवारी पर फूलकौर हावी रहती है– "हाय–हाय करते थे कि दूसरे की ब्याह कर छोडी हुई औरत घर में बहू बनकर कैसे आ सकती है।"[127] दूसरी ओर बनवारी भगत पत्नी पर आरोप लगाता है कि इसी की रोज–रोज की रोक टोक ने बिसने को घर छोड़ने पर विवश किया है, क्योंकि जब राधा प्रथमबार आई थी तभी फूलकौर ने कहा था– "बाप की बेटी है तो इसके बाद न कभी खुद इस घर में कदम रखे, न उसे रखने दे।"[128] यहॉ पारिवारिक संस्कार दोनों लोगों को अपनी गलती स्वीकार करने में अवरोधक बनते हैं और वे अन्दर ही अंदर खोखले होते जाते हैं।

यह सच है कि जीवन और लेखन के सम्बन्ध में एक आन्तरिक दृष्टि उसी व्यक्ति में विकसित होती है जो कि जीवन से संवेदना के स्तर के साथ ही साथ केवल समर्पण के स्तर से भी जुडा हो। इस कहानी में मोहन राकेश ने यथार्थ को प्रेमचन्द्र युगीन परम्परा से जोड़ने का प्रयास किया है। प्रेमचन्द के आदर्शोन्मुख यथार्थवाद को 'जंगला' में राकेश जी नहीं निभा सके हैं। पारिवारिक विघटन में पात्र बनवारी भगत अपने सिद्धान्तों से समझौता नहीं करता है जबकि प्रेमचंद के पात्र सभी तरह का समझौता करने को तैयार हो जाते हैं, इसलिए बनवारी भगत अन्त में कहता है कि यदि बिसने घर पर लौटकर आ जाये तो "मुझे क्या फर्क पडता है...... ठाकुर जी की सेवा के लिए मैं कुएं से किरमिच के

होल में पानी ले आया करूँगा।''[129] राकेश जी की शायद यह सीमा है कि वे अपने सिद्धान्तों एवं उसूलों के नीचे जाकर समझौता नहीं करते, क्योंकि बनवारी से यह कहलाकर कि यदि बिसने को सही संगत या अच्छे मित्र मिले होते तो वह कभी परिवार से विद्रोह नहीं कर सकता था, में राकेश ने अपनी परम्परा के प्रति आस्था व्यक्त की है वही दूसरी ओर बिसने से विद्रोह कराके आधुनिक जीवन दृष्टि का भी आरोपण किया है। डॉ0 उर्मिला मिश्र के अनुसार– ''जंगला पारिवारिक संघर्ष की कहानी होते हुए भी आधुनिक कहानी है। जंगला कहानी का नायक बिशने परम्परा से चिपके माता–पिता की परवाह किये बगैर एक विश्वास के साथ परित्यक्ता राधा का चुनाव करता है। वह अपनी मानवीयता की रक्षा के लिए मॉ–बाप को त्यागकर राधा का वरण करता है।''[130]

चाँदनी और स्याह दाग

'चॉदनी और स्याह दाग' कहानी पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन में एक नये मूल्य की तलाश का बोध कराती है क्योंकि इसमें मानवीय रूढ़ियों और परम्पराओं के प्रति विद्रोह कर एक व्यक्ति ऐसी लड़की का चुनाव करता है जिसके साथ कई कबाइलियों ने बलात्कार किया है। इस कहानी में दो स्तरों पर मानवीय सम्बन्धों के पतन का द्वन्द्व चलता है– एक समष्टिगत दृष्टि से तथा दूसरा स्तर समदू एवं मेहर के एक दूसरे से जुड़ने एवं स्वीकार करने का द्वन्द्व।

प्रथम प्रकार का द्वन्द्व है सामाजिक व्यवस्था के ढ़ांचे को लेकर बदलने का जिसमें व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को आपसी प्रतिद्वन्द्विता तथा वैयक्तिक स्वार्थ के लिए उसका सम्पूर्ण जीवन चौपट कर देता हैं यही हादसा समदू के गॉव का हुआ है जो मेहर को प्राप्त करना चाहता है और उससे जी जान से प्रेम करने के कारण पैसे की खोज में तीन वर्ष बाहर रहता है। ताकि अपनी होने वाली पत्नी को सुख एवं वैभव दे सके। जब समदू लौटता है तो दृश्य कुछ इस प्रकार का होता है– ''जुम्मन, खालका और कादिरा मांझा से कास्तकार हो गये थे। कादिरा फिरन की बजाय सलवार–कमीज पहनने लगा था। गाँव के एक ओर के सब घर जल गए थे। उनके साथ दोनों चिनार भी जल गए थे। मुहम्मद यार लंगडाकर चलने लगा था।''[131] क्योंकि समदू के बाहर जाने पर गांव पर कबाइलियों का आक्रमण हुआ था और ''गॉव के कई घरों में कबाइली चार–चार, पाँच–पाँच दिन तक टिके रहे थे। उन घरों की लड़कियों की आंखें बदल गई थीं। उनमें एक अस्वाभाविक पीलापन आ गया था। वे उसी तरह लकडियां काटती थीं, जेहलम से पानी भरती थीं और सिंघाड़े बीनने के लिए जाती थीं, मगर....। उन लडकियों में उसकी महबूबा मेहर भी थी। उसके घर में सात–आठ कबाइलियों का एक गिरोह कई दिनों तक रहा था।''[132] समय ने पलटा खाया और सभी पुरानी स्मृतियां और लोगों को कटु स्मृतियों से छुटकारा मिला एकाएक समदू की विचारधारा बदल

गयी और उसने सोचा कि "कुछ भी हुआ जो, वह मेहर से शादी जरूर करेगा। समय के दाग समय के साथ मिट जाएंगे। कबाइलियों के वहाँ रह जाने से मेहर की मासूमियत में क्या अन्तर आया था? पीलेपन के बावजूद उसकी ऑखों में वही कोमलता थी और उसके नन्हें-नन्हें दांत उसी तरह चमकते थे। मेहर आज भी गांव की सबसे हसीन लडकी थी।"[133] नायक समदू प्राचीन परम्पराओं और रूढियों को त्याग कर मेहर की तरफ अपना हाथ बढ़ाता है, मेहर इस पर एतराज करते हुए कहती है कि- "तू समझता क्यों नहीं है, समदू? मैं तेरी जान की दुश्मन नहीं हूँ..... मेरे होठों में सांप से कम जहर नहीं है।"[134] इसके साथ ही मेहर यह भी स्पष्ट समदू को विश्वास दिलाना चाहती है कि "मैं वह मेहर नहीं हूँ, जिसे तू पाना चाहता है, इस जिन्दगी में। अब मैं वह मेहर हो भी नही सकती मैं एक गला हुआ बीमार जिस्म हूँ और कुछ नहीं, जिसमें अब जहर ही जहर है.....।"[135] सम्बन्धों के समझने का विश्वास मेहर के अन्दर है। समदू का विश्वास ही मेहर को चॉदनी की तरह पाक और हसीन बना देता है। उसका निर्णय मेहर के जहर भरे होंठ को चूमने में संकोच नहीं करता और उसकी आत्मीयता मेहर के स्याह दाग को चाँदनी की तरह पाक और हसीन बना देती है। कहानी का अन्त मेहर और समदू के एकीकरण के साथ होता है।

इस कहानी के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो समदू में प्राचीन सांस्कृतिक तत्वों का लोप पाया जाता है और नायक अत्यन्त आधुनिक जीवन दृष्टि को लेकर चलने वाला है उसकी लडाई, उसका निर्णय स्वयं उसका ही है। मोहन राकेश समदू जैसे अनेक नवयुवकों द्वारा मेहर जैसी अनेक मजबूर लड़कियों को स्वीकार करने का आवाहन करते हैं। डॉ0 सुषमा अग्रवाल इस कहानी की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहती हैं कि – "चॉदनी और स्याह दाग का नायक प्राचीन रूढ़ियों को वैयक्तिक मूल्य के समक्ष तोड़ता है। यह कहानी वैयक्तिक निर्णय के अन्तःसंघर्ष की कहानी है। कहानी का नायक समदू सामाजिक रूढ़ियों को छोड़कर कबाइलियों द्वारा लुटी प्रेमिका मेहर को स्वीकार करने में संकोच नहीं करता।"[136]

समकालीन भ्रष्टाचार और उससे उत्पन्न अमानवीयता के कारण पारिवारिक विघटन

पाश्चात्य देशों के साथ ही जनवादी देशों में मनुष्य का नवीनीकरण हुआ है। हमारे देश की चिन्ता, चुनने की प्रक्रिया की चिन्ता रही है। 'नई-सम्भावनाओं की' शीर्षकान्तर्गत मोहन राकेश जी लिखते हैं, टूटने वाली इमारतों में एक इमारत उन विश्वासों की थी, जिन्होंने बहुत दिनों तक हमारे साहित्यिक सृजन को प्रेरित किया था। विभाजन हुआ। .... रोजमर्रा के जीवन का व्यवहार बदला, मान्यताएँ बदली, आपस के सम्बन्ध बदले। पर जिन्दगी के पुराने ढांचे में रची-बसी आंखें परेशान होकर देखती रहीं और कोई प्रतिक्रिया उनमें

नहीं हुई। इसलिए जिन आंखों में कुछ सवाल जगने लगे, वे ऑखें बिल्कुल नई थी। साहित्य में एक नये युग की शुरूआत तब तक नहीं होती जब तक कि उस युग की चेतना किन्हीं विश्वासों या अविश्वासों में परिणत नहीं होती। इस निर्वाण की सतह के नीचे से इन्सान का जो रूप सामने आया, वह बहुत ही विकृत था, हालांकि अपरिचित वह नहीं था। लगा कि आस–पास के बड़े–बडे परिवर्तनों के साये में हम लोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं, हमारी नैतिकता की जो भी तथाकथित मर्यादाऍ थी, वे टूट रही हैं। "जिन्दगी का सारा अन्दरूनी ढाँचा भुरभुरी मिट्टी की तरह झड़ता ढहता जा रहा है"[137]

भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक दशा इस कदर बदतर है कि बहुसंख्यक गरीब लोग जिन्दा लाश की तरह हो गये हैं। वर्तमान समय में असंगति इतनी भर गई है कि व्यक्ति सिर्फ व्यर्थ जीवन ही ग्रहण करने के लिए मजबूर है। आज जहाँ देखो वहॉ संघर्ष, विग्रह विक्षोभ, संत्रास, अशांति ही फैली हुई है। सभी जीवन में असन्तुष्ट एवं अभाव का अनुभव करने लगे हैं। इसबुरी प्रक्रिया को देखते हुए राकेश ने स्वातन्त्रयोत्तर राजनीतक संघर्ष और व्यवस्था से उत्पन्न स्थितियों का चित्रण कहानियों में किया है। वर्तमान में ऐसे भी व्यक्ति हैं जो पदोन्नति के लिए पत्नी को मुर्गी की तरह इस्तेमाल करने में हिचकिचाते नहीं। यहाँ तक कि नौकरी के लिए जमीर तक गिरवी रख छोडते हैं। उपभोग के लिए अनैतिक राह चुनना आज की नियति बन चुकी है। दूसरी ओर राजनीतक व्यवस्था की कचौट जिसने व्यक्ति को असहाय और अपंग बना दिया है। इस तरह भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक फैला हुआ है जिसमें मध्यवर्गीय व्यक्ति पीसा जा रहा है। वह शिक्षित होकर तथा अन्य योग्यताएँ रखते हुए भी ऊंची सिफारिश के अभाव में बेकारी झेल रहा है– परमात्मा का कुत्ता, फौलाद का आकाश, आखिरी सामान, एक ठहरा हुआ चाकू समकालीन भ्रष्टाचार को विश्लेषित करने वाली कहानियां हैं।

परमात्मा का कुत्ता

'परमात्मा का कुत्ता' कहानी में समकालीन भ्रष्टाचार एवं सरकारी कार्यालयों की निष्क्रियता व कायरता का वर्णन है। जिसने मानवीय सम्बन्धों को खोखला कर दिया है। 'परमात्मा का कुत्ता' में आदमी के कुत्ते और परमात्मा के कुत्ते का विरोध उभारते हुए राकेश ने सरकारी व्यवस्था के खोखलेपन, निष्क्रियता, रिश्वत खोरी और अन्याय से ग्रस्त परिवेश को तोड़ने के लिए बेचैन संतप्त, विवश और उपेक्षित व्यक्ति का चित्रण यथार्थ शैली में किया है। लोकतांन्त्रिक व्यवस्था के अंदर किस प्रकार अफसर लोग काम न करें, पाइप सुलगाकर, रीडर डाइजेस्ट पढते रहते हैं और बाबू चाय का मजा लेते हैं या दफ्तरी कागजों पर लिखी गजल सुनाते हैं। ऐसे में यदि अधेड़ आदमी की अर्जी न पास करें तो इसमें आश्चर्य नहीं

है लोग किस प्रकार कामचोर हो गये हैं और कार्यालयों में केवल औपचारिकायें ही बरती जाती हैं इसी कटु यथार्थ को मानवीय सम्बन्धों के क्षरित होने को 'परमात्मा का कुत्ता' में दिखाया गया है। एक अधेड आदमी समस्या ग्रस्त होकर कार्यालय में आता है जिसकी स्थिति पाकिस्तान के बटवारे से पैदा हुई है। जमीन की जगह उस अधेड व्यक्ति को गड्ढा एलाट कर कर दिया है। वह गड्ढे की जगह कम जमीन लेने के लिए भी तैयार है। इसलिए उसने अर्जी दी थी, परन्तु दो साल से अर्जी पास नहीं हुई है। वह अपनी भाभी, भाई की बेटी व बेटे को लेकर कार्यालय के बाहर बैठ जाता है तथा अफसरों को खूब गाली सुनाता है। इन सब परेशानियों में उसे केवल अर्जी की संख्या याद है। 'बाहर सौ छब्बीस बटा सात' वह कहता है–

"एक तुम्ही नहीं यहाँ तुम सबके सब कुत्ते हो वह आदमी कहता रहा, तुम सब भी कुत्ते हो, और मैं भी कुत्ता हूँ। फर्क सिर्फ इतना है कि तुम लोग सरकार के कुत्ते हो– हम लोगों की हड्डियाँ चूसते हो और सरकार की तरफ से भौंकते हो मैं 'परमात्मा का कुत्ता' हूँ। उसकी दी हुई दवा को खाकर जीता हूँ और उसकी तरफ से भौंकता हूँ"[138] अधेड़ ने भौंक–भौंक कर नौकर शाहों को अपने प्रति न्याय करने के लिए मजबूर कर दिया चूहों की तरह बिटर–बिटर देखने में कुछ नहीं होता। "भौंकों, भौंको, सबके–सब भौंको। अपने–आप सालों के कान फट जाएंगें। भौंको, कुत्तों भौंको...."[139] इस प्रकार भगवान के कुत्ते ने सरकारी कुत्तों पर भौककर गतिहीन स्थिति को गतिशील बना दिया। "परमात्मा का कुत्ता सरकारी कुत्ते पर इस तरह भौंकता है जिससे न्याय का दरवाजा जबरदस्ती खुलवा लेता है।"[140]

मोहन राकेश ने अन्याय अत्याचार शोषण और ऐसे ही अमानुषिक कृत्यों ओर तत्वों के प्रति अपनी झुँझलाहट व्यक्त की है। इतना ही नहीं इस अभिव्यक्ति में लेखक ने अत्यन्त साफ जुबान में सरकारी व्यवस्था के खोखलेपन निष्क्रियता, घूसखोरी और अन्याय से ग्रस्त वातावरण में उपेक्षित मर्दित आदमी का व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रण किया है। न्याय पाने के लिए भौंकने वाले सामान्य व्यक्ति के भौंकने को नियति के स्तर पर ही नहीं छोड दिया है उसमें विद्रोह का अर्थ एक और उपलब्धि भी प्राप्त करता है। भौंकने से व्यवस्था की जड़ता टूटती है, कान में तेल डालकर सोये हुए अफसरों की निद्रा टूट जाती है।

व्यंग्य बोध की पीठिका पर यथार्थ का चित्रण मानवीय सम्बन्धों का पतन अधिक सहज, अधिक विश्वस्त और प्रभावी प्रतीत होता है। यथार्थ के निरूपण में राकेश भावुकता का वरण करते हुए कहीं भी द्रवित नहीं होते हैं।

आखिरी सामान

'आखिरी सामान' कहानी में एक संभ्रांत परिवार के अवसान का चित्र एलबम द्वारा अंकित किया गया है जिसका सारा सामान नीलाम हो चुका है एलबम का आखिरी पन्ना खाली है। इस घर का आखिरी सामान मिसिज बेला भण्डारी है जिसे कभी भी नीलाम किया जा सकता है। लेखक इस कहानी में सामाजिक मूल्यों के ह्रास की ओर संकेत करना चाहता है। आज दुनिया में वही आदमी सफल है जिसके पास पैसा है, पदवी है। कहानी में बेला भंडारी की मानसिकता का जो संवेदनात्मक चित्र खींचा गया है उसके पीछे लेखक का समष्टि बोध ही झलकता है। 'आखिरी सामान' एक ऐसी आकर्षक युवती की कथा है जिसे समाज में पर्याप्त प्रशंसा और सम्मान मिलता है। मिसेज भण्डारी जहॉ भी जाती है लोग उसके रूप गुण पर मुग्ध हो जाते हैं। उसके पति को उस पर गर्व है, लेकिन वह अपने पति की महात्वाकांक्षा पूर्ति के लिए उसके अधिकारी की वासना–पूर्ति का साधन बनने को तैयार नहीं है। परिणामतः अधिकारी के रूष्ट होने पर जब पति जेल चले जाते हैं। तो घर की हर वस्तु नीलाम जो जाती है। आखिर उसे नीचे बुलाया जाता है तो वह अनुभव करती है : ''सीढियाँ उतरते हुए उन्हें लगा, जैसे वे आप नहीं उतर रहीं, घर का अखिरी सामान नीचे पहुॅचाया जा रहा है''[141] वास्तव में मिसेज बेला भण्डारी का यह रूप एक बिखरी हुई नारी का रूप है जो अपने परिवेश के वहशीपन से संत्रस्त तो है किन्तु अपने अस्तित्व–रक्षण के लिए प्रत्यत्नशील भी बनी रहती है वह अपने इस प्रयत्न में अकेला अनुभव करती है। क्यों न करें? जब उसका ही ऐसा है और तो और उसका पति भी वह अकेले क्षणों में कुलबुलाती है, व्यथित रहती है, किन्तु गिरती नहीं है। उसका अकेलापन बढ़ता जाता है।

''सुबह नास्ते के समय भी उनमें बात–चीत नहीं होती। किसी चाय–पार्टी पर उन्हें साथ जाना पडता तो भी सारा समय वही खिंचाव बना रहता। मिस्टर भण्डारी का बारह सौ की नौकरी पाने का मंसूबा पूरा नहीं हुआ था। वे सोचती कि क्या इसकी वजह वही हैं।''[142] मिसेज भण्डारी का पीडा बोध और अकेलापन पति की गिरफ्तारी, एक–एक सामान की नीलामी और आड़े वक्त में उनके सहपाठी सुधीर की अपेक्षा से और गहरा जाता है। ''यह जानते हुए भी कि आज उनके सामान का नीलाम होगा, वह पहले नहीं आया था। अब आया था जब....। पहले उन्होंने सुधीर से कितनी आशा की थी। मगर सुधीर की आंखें अब और हो गई थीं। उनकी आंखों में जो हल्का हल्का आभास होता था, वह कहीं गहरा हो गया था। वे देर तक उसकी एकटक दृष्टि का सामना नहीं कर पाती थीं''[143]

आज के इस आर्थिक भौतिक युग में व्यक्ति इतना लालची एवं अमानवीय हो गया है कि उसने सम्बन्धों को ताक पर रख दिया है। आखिरी सामान का मिस्टर भण्डारी बंगला और ड्राइंग रूम को सुसज्जित करने के लिए अनैतिक ढंग से घूस लेने का अपराध करता है यहाँ तक कि पदोन्नति के लिए अपनी पत्नी को उच्चाधिकारी के पास मुर्गी की तरह सप्लाई करने में संकोच नहीं करता। यह मात्र मिस्टर भण्डारी की कहानी नहीं इस तरह के अनेक मिस्टर भण्डारी हमारे देश में है। जो उपभोग के लिए अनैतिक कार्यों में फंसते हैं।

एक ठहरा हुआ चाकू

'एक ठहरा हुआ चाकू' समकालीन जीवन में फैले अत्याचार तथा मानवीय सम्बन्धों के विघटन पर व्यंग्य है क्योंकि आज सार्वजनिक रूप से व्यक्ति की सुरक्षा खत्म होती जा रही है। वह सन्त्रस्त और आरक्षित जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर है। 'एक ठहरा हुआ चाकू' आदमी–आदमी के बीच उत्पन्न अमानवीयता की कहानी है। आज व्यक्ति–व्यक्ति से डरने लगा है। क्योंकि आज गुण्डागर्दी की घटनायें पहले से पौने तीन गुना ज्यादा हो गयी हैं। यानी पहले से एक सौ पिचहत्तर फीसदी ज्यादा। आज दिन दहाडे सड़क पर आदमी पर वार होता है। इस कहानी में दादा लोगो के आतंक का यथार्थ परिप्रेक्ष्य में वर्णन मिलता है। एक बेरोजगार युवक अपनी प्रेयसी से मिलकर घर लौटते समय रास्तें में बर्फ खरीदने के लिए स्कूटर रोककर उतरता है तो एक नत्था सिंह नामक गुण्डा उसमें बैठ जाता है तथा बाशी को एक झापड जड़ देता है। युवक द्वारा विरोध जताने पर वह चाकू निकाल लेता है। खुले चाकू को देखकर युवक की हालत खराब हो जाती है और वह भागता हुआ अपने साथी महेन्द्र को इस घटना की सूचना देता है। महेन्द्र पुलिस में रिपोर्ट लिखवाता है तथा हर प्रकार से उस गुण्डे के विरूद्ध कार्यवाही करने को तत्पर होता है उसका एक रिपोर्टर मित्र भी उसके साथ होता है। घटना स्थल का कोई व्यक्ति सरकार के खिलाफ गवाही देने को तैयार नहीं। सभी गुण्डों से डरते हैं क्योंकि उनसे पुलिस मंत्री अधिकारी कोई उसकी रक्षा नहीं करते।जिस समय नत्थासिंह को शिनाख्त के लिए लाया जाता है उस समय युवक की मनःस्थिति अच्छी नहीं रहती है। वह बहुत बुझा–बुझा रहता है मित्र के आश्वासन से भी उसमें किसी प्रकार के उत्साह का संचार नहीं होता–

''उसने पेंसिल हाथ से रख दी और हथेली पर बने शब्दों को अंगूठे से मल दिया। तब तक न जाने कितने शब्द और वहां लिखे गए थे जो पढे भी नहीं जाते थे। सब मिला–कर आडी–तिरछी लकीरों का एक गुंझल था जो मल दिए जाने पर भी पूरी तरह मिटा नहीं था। हथेली सामने किये वह कुछ देर उस अधबुझे गुंझल को देखता रहा। हर लकीर का नोक–नुक्ता कहीं से बाकी था।

उसने सोचा कि वहां कहीं एक वाश–बेशिन होता, तो वह दोनों हाथों को अच्छी तरह मलकर धो लेता"[144] यह मनःस्थिति युवक के अकेलेपन और महानगरीय जीवन में व्याप्त संत्रास, भयावहता और असुरक्षा को भी स्पष्ट कर देती है। बडे शहरों की जिन्दगी जितनी तनाव भरी और दहशत भरी होती जा रही है इसका जीवन्त उदाहरण नत्थासिंह जैसे लोग है। कहानी मे आये संदर्भ और विवरण महानगरीय संत्रास और क्षरित मानव सम्बन्धों की भयावहता को प्रमाणित करते हैं– "खुले चाकू की चमक से उसकी जवान और छाती सहसा जकड गई। उसके हाथ से पैसे वहीं गिर गए और वह वहां से भाग खड़ा हुआ।"[145] गुण्डों के खिलाफ गवाही देने वाला इन महानगरों में कोई नहीं होता है। सारा परिवेश और जीवन इनसे आतंकित रहता है। मेडीकल स्टोर के इंचार्ज का यह कथन महानगरीय भयावहता और संत्रासमय सम्बन्धों को संकेतित करता है– "नत्थासिंह को यहाँ कौन नहीं जानता ? अभी कुछ ही दिन पहले उसके आदमियों ने पिछली गली में एक पान वाले का कत्ल किया है..... खैरियत समझिये कि आपकी जान बच गई वरना हमें तो किसी को इसकी उम्मीद नहीं रही थी। अब बेहतरी इसी में है कि आप चुपचाप मामले को पी जायें। यहाँ आपको एक भी आदमी ऐसा नहीं मिलेगा जो उसके खिलाफ गवाही देने को तैयार हो।"[146] यह अमानवीयता आज के परिवेश की है। जिसमें "लेखक ने पुलिस–अधिकारी, कानून, सुरक्षा, समाज, सरकार सबका भंडा फोड़ किया है। 'चीफ क्राइम रिपोर्टर' की बाशी को रिपोर्ट वापस ले लेने की सलाह निश्चय ही चौंका देने वाली है । रिपोर्टर, थानेदार, एस0 पी0, डी0 एस0 पी0– सभी नत्थासिंह की गुंडागर्दी जानते हैं, किन्तु कोई उसको सजा नहीं दे पाता। सारी व्यवस्था, जिसके हाथ में जनता की सुरक्षा का बीड़ा है नपुंशक हो उठी है। गुंडे, बदमाश, पुलिस अधिकारी–सभी आपस में मिले होते हैं, फिर कौन किसका न्याय करे? सबके सब एक–से–एक ही थैली के चट्टे बट्टे है।"[147]

युवक बाशी अनवरत एक भय और असुरक्षा का अनुभव करता है। लगता है कि उसने रिपोर्ट लिखाकर अच्छा नहीं किया। गुण्डे समय आने परउससे अवश्य बदला लेंगे और यह भय उसे सोने नहीं देता– "महेन्द्र के सो जाने के बाद वह काफी देर तक साथ के कमरे से आती साँसों की आवाज सुनता रहा था– उस आवाज में उतनी सुरक्षा का अहसास उसे पहले कभी नहीं हुआ था। वह आवाज एक जीवित आवाज उसके बहुत पास थी और लगातार चल रही थी। जितनी जीवित वह आवाज थी, उतना ही जीवित था उसे सुन सकना–चुपचाप लेटे हुए, बिना किसी कोशिश के अपने कानों से सुन सकना।.... खिडकी से कभी–कभी हवा का झौंका आता जिससे रोंगटे सिहर जाते... शायद रोगटों में अपने अस्तित्व की अनुभूति।"[148] स्पष्ट ही इसमें महानगरीय जीवनगत सम्बन्धों की भयावहता और तज्जनित संत्रास पूरी सफाई के साथ अभिव्यंजित हुआ है क्योंकि

सुरक्षा और अस्तित्व का संकट आज के मानव की सबसे बडी समस्या है। डॉ0 सुरेश धींगडा इस कहानी के परिणाम की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं– ''बाशी का भय एक अकेले व्यक्ति का भय नहीं, बल्कि सम्पूर्ण समाज का भय है, जो परिवेशगत असुरक्षा के कारण उत्पन्न हुआ है। वह भय व्यक्ति के बाह्य जीवन में ही नहीं, उसके आंतरिक पक्षों तक व्याप्त है, क्योंकि वह अपने भीतर तक स्वंय को असुरक्षित और भयभीत पाता है। वह जानता है कि सुरक्षा प्रदान करने वाली सामाजिक संस्था भी उसे सुरक्षित नहीं रख सकती''[149] बाशी जैसे लोगों को अपनी सुरक्षा स्वयं करनी होगी, भले ही चाहे इसके लिए उन्हें अपना इलाका और मकान ही क्यों न छोड़ना पडे?

विभाजन की त्रासदी के कारण पारिवारिक विघटन

देश को एक ओर आजादी मिलती है तो दूसरी ओर विभाजन का ताप और दाह भी उसे झेलना पड़ा। विरूद्धों के इस सामंजस्य से कितने ही लोग घर से बेघर हो गये और कितनों को अपने भरे–पूरे परिवार में न केवल साजो सामान से हाथ धोना पड़ा वरन् अपनी संतति को भी छोड़कर इस ओर से उस ओर जाना पड़ा। विभाजन तो देश का हुआ पर साथ ही घर भी विभाजित हो गये और लोगों के दिलों के बीच एक विभाजक रेखा खिंच गई। यह दारूण और त्रासद स्थिति थी, जिसे सभी भोगने के इच्छुक न होते हुए भी विवश थे। सभी ने इसे सहा और सहने से ज्यादा झेला। देश में एक नया परिवेश बना–एक नई लहर दौड़ी और इसे गहरे तक अनुभव किया कलाकारों ने कथाकारों ने परिणामतः तत्प्रभावी साहित्य की सर्जना हुई। राकेश इसके एक खास अंग बने और इस सच्चाई को अपने कथा साहित्य के माध्यम से चित्रित करने मे भी अग्रणी रहे। इस विभाजन ने अपने प्रभाव तो अनेक रूपों में छोड़े किन्तु सशक्त प्रभाव दो रूपों में ही सामने आये। मानव–सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ और व्यक्ति को अपेक्षित सहायता और सहयोग नहीं मिलने के कारण वे विकृत, विघटित व फ्रस्ट्रेटेड होकर रह गये। विभाजन के नाम पर राजनैतिक हाथकण्डों के बीच मनुष्य की बर्बरता और अमानवीयता की स्पष्ट रेखा राकेश ने 'मलवे का मालिक', 'कम्बल' और 'क्लेम' कहानी में खींची है। ''राकेश ने इन कहानियों में भारत का यह रूप प्रस्तुत किया है जिसको इतिहास अपने पन्नों में दबाकर हमेशा–हमेशा के लिए सिसकता रहेगा''[150] मोहन राकेश इन कहानियों में कुछ कहना चाहते हैं परन्तु कहने का साहस नहीं जुटा पाते हैं। पर पात्रों का मूक क्रन्दन सब कुछ मुखरित कर देता है।

मलवे का मालिक

'मलवे का मालिक' एक ऐसे व्यक्ति की भावनाओं को अभिव्यक्त करती है जिसका घर परिवार हिन्दू मुस्लिम दंगों की भेंट चढ चुका है। कहानी में सामाजिक यथार्थ की खोज, उसके मूल्यों का निरूपण और संक्रमणशील दृष्टि मिलती है। कहानी केवल 'रक्खे पहलवान' या बुड्ढे गनी की नहीं, बल्कि विभाजन की विभीषिका से बचे उस मलवे की है जो हमारे सामने आज भी ज्यों का त्यो पड़ा है और जिसकी चौखट की सडी लकड़ी के रेशे झर रहे हैं। यहॉ मलबे का भी एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व उभरता है और हमारी चेतना उस जड़ से सम्पृक्त होती हुई, उस सारे अतीत से गुजरती हुई बार–बार वहीं लौट जाती है। मलवा भारत–पाकिस्तान के विभाजन के परिणाम तथा उजड़े हुए जीवन व टूटते हुए मूल्यों का प्रतीक है। विभाजन के साढ़े सात साल बाद मुसलमानों की एक टोली अमृतसर आती है और प्रत्येक स्थान का उत्सुकता से निरीक्षण करती है बहुत से लोग उनसे बहुत से सवाल पूछ रहे थे। इन सवालों में इतनी आत्मीयता झलकती थी कि लगता लाहौर एक शहर ही नहीं है, हजारों लोगों का सगा संबंधी है जिसके हाल जानने के लिए सभी अमृतसर के लोग उत्सुक हैं आने वालों में बूढा मुसलमान गनी भी है जो पहले अमृतसर में अपने पुत्र और पुत्रबधू के साथ रहता था। उसका पुत्र और परिवार हिन्दू पहलवान रक्खे द्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं। गनी खां एक नजर अपने मकान को देखना चाहता है तो पता चलता है कि वह मकान एक मलबे का ढेर बन कर रह गया है। रक्खा पहलवान ने इस मकान के लालच में ही उस मकान के रहने वाले परिवार को मारा था, किन्तु किसी ने उसे जलाकर खाक कर दिया है। बूढ़ा गनी यह सब नहीं जानता। वह मकान के अवशेष को देखकर बहुत दुःखी होता है और दरवाजे की टूटी चौखट से लगकर विलाप करने लगता है। रक्खा पहलवान मलवे को ही अपनी जायदाद समझता था। बूढा गनी रक्खे पहलवान को बाहें फैलाकर आवाज देता है। अपराधी रक्खा किंकर्तव्यविमूढ़ सा रह जाता है। गनी उससे पूछता है–

"तू बता रक्खे, यह सब हुआ किस तरह? गनी किसी तरह अपने आंसू रोक–कर बोला। तुम लोग उसके पास थे। सब में भाई–भाई की सी मुहब्बत थी। अगर वह चाहता तो तुम में से किसी के घर में नहीं छिप सकता था? उसमें इतनी भी समझदारी नहीं थी"[151] तो रक्खा केवल ऐसे ही है कहकर रह जाता है। गनी की बातों से उसकी नसों में एक तनाव आ जाता है। मार्मिक संवेदना का चित्रण राकेश जी ने कितना यथार्थ ढंग से किया है। "रक्खे ने सीधा होने की चेष्टा की क्योंकि उसकी रीढ़ की हड्डी बहुत दर्द कर रही थी। अपनी कमर और जांघों के जोड़ पर उसे सख्त दबाव महसूस हो रहा था। पेट की अंतडियों के पास से जैसे कोई चीज उसकी सांस को रोक रही थी। उसका सारा जिस्म पसीने

से भीग गया था और उसके तलुओं में चुनचुनाहट हो रही थी। बीच–बीच में नीली फुलझड़ियां– सी ऊपर से उतरती और तैरती हुई उसकी आंखों के सामने से निकल जातीं। उसे अपनी जबान और होठों के बीच एक फासला–सा महसूस हो रहा था।''[152]

यह मलवा ही टूटते और टूटे मूल्यों की सारी कहानी सुना देता है। रक्खे पहलवान की तरह हमारा एक वर्ग आज भी इन टूटे मूल्यों के मलवे पर, उसे ही अपनी जागीर समझे हुए बैठा है जबकि यह मलबा न तो उसका है, न गनी का, वह तो इतिहास हो चुका है, अब उसे हटना ही चाहिए, क्योंकि यही इतिहास और युगजीवन की प्रतिक्रिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'मलवे का मालिक' विभाजन के परिणाम स्वरूप विघटित परिवारों की ही कहानी नहीं है, बल्कि इसमें बदलते परिप्रेक्ष्य में मूल्यों की टूटन भी व्यक्त हुई है मूल्यों के ध्वंश और निर्माण के बीच की यह कहानी संकेत देती है कि कुछ इमारतें तो नई बन गई हैं, किन्तु पुराने मकानों के मलवे का ढेर अभी भी जहॉ–तहॉ पडा दिखाई देता है और इस ''अमानवीय विभीषिकाओं में रौंदे हुए गनी का बेटा चिराग, जुबेदा, किश्वर और सुल्ताना मलवे के भीतर से चीख रहे उनका मौन विलाप कहानी में आदि से अन्त तक कारूणिक ढंग से छाया हुआ है।''[153]

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यह कहानी केवल मलबे पर उन तमाम नवयुवतियों, नवयुवकों और बुजुर्गों की कहानी है जो हिन्दुस्तान पाकिस्तान के नाम पर टुकड़े–टुकड़े कर दिये गये हैं, जिन्हें बेइज्जत होते और कत्ल करते समय लोगों ने बन्द खिड़कियों के भीतर से देखा था।

कम्बल

'कंबल' भारत विभाजन के बाद कैम्पों में रहने वाले एक परिवार की कहानी है। विभाजन ने पारिवारिक सम्बन्धों को किस प्रकार प्रभावित किया है यह कहानी उसकी ज्वलंत तस्वीर पेश करती है। रात की ठंडक में यह परिवार कैम्प में पडा सर्दी से ठिठुर रहा है इनके पास गर्म कपड़े नहीं हैं, बेटी जवान है कम्बल बांटने वाले भी उन्हीं लोगों को कम्बल देते हैं जिनसे उन्हें कुछ लाभ हो सके, तभी तो अधसोई वनारसी पर कम्बल की कृपा हुई है–''बनारसी ने आंखें मूंद ली। जतलाना चाहा कि सो रही है। पर सोए व्यक्ति की तरह विखर नहीं सकी। पैरों की आहट का ठीक अनुभव हुआ। पास आकर कोई झुका किसी ने छत्रियों को छुआ।.... बनारसी कंपकंपाई। तभी सुखद सिहरन फैलगई। शरीर कम्बल से ढक गया। शीत का रोमांच बैठने लगा। नींद के अभिनय में जांधो–छातियों पर किसी के स्पर्श की उपेक्षा कर दी।''[154] मानवीय सम्बन्धों के पतन की यह प्रक्रिया बनारसी बाहरी लोगों के साथ तो झेलती ही है अपनों से भी वह शोषित होती है,

क्योंकि माँ राजू को साथ लिटा लेती है जिससे उसे सर्दी नहीं लगती है और अपने पति की उपेक्षा भी करती है। कंबल जब बनारसी पर पडता है तो वह गंगादेई छीन लेती है–"आधा कम्बल शरीर से खिंच गया था। खामोश रात में वर्षा का तीव्र स्वर फैल रहा था। बनारसी ने कम्बल को समेटने की चेष्टा की। झटके से कम्बल थोड़ा और हट गया। गंगादेई का स्वर नींद मे भी कर्कश था, डायन को अपने ही शरीर से मोह है। बच्चा पास पड़ा ठिठुर रहा है, उसे ढकने की चिंता नहीं। थोड़ा और छोड कम्बल, बच्चे को भी दो घडी सोने दे।" बनारसी ने आवेश में पूरा कम्बल फेंक दिया। कहा ले ले कम्बल। अपने ऊपर भी ले ले। मुझे ठण्ड खाकर मौत नहीं आएगी।"[155] सम्बन्धों की यह विडम्बना इतनी क्रूर हो जाती है कि इसने बनारसी के हृदय में, माँ के एवम समाज के प्रति एक आक्रोश को जन्म दिया और अंदर ही अंदर वह घुटती रही वह सोचती है कि आखिर मॉ गंगादेई ने उससे इतनी सर्दी में कंम्बल छीनकर कैसा मातृत्व निभाया है? यह मातृत्व बनारसी की ओर से छिल गया। "यह छिलन कहां है? यहां कि वह मां होने से पहले पत्नी है। पति स्वस्थ नहीं। सर्दी से ठिठुर रहा है। दूसरी छिलन और भी है। मातृत्व का उफनता व्यंग्य जो बोल पड़ता है। बनारसी की हर करवट बोलती है, ताना देती है"[156] मां का पुत्र के प्रति यह मातृत्व बनारसी एवम् पति रामसरन की आन्तरिक वेदना में अजनबी पन एवं अकेलापन का बोध कराता है। गंगादेई कंम्बल का त्याग नहीं कर पाती और पति रामसरन जीवन का परिणाम स्वरूप असहाय माँ बेटी रोती हैं अपनी विवश नियति पर। डॉ0 सुषमा अग्रवाल के शब्दों में "अभाव जीवन मूल्यों को किस तरह प्रभावित करते हैं यह तथ्य इस कहानी में बखूबी चित्रित है। कहानीकार की संवेदना यथार्थ से मिलकर यहॉ हृदय द्रावक हो उठी है।"[157]

क्लेम

'क्लेम' भारत–पाक विभाजन में बरबाद हुए लोगों की कहानी है। लोगों का सरकार से अपनी नष्ट हुई सम्पत्ति का क्लेम है, वे किसी न किसी तरह उसकी लूटी हुई सम्पत्ति की पूर्ति कर अपने विघटित परिवार बसाना चाहते हैं। क्लेम में शरणार्थियों को दी जाने वाली सरकारी सहायता के बटवारे को लेकर कशमकश चलती रहती है जिन्होंने अपनी वास्तविक जायदाद से अधिक क्लेम मॉगे उन्हें तो एक लम्बी चौडी रकम मंजूर हो गई जिन्होंने सत्य का आश्रय लिया वे घाटे में रहे। एक स्त्री का अठारह हजार का 'क्लेम' मंजूर होता है क्योंकि वह विधवा है "पीछे बैठी स्त्री रो रही थी कि बेड़ा गर्क हो 'क्लेम' मंजूर करने वालों का जो उसका सिर्फ अटठारह हजार का 'क्लेम' मंजूर किया गया है गुजरांवाला में उनके चार मकान थे और एक साढ़े तीन कनाल का बगीचा था। बगीचा चार कनाल का होता, तो उन्हें ज्यादा रूपया मिलता। अगर उन्हें पहले पता होता तो वे आधा

कनाल ज्यादा लिख देते...... वे अपनी सच्चाई में मारे गए''[158] विधवा की यह चाह बगल वाला बैठा पुरूष यह कहकर तोड देता है कि भाई तुम्हें तो कुछ मिल भी गया है ''यहाँ हम जैसे भी हैं जिन्हें आज तक एक पाई नही मिली। हमारा कसूर यही है कि मियां–बीबी दोनों सलामत हैं। मैं अगर मर–खप गया होता, तो मेरें बच्चों को भी अब तक दो रोटियॉ नसीब हो जाती। आखे मेरी अंधी हो रही है, जोड़ मेरे दर्द करते हैं कि लोग इन्सान की जरूरत को नहीं देखते, बस जीते और मरे हुए का हिसाब करते है। मुझे आज ये एक हजार दे दें तो मैं कोई छोटी–मोटी दुकान डालकर बैठ जाऊं। मेरे बच्चों के पास तो एक–एक फटी हुई कमीज भी नहीं है''[159] एक अन्य व्यक्ति अपनी जायदाद का कई गुना 'क्लेम' भरता है और उसे साठ हजार रूपया मंजूर हो जाता है इस पर उस स्त्री की जो प्रतिक्रिया हुई वह इस प्रकार है–''मैं कहती रही कि जितना छोड आये हो, उससे ज्यादा का क्लेम भरो। मगर ये ऐसे मूरख थे कि हठ पकड़े रहे कि जितना था उतने का ही क्लेम भरेगें पहले ही इतने दुःख उठाए हैं, अब और बेइमानी क्यों करें? आज ये मेरे सामने होते, तो मैं पूछती कि बताओ बेईमानी करने वाले सुखी हैं या हम लोग सुखी हैं? लोगों ने जितना छोड़ा था, उसका दुगना–तिगुना वसूल कर लिया, और मै बैठी हूँ छः हजार लेकर ! हाय, इन लोगों ने तो मेरे बच्चों को भूखों मार दिया''[160]

साधुसिंह का 'क्लेम' सरकार से नहीं है क्योंकि उसकी लूटी हुई पत्नी और आम का वृक्ष पुनः सरकार वापिस नहीं कर सकती। साधुसिंह का 'क्लेम' जानवर (घोडे) से है जो उसके जान को खैर मनाता है। साधुसिंह ने भी शादी की थी। और बडे अरमानों के साथ घर में आम का पेड़ लगाया था कि आम खायेगा परन्तु क्रूर नियति ने बलवा के रूप में उसे अपनी बीबी और मकान से हाथ धोने पर मजबूर कर दिया। परन्तु साधुसिंह अन्य लोगों की भांति 'क्लेम' में विश्वास न करके मेहनत को महत्व देता है– ''तेरी बरकत रही अफसरा, तो अपने पुराने दिन फिर आयेंगें ! खाले, अच्छी तरह पेट भर ले। अपने सब 'क्लेम' तुझी को पूरे करने है, तेरी जान की खैर....''[161]

'क्लेम' कहानी विभाजन की त्रासदी झेलते हुए उन टूटे हारे एवमं बिखरे लोगों की दास्तान कहती है जिन्होंने अर्थ के साथ–साथ अपनी संतानों को भी खो दिया है फिर भी अभी साधुसिंह जैसे साहसी लोग है जो सरकारी 'क्लेम' में विश्वास न कर खुद मेहनत की कमाई कर अपना घर परिवार बसाना चाह रहे है। डॉ सुषमा अग्रवाल 'क्लेम' की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखती हैं – ''परिवेश से अखड़ाव ही इस कथा की मूल संवेदना है। इसमें 'क्लेम' को आधार बनाकर न केवल तत्कालीन स्थिति को उभारा गया है, बल्कि यह भी सकेतित है कि विभाजन के कारण व्यक्ति टूटा है, परिवार विद्य टित हुए हैं और जीवन

विडम्बना बन कर रह गया है। मानव-मूल्यो में परिवर्तन हुआ है। परिणामतः मानव-सम्बन्ध भी अप्रभावित नहीं रहे हैं।"[152]

सन्दर्भ

1. बकलमखुद-मोहन राकेश, पृ0 सं0 118
2. नये बादल (भूमिका), मोहन राकेश, पृ0 1974
3. एक और जिन्दगी (भूमिका), पृ0 13
4. एक और जिन्दगी (भूमिका), पृ0 14
5. मोहन राकेश, परिवेश, पृ0 121
6. मोहन राकेश परिवेश, पृ0 198
7. कहानीः नयी कहानी – डॉ0 नामवर सिंह, पृ0 36
8. मोहन राकेश परिवेश, पृ0 203
9. मोहन राकेशः श्रेष्ठ कहानियां – सम्पादक :राजेन्द्र यादव, भूमिका, पृ0 6,7
10. धनंजय, हिन्दी कहानी का समकालीन सफर (लेख), सारिका, अगस्त, 74
11. आधुनिकता और मोहन राकेश – डा0 उर्मिला मिश्र, पृ0 56
12. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 56
13. मेरी प्रिय कहानियां – मोहन राकेश, पृ0 11
14. एक और जिंदगी, पृ0 278
15. एक और जिन्दगी, पृ0 280
16. आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ-डॉ0 नरेन्द्र मोहन, पृ0 79
17. बकलम खुद-मोहन राकेश, पृ0 66
18. परम्परा का नया मोडः रोमाटिक यथार्थ (लेख), आलोचना, 1965
19. अपरिचित, पृ0 95
20. अपरिचित, पृ0 96
21. आलोचना और साहित्य – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 153
22. आर्द्रा, पृ0 48
23. आर्द्रा, पृ0 48
24. आर्द्रा, पृ0 47
25. आर्द्रा, पृ0 47
26. कहानीकार मोहन राकेश, पृ0 54
27. हिन्दी कहानी एक अन्तरंग परिचय-उपेन्द्र नाथ अश्क, पृ0 253
28. ग्लास टैंक, पृ0 52-53
29. ग्लास टैंक, पृ0 55
30. ग्लास टैंक, पृ0 59
31. ग्लास टैंक, पृ0 53

32. ग्लास टैंक, पृ0 60
33. ग्लास टैंक, पृ0 63
34. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 62–63
35. फौलाद का आकाश, पृ0 113
36. फौलाद का आकाश, पृ0 115
37. फौलाद का आकाश, पृ0 114
38. फौलाद का आकाश, पृ0 114
39. फौलाद का आकाश, पृ0 117
40. हिन्दी की नयी कहानी का मनोवैज्ञानिक अध्ययन–मिथिलेश रोहतगी, पृ0 180
41. गुंझल, पृ0 380
42. गुंझल, पृ0 382
43. गुंझल, पृ0 382
44. गुंझल, पृ0 382
45. गुंझल, पृ0 383
46. गुंझल, पृ0 388
47. बकलम खुद, पृ0 125
48 आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र पृ0 58
49. पहचान, पृ0 273
50. पहचान, पृ0 270
51. पहचान, पृ0 273
52. कथाकृति मोहन राकेश – ओम प्रभाकर, पृ0 242
53. आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ0 61
54. सुहागिनें, पृ0 154
55. सुहागिनें, पृ0 115
56. सुहागिनें, पृ0 154
57. हिन्दी कहानी का विकास– मधुरेश, पृ0 82
58. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन– कान्ता (अरोडा) मेंहदीरत्ता, पृ0 152
59. आधुनिकता और हिन्दीकहानी– जगन सिंह, पृ0 48
60. कथाकृति मोहन राकेश, पृ0 242
61. क्वार्टर, पृ0 138
62. क्वार्टर, पृ0 126
63. आधुनिकता और हिन्दी कहानी – जगन सिंह, पृ0 44–45
64. क्वार्टर, पृ0 138
65. हिन्दी कहानी का विकास – मधुरेश, पृ0 81
66. आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ0 62

67. खाली, पृ0 28
68. खाली, पृ0 27
69. खाली, पृ0 30
70. खाली, पृ0 31
71. बकलम खुद–मोहन राकेश, पृ0 125
72. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन–कान्ता (अरोडा) मेहदीरत्ता, पृ0 153
73. कथाकृति–मोहन राकेश, पृ0 241
74. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 66
75. भूखे, पृ0 105
76. भूखे, पृ0 105
77. भूखे पृष्ठ, 104
78. भूखे पृष्ठ, 104
80. हकहलाल, पृ0 365
81. बकलमखुद, पृ0 112
82. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 70
83. जानवर और जानवर, पृ0 371
84. जानवर और जानवर, पृ0 371
85. जानवर और जानवर, पृ0 372
86. जानवर और जानवर, पृ0 371
87. हिन्दी कहानी अपनी जबानी – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 116
88. विवेक के रंग, पृ0 374
89. पॉचवे माले का फ्लैट, पृ0 267
90. पाँचवें माले का फ्लैट, पृ0 267
91. हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृ0 232
92. आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ0 68
93. मन्दी, पृ0 321
94. मन्दी, पृ0
95. मन्दी, पृ0 321
96. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन – कान्ता (अरोडा) मेंहदीरत्ता, पृ0 149
97. उसकी रोटी, पृ0 232
98. उसकी रोटी, पृष्ठ 234
99. कथा कृति मोहन राकेश – ओम प्रभाकर, पृ0 238
100. कथाकृति मोहन राकेश, पृ0 242
101. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 65
102. जख्म, पृ0 413

103. जख्म, पृ0 415
104. जख्म, पृ0 415
105. आधुनिकता और मोहन राकेश, पृ0 73–74
106. जख्म, पृ0 416
107. जख्म, पृ0 417
108. जख्म, पृ0 415
109. जख्म, पृ0 418
110. हिन्दी कहानी, पृ0 117
111. मिसपाल, पृ0 11
112. मिसपाल, पृ0 12
113. मिसपाल, पृ0 12
114. मिसपाल, पृ0 13
115. हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा – डॉ0 रामदरश मिश्र, पृ0 105
116. मिसपाल, पृ0 24
117. हिन्दी कहानी दो दशक, पृ0 54–55
118. मिसपाल, पृ0 14
119 हिन्दी कहानी अपनी जबानी, पृ0 117
120. वारिस, पृ0 420
121. वारिस, पृ0 421
122. वारिस, पृ0 423
123. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 88
124. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 74
125.मोहन राकेश की कहानियों में आधुनिकता– एम0 एस0 मुजावर, पृ0 73
126. जंगला, पृ0 88–89
127. जंगला, पृ0 187
128. जंगला, पृ0 187
129. जंगला, पृ0 192
130. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 77
131. चाँदनी और स्याह दाग, पृ0 445
132. चाँदनी और स्याह दाग, पृ0 445
133. चाँदनी और स्याह दाग, पृ0 446
134. चाँदनी और स्याह दाग, पृ0 446
135. चाँदनी और स्याह दाग, पृ0 47
136. कहानीकार मोहन राकेश – डॉ0 सुषमा अग्रवाल, पृ0 77
137. बलकमखुद – मोहन राकेश, पृ0 85

138. परमात्मा का कुत्ता, पृ0 324
139. परमात्मा का कुत्ता, पृ0 326
140. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 79
141. आखिरी सामान, पृ0 179
142. आखिरी सामान, पृ0 177
143. आखिरी सामान, पृ0 178
144. एक ठहरा हुआ चाकू, पृ0
145. गए ठहरा हुआ चाकू, पृ0 143
146. एक ठहरा हुआ चाकू, पृ0 145–46
147. हिन्दी कहानी का मूल्यांकन– कान्ता (अरोड़ा) मेंहदीरत्ता, पृ0 48–49
148. एक ठहरा हुआ चाकू, पृ0 147
149. हिन्दी कहानी दो दशक – डॉ0 रामदरश मिश्र, 1974, पृ0 140
150. आधुनिकता और मोहन राकेश–डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 80
151. मलबे का मालिक, पृ0 229
152. मलवे का मालिक, पृ0 230
153. आधुनिकता और मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 80–81
154. कंबल, पृ0 334
155. कंबल, पृ0 334–35
156. कंबल, पृ0 335
157. कहानीकार मोहन राकेश – डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 100
158. क्लेम, पृ0 109
159. क्लेम, पृ0 110
160. क्लेम, प0ृ 110
161. क्लेम, पृ0 112–13
162. कहानीकार मोहन राकेश – डॉ0 सुषमा अग्रवाल, पृ0 98

पंचम् अध्याय

मोहन राकेश के उपन्यासों में पारिवारिक विघटन का अंकन

अन्धेरे बन्द कमरे,
न आने वाला कल,
अन्तराल

पंचम् अध्याय

मोहन राकेश के उपन्यासों में परिवारिक विघटन का स्वरूप

मोहन राकेश के उपन्यासों– 'अंधेरे बन्द कमरे में' (1961), 'न आने वाला कल' (1968) तथा 'अंतराल' (1972) का काल स्वातन्त्रयोत्तर भारत का काल है और यह युग भौतिक युग तथा प्रगति का काल माना जाता है जिसने जीवन को आन्तरिक एवं बाह्य दोनों तरफ से प्रभावित किया है। भौतिक विकास के साथ हमारे जीवन में मानसिक प्रक्रिया में, रूचियों में और सम्बन्धों में, जटिलता आ गई है। आज व्यक्ति का बाह्य क्रिया कलाप और आन्तरिक अनुभूतियों की एक सूत्रता प्रायः समाप्त सी हो गयी है। आधुनिक मनुष्य अपने को बाहर से सन्तुलन नहीं रख पा रहा है। क्योंकि व्यक्ति अपने अंदर की अकुलाहट, छटपटाहट, कसमसाहट आदि से पीडित है।

डॉ0 देवराज के कथनानुसार – ''आधुनिक युग में शायद ही कोई उपन्यास मिले, जिसमें पुराने उपन्यासों की तरह कथा एक पंक्ति की सीध में विकसित होती हुई दिखलाई पड़े।''[1] क्योंकि आधुनिक व्यक्ति के क्रिया कलाप और आन्तरिक अनुभूतियों की एक सूत्रता नष्ट होती जा रही है। औद्योगिक सभ्यता ने आज के आदमी को बहुत अधिक औपचारिक आवरण में जीने के लिए बाध्य कर दिया है जिससे वर्तमान व्यक्ति अपने भावों को सहज ही छिपाने के लिए विवश हो गया है। आधुनिकीकरण के सन्दर्भ में आदमी की मानसिक प्रक्रिया, रूचियां और जीवन की जटिलता बढ़ती जा रही हैं। इसलिए आज का लेखक वास्तविकता के इस पहलू को और मानव के आन्तरिक जगत् को अपनी रचनाओं में मूर्तिमान करता है। मानव जीवन के अन्तर्तम रूप को मूर्त कर देना ही आज के उपन्यास को अन्य साहित्यिक रूप विधानों से प्रथक करता है। मोहन राकेश के उपन्यासों में नायक की धारणा या चरित्र और सिलसिलेवार कथा का मोह नहीं है। वे एक मुख्य मनः स्थिति से जुड़े हुए अनेक प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं जिससे बाह्य परिवेश भी भीतरी संदर्भ में परिवर्तित हो गये हैं। बाहर की हलचल उनके भीतर की हलचल बन गई है जिससे राकेश जी का साहित्य कथा के रचाव की दृष्टि से चरित्र के मिथ को तोड सका है और उनकी रचना नये रूप में परिकल्पित हुई है। प्राचीन औपन्यासिक विधान में रद्दोबदल का संकेत उनके उपन्यासोंके माध्यम से मिलता है। राकेश की रचनाओं में (कहानी, उपन्यास और

नाटक) पूरे दौर को मानवीय सम्बन्धों और उनके संकटों को पकडने का प्रयास किया गया है, विशेषकर बदलते हुए या टूटते हुए सामाजिक मूल्यों के सन्दर्भ में व्यक्ति के निजी सम्बन्धों की, स्त्री–पुरूषों के रिश्तों की दरारों को उन्होंने बार–बार कई तरह से पहचानने की कोशिश की है। उल्लेखनीय है कि ये सम्बन्ध या उनके विघटित हुए रूप आज के ही आदमी के अनुभव को परिभाषित करते हैं उनकी रचनाओं में स्त्री अक्सर नौकरी करने वाली है। जैसे कहानियो में 'सुहागिनें की मनोरमा', 'एक और जिन्दगी' की बीना, 'पहचान' की मिसेज सचदेव, नाटकों में 'आधे अधूरे' की 'सावित्री' और उपन्यासों में 'अन्तराल' की श्यामा और 'अन्धेरे बन्द कमरे' की नीलिमा आदि अनेक ऐसी नारियां हैं जो किसी न किसी रूप में अपने स्वतन्त्र जीवन की तलाश करती हैं लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में प्राचीन सामन्तवादी पुरूष की मानसिकता से जूझकर अकेली पड़ जाती हैं या उनमें टूट कर जुडे रहने की छटपटाहट बनी रहती है।

मोहन राकेश एक स्थान पर लिखते हैं कि "मेरी रचनायें सम्बघों की यन्त्रणा को अपने अकेलेपन में झेलते लोगों की कहानियां हैं........ उनकी परिणति किसी तरह के सिनिसिज्म में नहीं, झेलने की निष्ठा में है।"[2] इसी सत्यता को उजागर करते हुए मोहन राकेश के उपन्यासों परविचार प्रकट करते हुए डॉ0 ज्ञान अस्थाना लिखते हैं कि "मोहन राकेश के तीनों उपन्यासों 'अंधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल', 'अन्तराल' में आधुनिक जीवन की विसंगतियों में संगति न ढूंढ पाने की विवशता है। कम से कम 'अंधेरे बंद कमरे' में जीवन अपनी संस्कार बद्धता के कारण विवश है। 'न आने वाला कल' में विवशता की यह जकड कुछ ढीली पड़ी है। 'अन्तराल' में इसे खुली छूट मिली है सम्बन्धों को खोजने के लिए और इस खोज का परिणाम है 'अन्तराल' – जीवन में कभी न पटने वाली खाई।"[3] निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि राकेश के उपन्यास मूल रूप से स्त्री–पुरूष के द्वन्द्व को लेकर चलते रहते हैं और इस द्वन्द्व में परिवार रूपी संस्था की धुरी पति–पत्नी ही केन्द्र में रहते हैं।

मोहन राकेश के उपन्यासों का मूलाधार दाम्पत्य–जीवन है। मूलाधार इस अर्थ में कि उनके तीनों उपन्यासों की तमाम अवान्तर कथाएं और लगभग सभी प्रश्न दाम्पत्य जीवन के ही किसी न किसी रूप या पक्ष से उद्‌भूत है। आधुनिक, उन्नति अहं, आत्म केन्द्रित, बुद्धिजीवी, महानगर–निवासी स्त्री–पुरुष जो परम्परा से चले आये सम्बधों में आबद्ध हैं। मोहन राकेश के उपन्यासों में उन सम्बन्धों की जांच–पड़ताल या छानबीन करते अथवा उन सम्बंधों के संदर्भ में निजी व्यक्ति जीवन की सार्थकता तलाशते या निजी–व्यक्ति जीवन के संदर्भ में

उन सम्बन्धों की अर्थवत्ता खोजते हुए दिखाई देते हैं इसलिए उन्होंने इन पारम्परिक मानवीय सम्बन्धों में सर्वप्रथम पति–पत्नी सम्बन्ध का ही अपने उपन्यासों की आधारिक विषय–वस्तु बनाया है ; शायद वह इसलिए कि मानव–समाज का यही सम्बन्ध सबसे अधिक गहन व्यापक और प्रमुख है कि अन्य सम्बन्ध उपसम्बंध इसी से जन्म लेते हैं इसके अतिरिक्त दाम्पत्य जीवन को ही अपने उपन्यासों की विषयवस्तु चुनने के पीछे राकेश जी के सामने आधुनिक मानव–समाज का वह साम्प्रतिक रूप भी हो सकता है जिसमें विभिन्न सम्बन्धों से भरे पुराने, बड़े और सम्मिलित परिवार टूटते जा रहे हैं तथा परिवार नाम की संस्था पति–पत्नी (और एक या दो बच्चे) तक ही सीमित होती जा रही है। इस तरह पति–पत्नी के जीवन–सम्बन्धों को अपनी औपन्यासिक–कृतियों की आधारभूत विषय–वस्तु बनाकर मोहन राकेश मानों आज के मानव–समाज के मूल सम्बन्ध, उसकी मूल संस्था को उद्घाटित और विश्लेषित करना चाहते हैं।

मोहन राकेश ने 'अंधेरे बंद कमरे' की भूमिका में रचना के कथ्य की ओर संकेत करते हुए हरबंश और नीलिमा के अंतर्द्वन्द्व की कहानी (भी) कहा है। प्रश्न यह उठता है कि अंतर्द्वन्द्व क्यों? और कैसा? चली आयी भारतीय समाज व्यवस्था के अनुसार तो 'अर्धांगिनी' और 'जीवन संगिनी' 'पत्नी तथा भर्ता' और परमेश्वर पति के मध्य किसी द्वन्द्व का स्थान ही नहीं है। 'पति की अनुयायिनी' पत्नी–पति के प्रति तथा 'योषिता और पोषिता' पत्नी के प्रति भला द्वन्द्व की स्थिति में कैसे हो सकता है? पारंपरिक समाज और उसके दर्पण पहले के साहित्य में ऐसा होता भी नहीं था। या होते हुए भी हमारी पारंपरिक दृष्टि उसे स्वीकार नहीं करती थी; कहीं–कहीं आज भी नहीं करती। लेकिन, जोर देकर कहने की आवश्यकता नहीं कि यह दृष्टि अधूरी और नकारात्मक थी। यह दृष्टि पति और पत्नी को एक 'व्यक्ति' न मानकर उनकी अस्मिता को नकारती हुई उनकी वास्तविकता को भी झुठलाती थी। ऐसी स्थिति में जब आज का कथाकार पति और पत्नी के मध्य जैसे ही द्वन्द्व की दशा को स्वीकार करता है, उसी क्षण वह पारंपरिक समाज तथा पुरानी दृष्टि को एक झटके से निरस्त कर केवल समाज के बदले हुए आधुनिक रूप को ही स्वीकार नहीं करता अपितु पति और पत्नी के प्रथक–प्रथक स्वतन्त्र अस्तित्व को भी स्वीकृति प्रदान करता है। आज पति और पत्नी एक साथ रहते हुए भी, आसंगबद्ध होते हुए भी एक–दूसरे के लिए अपने–अपने अहं के विलयन हेतु तैयार नहीं है। इसका एक मात्र कारण है अहं का घोषित स्वीकार तथा व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता की स्थापना । अपने अहं की

रक्षा और स्वतंत्र व्यक्ति की इस स्थापना की धारणा ही पति और पत्नी के मध्य द्वन्द्व को जन्म देती है।

'अंधेरे बन्द कमरे' की "नीलिमा इब्सन के 'ए डॉल्स हाउस' की नोरा की तरह अपने लिए पति को सोचने का समस्त अधिकार देकर छुट्टी पा लेना नहीं चाहती।"[4] जबकि उसका पति "हरबंश ... उसमें वही आदिम (पारपरिक) भावना कार्य कर रही है कि वह पति होने के नाते नीलिमा का रक्षक, निर्देशक और नियंता है। वह चाहता है कि नीलिमा आर्थिक या शारीरिक कारणों से ही नहीं, अपनी व्यक्तिगत पूर्णता और सार्थकता के लिए भी उसी पर आश्रित रहे—न सही उस पर, उसके मूल्य—दर्शन पर ही।"[5] बस, मूल द्वन्द्व यही है। मोहन राकेश के 'अंधेरे बंद कमरे' में हरबंश और नीलिमा नामक पति—पत्नी के दाम्पत्य जीवन के बहाने आधुनिक समाज के "उस औसत दाम्पत्य जीवन की कहानी है जो ऊपर से तो ईष्या की हद तक सुखी और संतुलित दिखता है, लेकिन जिसके भीतर एक अजब कुहासा, घुटन और 'कॅआस' बसा हुआ है"[6] इसमें सन्देह नहीं कि मोहन राकेश ने अपने इस उपन्यास में विवाह की संस्था और उसके दोनों कर्ताओं—पति और पत्नी—की आंतरिक पर्तों को उधेडकर दाम्पय—सम्बन्धों के जो बारीक—से—बारीक रोयें—रेशे प्रस्तुत किये हैं वे कथाकार की अपनी क्षमता के तो प्रमाण हैं ही साथ ही, इस प्राचीन सामाजिक संस्था के प्रति कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न भी उठाते हैं कि मानव—समाज के भावी रूप के हित में जिनका समाधान भी अपेक्षित है। पूरे उपन्यास में पृष्ठ दर पृष्ठ फैले हरबंश और नीलिमा के आपसी विवाद, प्रायः नित्य ही उनका छोटी—छोटी बातों पर आपस में उलझ जाना, दोनों का ही स्वयं को सही सिद्ध कर पाने की मानसिक तृप्ति के लिए मधुसूदन जैसे किसी तीसरे साक्षी की शरण में जाना, रोज के चाहे—अनचाहे विवादों के कारण दोनों को स्वयं और जीवन में बढ़ती हुई अरूचि, ऊपर के तमाम विवादों और तानों—झगड़ों के बावजूद दोनों की यह प्रच्छन्न कोशिश कि सम्बन्धों का आंतरिक सूत्र अनटूटा बना रहे, बार—बार एक दूसरे से भागना और फिर लौट कर मिलना आदि स्थितियां और उनका विशद चित्रण अंततः पाठक को विवश कर देता है कि वह दाम्पत्य जीवन की इन भीतरी असंगतियों से दो—चार होने पर युग युगों से चली आयी विवाह नाम की इस सामाजिक संस्था की सार्थकता के बारे में एक बार फिर नये सिरे से सोचे। यह सत्य है कि हरबंश और नीलिमा के दाम्पत्य जीवन से साक्षात्कार करता पाठक एक बार तो पति—पत्नी अभिधानक समान—व्यवस्था के इन मूलाधारों के प्रति न केवल शंकाकुल हो उठता है, अपितु घबरा उठता है। समाज के इस आधारित सम्बन्ध के प्रति सहसा उसका पारंपरिक विश्वास विचलित

हो उठता है और इस दृष्टि से लगता है कि मोहन राकेश ने अपना रचना–हेतु पूर्ण सफलता के साथ प्राप्त किया है।

लेकिन, थोडी और गहरी तटस्थ दृष्टि से देखने पर अर्थात लेखक द्वारा आयोजित स्थिति–परिस्थितियों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर सहसा ही ऐसा भी प्रतीत होता है कि हरबंश और नीलिमा का यह विवाद वास्तविक नहीं, बल्कि जान बूझकर अकारण खडा किया हुआ विवाद है। निरपेक्ष विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि दाम्पत्य जीवन के संबध में प्रस्तुत हरबंश और नीलिमा (अर्थात लेखक) की ये सारी प्रश्न वाचक मुद्राएं सतही और वायवीय हैं। इस दाम्पत्ति के तमाम विवादों, समूचे तनाव और समपूर्ण द्वन्द्व के पीछे कोई भी ठोस और उचित कारण खोज पाना पाठक के लिए संभव प्रतीत नहीं होता।.... हरबंश और नीलिमा के द्वन्द्व में से कोई शरीरिक रूप से अक्षम है? नहीं। क्या उनके पारस्परिक दाम्पत्य सम्बन्धों में किसी अन्य व्यक्ति के कारण कोई दरार है? नहीं। .... आशय यह कि आर्थिक, शारीरिक, सामाजिक, नैतिक मानसिक आदि किसी भी दृष्टि से कोई भी निश्चित कारण नहीं है जिसे उनके द्वन्द्व के लिए मूलतः रेखांकित किया जा सके। तब फिर द्वन्द्व क्यों है? बार–बार परस्पर विरोधी बातें और हरकतें करते समय इस दंपति के द्वन्द्व का कोई भी यथार्थ, निश्चित और औचित्यपूर्ण कारण अपने इस वृहत और बहुचर्चित उपन्यास में मोहन राकेश नहीं दे सके हैं।

ज्ञानोदय 'खुले और रोशन कमरे के सवाल' नामक शीर्षक के अर्न्तगत सुधा अरोड़ा ने मोहन राकेश से 'अन्धेरे बन्द कमरे' उपन्यास के बारे में कुछ प्रश्न पूछे थे। हरबंश का चरित्र एक विचित्र या कहा जाय अटपटा चरित्र है। सामान्यतः पाठक उसे जितना क्रियाशील–हर स्थिति पर प्रतिक्रिया करने वाला पाता है वस्तुतः वह उतना सक्रिय है नहीं। और उसकी यह दृश्य सक्रियता तब व्यर्थ प्रतीत होने लगती है जब पाठक सोचता है "हरबंश के टूटने का स्पष्ट कारण क्या है? नीलिमा? या नीलिमा की उसकी पत्नी होना? या वैवाहिक बंधन? या नीलिमा को न समझने की असमर्थता या अपनी दुर्बलता या फिर शुक्ला के प्रति एक अस्पष्ट–सा आकर्षण।"[7] और यह सत्य भी है कि क्यों तो हरबंश लंदन जाता है; यदि नीलिमा से बचने के लिए तो फिर क्यों वहॉ से पत्र पर पत्र लिखकर नीलिमा को बुलाता है? जब वह नहीं चाहता कि नीलिमा अपने नृत्य का सार्वजनिक प्रदर्शन करे तो क्यों – ऊपरी ही सही वह उसको सहयोग देता है? जब नीलिमा उसका घर छोडकर चली जाती है तो एक 'अंधेरे बंद कमरे' में अकेले शराब पीने के अतिरिक्त वह क्या ठोस कार्यवाही करता है? और जब नीलिमा लौट आती है तब क्या करता है? वह क्यों नहीं स्पष्ट करता कि शुक्ला

के प्रति उसका क्या स्टैंड है? ऐसे अनेक प्रश्न जो हरबंश के चरित्र को अविश्वसनीयता प्रदान करते हैं उपन्यास में अनुत्तरित ही रह गये हैं कि जिनके कारण हरबंश भी मूलतः एक आरोपित निर्मित चरित्र प्रमाणित होता है।

न्याय नहीं होगा यदि हरबंश के चरित्र के सम्बन्ध में उठाये गये इन प्रश्नों के समाधान हेतु उपन्यासकार मोहन राकेश के शब्द (जब उपलब्ध है तो) उद्धत न किये जायें। 'ज्ञानोदय' के जुलाई 65 अंक में सुधा अरोडा के प्रश्नों के उत्तर में राकेश लि.खते हैं, ''हरबंश ..... उसका अंतर्द्वन्द्व किन्हीं मूल्यों को लेकर है जबकि नीलिमा का अंतर्द्वन्द्व मुख्य रूप से उपलब्धि की खोज पर आश्रित है।..... वह टूटता है क्योंकि वह नीलिमा को उपलब्धि से हटकर मूल्यों के स्तर पर जीना सिखाना चाहता है और नहीं सिखा पाता।.... वह टूटने से बचने के लिए नीलिमा से दूर भागता है, मगर अंदर के रेशों से वह इस तरह उससे जुडा हुआ है कि उससे अलग होकर वह किसी भी तरह नये सिरे से जिंदगी शुरू नहीं कर पाता।. ... हरबंश को नीलिमा के 'बनने' से चिढ़ नहीं है (जैसा कि नीलिमा भी कई बार कहती है), बल्कि उस रास्ते के 'बनने' से चिढ़ है जिसे वह अपनी जिंदगी में अपना रही है।''[8] सुधा अरोड़ा द्वारा और कुछ प्रश्नों का उत्तर देते हुए स्वयं मोहन राकेश ने लिखा है,..... ''उपन्यास का संबंध आज के यथार्थ से है। यह यथार्थ एक गतिरोध है– मध्यवर्ग के दाम्पत्य सम्बन्धों में आया एक गतिरोध। हरबंश और नीलिमा इस गतिरोध में रहकर छटपटाते हैं पर इससे उबर नहीं पाते।.... आरम्भ से अन्त तक वे तनाव और निष्फल संघर्ष की स्थिति में जीते हैं। सारी कोशिशों के बावजूद जहाँ के तहाँ बने रहना उनकी अनिवार्य स्थिति है– स्थिति, नियति नहीं।''[9]

मोहन राकेश के दूसरे उपन्यास 'न आने वाला कल' का मूल कथ्य तो कुछ और ही है, लेकिनउसमें भी मनोज और शोभा के दाम्पत्य जीवनका काफी संक्षिप्त लेकिन बहुत ही संश्लिष्ट चित्र लेखक ने प्रस्तुत किया है। सात साल विवाहित रहने के बाद शोभा की दूसरी शादी मनोज से होती है, और मनोज ने अपनी जिंदगी के पैंतीस लंबे वर्ष अकेले रहकर गुजारने के बाद यह पहली बार शादी की है और अब उन दोनों की स्थिति क्या है (मनोज के शब्दों में) –.... ''उसकी (शोभा की) नजर में मैं अब भी एक अकेला आदमी था, जिसका घर उसे संभालना पड रहा था जबकि मेरे लिए वह किसी दूसरे की पत्नी थी, जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था।''[10] न केवल इतना, बल्कि यह भी कि, ''.... एक दूसरे की बढ़ती पहचान हमारे अंदर एक औपचारिकता में ढलती गयी थी। यह जान लेने के बाद कि न तो हम अपनी–अपनी हदें तोड सकते हैं

और न ही एक–दूसरे की हदबन्दी को पार कर सकते हैं, हमने एक युद्ध–विराम में जीना शुरू कर दिया था।"[11]

'न आने वाला कल' में चूँकि लेखक ने रचना के मूल कथ्य के रूप में मनोज द्वारा अपनी नौकरी से त्यागपत्र देने तथा उस पर उसके सहयोगियों की प्रतिक्रिया को मुख्य प्रतिपाद्य बनाया है अतः मनोज और शोभा का दाम्पत्य–जीवन गौण स्थिति में चला गया है। फिरभी इस उपन्यास में मोहन ने दो वयस्क स्त्री–पुरूषों के निजी पति–पत्नी सम्बन्धों को बहुत स्पष्ट और संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। पैंतीस वर्ष की वय तक के अकेलेपन से ऊब कर मनोज ने शोभा से शादी तो कर ली लेकिन अब स्थिति है कि (मनोज के शब्दों में) "अपनी ही इच्छा और जिम्मेदारी से हम लोगों ने अपने लिए एक परिस्थिति खड़ी कर ली थी, जिससे उबरने का उपाय दोनों को ही नहीं आता था। इसके बाद साथ रह सकना लगभग असम्भव था, पर सम्बन्ध विच्छेद की बात दोनों अपने अपने कारणों से जबान पर नहीं ला पाते थे। शोभा के लिए प्रश्न था विरोधी परिस्थितियों में लिए गए अपने निर्णय का मान रखने का, मेरे लिए पहले की बनी अपनी गलत तस्वीर को सही साबित न होने देने का।"[12]

आशय यह है कि मनोज और शोभा भी 'अंधेरे बंद कमरे' के हरबंश और नीलिमा की भाँति अकारण के संकट से ग्रस्त हैं। अपने–अपने अहं की मीनार में कैद दोनों उसे सुरक्षित बनाये रखने के प्रयत्नों में अपने जीवन की सुख–सुविधाओं का बलिदान कर रहे हैं। किसी अन्य पुरूष के साथ सात–वर्ष दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर चुकने वाली शोभा मनोज नाम के इस दूसरे पुरूष की पत्नी बनकर स्वयं को इसके अनुरूप बदलने के लिए कतई तैयार नहीं है और दूसरी ओर मनोज है, जो पुरूष होने के नाते यह कतई गवारा नहीं करता कि वह एक स्त्री के लिए स्वयं को बदले। अपने–अपने अहं के चौखटों में कैद दोनों विच्छिन्न भी नहीं होते; क्योंकि विच्छेद के लिए प्रवर्तन करनेवाले को अपना अहं टूटता प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में मानसिक पीड़ा और द्वन्द्व सहते रहने के अतिरिक्त दोनों के सामने कोई अन्य रास्ता नहीं है। लेकिन फिर वही प्रश्न उठता है कि क्या इन दोनों की यह स्थिति और इसका कारण यथार्थाधारित है? क्या ये दोनों सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत करना चाहते हैं? निश्चित रूप से नहीं यदि वे ऐसा चाहते तो दोनों या दोनों में से कोई एक स्वयम् को दूसरे के अनुकूल बदल या ढाल सकता है। लेकिन चूंकि ये दोनों चरित्र ही लेखक की मानसिक कृतियां हैं, इसलिए इनका जीवनऔर द्वन्द्व भी मानसिक ही है, वास्तविक नहीं। वास्तविक जीवन जीते यथार्थ जगत के दम्पत्ति एक–दूसरे के अनुरूप जीवन में न जाने

कितने समायोजन करते रहते हैं। इस प्रकार देखा जाय तो 'न आने वाला कल' में अनेक पात्र – थोडी–थोड़ी देर के लिए आते हैं और जीवन के प्रति असन्तोष और ऊब व्यक्त करते हैं। शारदा–कोहली, टोनी व्हिसलर, चेरी लारा, मिसेज ज्याफ्रे, रोज ब्राइट, मिसेज दारूवाला पादरी, माली क्राउन, बानी, फकीरे काशनी और पादरी ये सारे पात्र एक पहाड़ी स्कूल की जिन्दगी के साथ जीते हुए भी इतने अकेले हैं कि अपने सिवा और किसी के अकेलेपन को महसूस तक नहीं कर पाते। अपने–अपने काम से अपने परिवेश से वे बेजार हैं लेकिन वे अपने परिवेश से इस प्रकार बंधे हैं कि उससे छिटककर दूर भी नहीं हो पाते अर्थात वे अपने आप में विवश हो जाते हैं। नायक मनोज आदि से अन्त कि अनिश्यात्मक स्थिति में रहता है। वह छुटकारा पाना चाहता था परन्तु किससे? नौकरी से पत्नी से? किसी चीज से? वह स्वयं नहीं जानता कि उसने त्यागपत्र क्यों दिया?

मोहन राकेश के प्रथम दो उपन्यासों की भांति ही तीसरे उपन्यास 'अन्तराल' में भी समस्या ग्रस्त दाम्पत्य जीवन का चित्रण है, बल्कि कुछ ज्यादा ही है लेकिन यहां भी समस्या का उत्स वही मानसिक है, वास्तविक जीवन जगत से परे। 'अंधेरे बन्द कमरे' के हरबंश और नीलिमा में अहं और विचारों भावनाओ का टकराव है, 'न आने वाला कल' की शोभा मनोज को अपने अनुरूप नहीं ढाल पाती तो 'अंतराल' की श्यामा की भी अपने पति से यही शिकायत है कि वह उसके अहं की लगातार उपेक्षा करता हुआ, अपने व्यक्तित्व को उस पर बलात आरोपित करता हुआ डेढ़ वर्ष तक दाम्पत्य जीवन बिताकर अचानक संसार से चला गया।

श्यामा–कुमार के सम्पर्क में जब आती है तब उसके पति के मरे हुए तीन वर्ष गुजर गये हैं ऐसी परिस्थितियों में एक बार फिर उसके भीतर की नारी पुरूष प्राप्ति की आकांक्षा से भर उठती है। श्यामा ने देव को पति रूप में प्राप्त कर अपने नारी–जीवन को सर्वांशतः उसी एक पुरूष में विसर्जित कर देना चाहा था, लेकिन दो– एक जागतिक तथा अधिसंख्य मानसिक असंगतियों के कारण ऐसा नहीं हो सका। देव के श्यामा के प्रति लगातार के विरक्ति पूर्ण व्यवहार ने श्यामा को उसके प्रति एक विद्रोह भरे क्षोभ से भर दिया। अचानक देव के देहांत ने जैसे उससे श्यामा के सम्बन्धों को वहीं 'स्थिर' कर दिया है। श्यामा अब न तो अपने क्षोभ को ही व्यक्त कर सकती है और न देव की आंतरिक भावनाओं को ही जान सकती है और अब शेष जीवन उसे उसी क्षोभ की मनः स्थिति को ढोते हुए व्यतीत करना है। यही कारण है कि श्यामा अब भी देव के व्यक्तित्व के प्रभाव से मुक्त नहीं है। उसे लगता है कि देव जीवित अवस्था में तो उसके साथ रहकर

लगातार उसकी उपेक्षा करता रहा है और अब अचानक मरकर तो जैसे उसने श्यामा को आखिरी बार भी एक बड़ा धोखा देकर पराजित कर दिया। अब तो उससे अपने विद्रोह को प्रकट करने की भी कोई सम्भावना नहीं रही। 'अंतराल' के तीनों खण्डों में विविध प्रसंगों में उल्लिखित श्यामा के विचार उसकी उपर्युक्त बाह्मांतरिक दशा को ही व्यक्त करते हैं।

सांस्कारिक असंगति और अहं के टकराव से उत्पन्न असामंजस्य से भरे देव और श्यामा के दाम्पत्य–जीवन के अतिरिक्त 'अंतराल' में दाम्पत्य जीवन के दो अन्य रूप भी अंकित किये गये हैं। पहला है "श्यामा के जीजा प्रो० मल्होत्रा का जो अपनी पत्नी–बच्चों के साथ रहते हुए भी लगातार अन्य स्त्रियों और लड़कियों से यौन–तृप्ति करने की घात में बने रहते हैं।"[13] और दूसरा है कुमार का जो बंबई आकर लगातार के अकेलेपन से ऊबकर किसी परिचित द्वारा बताई गयी एक स्त्री से विवाह तो कर लेता है लेकिन "छः माह से अधिक उसका विवाहित जीवन नहीं चल पाता। परिस्थिति विशेष से विवश हुई वह स्त्री कुमार से विवाह तो कर लेती है, लेकिन जैसे ही स्थितियां उसके अनुकूल होती हैं, वह उसे छोडकर चली जाती है।"[14] दाम्पत्य जीवन के ये दोनों ही रूप विशेष उल्लेख्य नहीं हैं। उपन्यासकार ने भी इन्हें अधिक महत्व नहीं दिया है तथा यों भी ये दोनों ही रूप सामान्य जीवन–जगत में आये दिन होने वाली घटनाओं और रहने वाले व्यक्तियों के उदाहरण मात्र ही हैं। हॉ इतना अवश्य है कि इनमें से कुमार वाले प्रसंग के द्वारा कुमार के दाम्पत्य जीवन के बारे में विचारों का परिचय अवश्य मिल जाता है। श्यामा जब पूछती है कि उस स्त्री के साथ उसने कैसा अनुभव किया तो कुमार प्रकारांतर से विवाहित जीवन के बारे में ही अपने विचार प्रकट करता है, मुझे "सिवाय शरीर के कुछ नहीं मिला। उसे भी मुझसे केवल इतना ही मिला होगा। ..... और जो था, वह था केवल एकडर। बात अपने तक रहे, किसी को पता न चले। जितना सड़ना है, अंदर ही अंदर सड़ो। उसी सड़ांध और जहर से बच्चे पैदा करो और उन्हें भी उसी ढंग से जीने की शिक्षा दो। अपनी स्वाभाविकता के साथ विश्वासघात करो और ऐसा करने की परम्परा को बनाये रखो।"[15]

कुमार अस्तित्ववादी दर्शन से. प्रभावित लगता है उसे अपने अहं के सिवाय कुछ नजर ही नहीं आता है वह दूसरों की भावनाओं का कुछ ख्याल ही नहीं करता है क्योंकि विवाहित जीवन के बारे में कुमार के ये विचार स्वयं ही स्पष्ट कर देते हैं कि दाम्पत्य जीवन केवल शरीर सुख और संतानोत्पत्ति का ही नाम नहीं है, उसमें मानसिक सामंजस्य और भावात्मक प्रेम भी जरूरी है। यहॉ

आकर जैसे कुमार और श्यामा के विचार एक बिन्दु पर मिल जाते हैं। श्यामा की पीड़ा और समस्या भी यही है कि देव से न तो उसकी मानसिक संगति ही बैठ सकी और न वह उससे हार्दिक स्नेह ही पा सकी। शोभा और मनोज के विच्छेद के पीछे भी उनका मानसिक आसामांजस्य ही है और यही आन्तरिक असंगति हरबंश और नीलिमा के दाम्पत्य–जीवन की प्रमुख समस्या है।

आशय यह कि मोहन राकेश के उपन्यासों में वर्णित दाम्पत्य जीवन समस्या ग्रस्त दाम्पत्य–जीवन है और उसकी एक मात्र समस्या है पति–पत्नी का मानसिक असामांजस्य, ऐसा मानसिक असामंजस्य जिसके पीछे कोई यथार्थ भौतिक कारण नहीं है।

'अंधेरे बन्द कमरे'

'अंधेरे बन्द कमरे' कालक्रम की दृष्टि से मोहन राकेश का प्रथम उपन्यास है। 'अंधेरे बन्द कमरे ' की कथावस्तु के विशद विवेचन से पूर्व यह समीचीन होगा कि उसके संक्षिप्त कथानक से परिचय प्राप्त कर लिया जाय। इस उपन्यास की सम्पूर्ण कथा चार शीर्षक हीन खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड का आरम्भ उपन्यास के वाचक 'मैं' – जो कि कथा का सूत्रधार और नायक भी है तथा जिसका नाम मधुसूदन है की इस सूचना से होता है कि वह नौ साल बाद लखनऊ से दिल्ली लौटा है और अपने मित्र हरबंश के साथ कनाट–प्लेस के काफी हाउस में काफी पीता हुआ पूर्वदीप्ति पद्धति के द्वारा उस काल खण्ड को प्रस्तुत करता है जब नौ साल पहले वह बम्बई में रहता था और उस महानगर के ऊब भरे जीवन को छोड़कर कहीं चला जाना चाहता था। कथा के अन्य प्रमुख पात्र और मधुसूदन के मित्र हरबंश से उसका परिचय बंबई में ही हुआ था। बम्बई से मधुसूदन दिल्ली चला आया था और कस्साबपुरा में ठकुराइन के यहाँ अपने एक अन्य मित्र अरबिंद के साथ रहता हुआ 'इरावती' पत्रिका में 160 रू0 मासिक नौकरी में लगा था। बीच–बीच में कस्साबपुरा के निम्न वित्तीय जीवन के ऑचलिक प्रसंग, सितारबादक बुड्ढे इबादत अली और उसकी लडकी खुरशीद का कथांश, कनाट–प्लेस के रेस्तराओं–बरांडों में व्यतीत होते हरबंश, नीलिमा, शुक्ला, जीवन भार्गव, शिवमोहन, सुरजीत आदि के आधुनिक बौद्धिक जीवन के कथा चित्र 'इरावती' नामक पत्रिका के मालिक सम्पादक के शोषक जीवन व्यवहार का वर्णन, हरबंश और नीलिमा के दाम्पत्य जीवन में वैचारिक असंगति से उत्पन्न तनाव के फलस्वरूप हरबंश का शोध करने के बहाने लंदन चले जाना वहां से पत्र लिखकर नीलिमा को बुलाना किंतु नीलिमा का भरतनाट्यम सीखने के लिए मैसूर जाने का

संकल्प आदि कथा प्रसंगों के वर्णन के अतिरिक्त वाचक मधुसूदन के द्वारा 'इरावती' की नौकरी से त्यागपत्र देकर लखनऊ चले जाने की कथा का क्रमानुकूल प्रस्तुतीकरण किया गया है। उपन्यास का प्रथम खण्ड यहीं समाप्त हो जाता है।

मोहन राकेश ने दूसरे खण्ड की कथा को फिर उसी बिंदु से उठाया है जहां उसने प्रथम खण्ड के आरम्भ में उसे स्थगित कर पूर्व दीप्ति के द्वारा नौ साल पहले की दिल्ली की उपर्युक्त कथा को प्रस्तुत किया था। अर्थात वही स्थिति कि मधुसूदन अपने मित्र हरबंश के साथ कॉफी हाउस में कॉफी पी रहा है। नौ साल पहले दिल्ली से लखनऊ जाकर वह छः महीने गॉव में रहा फिर चार साल एक प्रकाशक के यहाँ तथा चार साल एक अंग्रेजी दैनिक पत्र में सहायक संपादक की नौकरी करके अब दिल्ली के 'न्यू हेरल्ड' में नगर संवाददाता होकर आ गया है। इस खण्ड के आरंभ तथा बीच में लेखक पत्रकारों के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की थोड़े विस्तार के साथ चर्चा करता हुआ फिर मुख्य कथा को विकास देता है। मधुसूदन के एकाध बार पूछने पर हरबंश अपने लंदन–प्रवास के जीवन का सविस्तार वर्णन करता है कि किस प्रकार एक वर्ष बाद भरतनाट्यम का प्रशिक्षण लेकर नीलिमा भी लंदन पहुँच गयी। लंदन में नीलिमा का उमादत्त के ट्रुप के साथ यूरोप का दौरा करना ट्रुप के एक वर्मी कलाकार ऊबानू के साथ नीलिमा का विशिष्ट आसक्ति प्रसंग, हरबंश और ए0बी0सी0 (अमृत बाला चावला) का भी ऐसा ही प्रसंग दौरे से लौटकर हरबंश और नीलिमा के बीच भेद और तनाव का और अधिक बढ़ जाना, दिल्ली वापस साथ–साथ लौटना, इधर सुरजीत का शुक्ला से शादी कर लेना, हरबंश और नीलिमा दोनों का ही बेहद मानसिक तनाव में दिन व्यतीत करना, एक बार नीलिमा द्वारा भी मधुसूदन को अपने लंदन–प्रवास के कुछ प्रसंग सुनाना आदि वर्णनों के साथ यह खंड हरबंश और नीलिमा को असंगति, तनाव और विवाद भरे वातावरण में ही छोडता हुआ समाप्त हो जाता है।

तृतीय खण्ड में कथा के विकास और विस्तार की दृष्टि से दिल्ली के महानगरीय जीवन के व्यौरों के साथ हरबंश–नीलिमा की तनाव भरी गृहस्थ जिंदगी का वर्णन, उनके बार–बार के विवाद–झगडे, दिल्ली का कला जगत, कॉफी हाउसों में चित्र संगीत नाटक, राजनीति, कूटनीति तथा आधुनिक जीवन पर होती बौद्धिक बहसें, विदेशी दूतावास, उनके अभिजात्य समारोह, बीच में थोडा–सा कस्साबपुरा, ठकुराइन और उसकी जवान हो गयी बेटी निम्मा का प्रस्तुत चित्रण, मधुसूदन की निजी नौकरी का विस्तृत वर्णन आदि विभिन्न प्रसंगों को प्रस्तुत

करते हुए यह कथा–खण्ड भी दूसरे कथा–खण्ड की भाँति हरबश और नीलिमा के नित्य–नैमित्तिक विवाद के साथ समाप्त होता है।

चतुर्थ खण्ड उपन्यास का अन्तिम कथांश है जिसके आरम्भ में रचना के शुरू से चला आया हरबंस और नीलिमा के दाम्पत्य–तनाव का सूत्र विद्यमान है नीलिमा कला–निकेतन की ओर से अपने नृत्य का एक सार्वजनिक प्रदर्शन करना चाहती है। हरबंश ऊपरी तौर पर उसे सहयोग करता हुआ भी नहीं चाहता कि नीलिमा अपनी 'स्थापना' हेतु इस प्रकार के तुच्छ व्यावसायिक प्रयत्न करे; बीच में दूतावास की एक कर्मचारी सुषमा श्रीवास्तव और मधुसूदन का प्रणय–प्रसंग आता है जो दोनों के विवाह की स्थिति तक जाकर इसलिए टूट जाता है कि सुषमा किसी विदेशी सरकार की ऐजेंट है; कथा प्रसंगों के अन्य व्योरों के साथ ठकुराइन तथा शुक्ला की भी चर्चा है– कि ठकुराइन अपनी बेटी निम्मा का मधुसूदन से विवाह करना चाहती है जिसे मधुसूदन अस्वीकार कर देता है और स्वयं भीतर ही भीतर एक टीस का अनुभव करता है कि शुक्ला से शादी नहीं कर पाया, नीलिमा के नृत्य प्रदर्शन की सफलता के बाद उसका और हरबंश का विवाद और उग्र रूप धारण कर लेता है और नीलिमा हरबंश का घर छोडकर चली जाती है और अंततः एक सुबह अचानक स्वयं लौट आती है। इधर मधुसूदन मानो चारो ओर से मुक्त होकर अचानक (अनायस ही) कस्साबपुरा चलने के लिए टैक्सी–ड्राइवर से कहता है और इस तरह एक अचानक–सी स्थिति में उपन्यास समाप्त हो जाता है।

'अंधेरे बन्द कमरे' की यह कथावस्तु अपनी विभिन्न स्थितियों के बारे में यद्यपि अनेक प्रश्न, शंकाएँ पाठक के मन में उत्पन्न करती है; लेकिन कहने की आवश्यकता नहीं कि इन शंकाओं का एक मात्र कारण लेखक की इस नयी रीति, कथा के इस नये निर्वाह से पाठक का अपरिचय ही है और इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'अधेरें बंद कमरे' की कथावस्तु आरम्भ, विकास तथा अवसानादि के तत्वों से सर्वथा मुक्त अपने नये रूपशिल्प से सम्पन्न है।

साठोत्तरी उपन्यासों में यथार्थ के अनेक आयामी चित्रण ने उपन्यास के परम्परित शिल्प और रूपबन्ध को छिन्न–भिन्न कर उपन्यास के ढाँचे को चरमरा दिया। हिन्दी उपन्यास का ढाँचा बहुत विखरा–विखरा सा है। प्रत्येक दिशा में खण्डित मर्यादाएँ हैं और विच्छिन्न मूल्यों की अस्त–व्यस्त परम्परा है। इसका तात्कालिक परिणाम एक ओर सामाजिक एवं वैयक्तिक सीमाओं का टूटना तथा दूसरी ओर नैतिक मान्यताओं की विकृति है। इन दोनों के मध्य मानव जीवन में अनास्था एवं कुण्ठाओं की ऊँची मीनारें उठ रही हैं तथा मानव–मूल्य की मर्यादा

शंकालु बनती जा रही है। इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए डॉ0 गिरिजाराय कहती हैं कि – "आधुनिक उपन्यासों का नयापन मूलतः जीवन के प्रति दृष्टि कोण का नयापन है, मानवीय अस्तित्व की समस्याओ, सामाजिक जीवन की विडम्बनात्मक विसंगतियों, सम्बन्धों के खोखलेपन और अजनबीपन को अभिव्यक्ति देने के लिए रचनाकार सक्रिय हुआ।"[16] उपर्युक्त विसंगतियो की यह प्रवृत्ति बहुत कुछ विध्वंसात्मक है और ऐसी परिस्थिति में उपन्यासकार का दायित्व बढ जाता है।

मोहन राकेश के उपन्यास 'अधेरे बंद कमरे' (1961) में आधुनिक जीवन की विसंगतियाँ और विकृतियॉ, भयावहता में रूपायित हुई हैं। इसमें आधुनिक संवेदना दाम्पत्य जीवन की अभिशप्त और तनाव पूर्ण स्थितियों को उठाने में है। महानगरीय जीवन में मानवीय संम्बन्धों के टूटने की स्थिति और अकेलेपन में आधुनिकता–बोध को ऑका गया है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान इस उपन्यास को "कृति के रूप में न आंककर एक संभावना के रूप में आंकते हैं। उन्होंने पहले इसे कथाकार के अनुसार ही आज की दिल्ली के रेखाचित्र, पत्रकार मधुसदन की आत्म कथा और हरबंश और नीलिमा के अन्तर्द्वन्द्व की कहानी–तीनों में आंका है, पुनः उपन्यास में व्याप्त एक महानगर के शिक्षित समुदाय की नयी चेतना को पकड़ने और उसकी परत–परत को उघाडने तथा उनके अकेलेपन की अनुभूति की अभिव्यक्ति को कृति की संभावना माना है।"[17] इसमें सन्देंह नहीं कि राकेश ने यहॉ किस तरह महानगर में अकेलेपन की उस गहरी अनुभूति को अभिव्यक्ति देनी चाही है, जिसके मूल में स्नेह हीनता है, मानवीय सम्बन्धों की अर्थहीनता है, लेकिन सिर्फ इसी स्तर पर उपन्यास में कृति की सम्भावनाओं को आंकना उसी तरह एकोन्मुखी होना है,जिस तरह उपन्यास को सिर्फ पत्रकार मधुसूदन की आत्म कथा मानना या आज की दिल्ली का रेखाचित्र मानना, या फिर हरबंश नीलिमा के अन्तर्द्वन्द्व की कहानी कहना।

डॉ0 अतुलवीर अरोरा के अनुसार "इस उपन्यास में छाये हुए महानगर के जीवन के रेशे–रेशे को उकेरना होगा, जिसके मूल में एक धुरीहीनता का भुक्त सन्दर्भ है, जिसके कारण हमारी जिंदगी के अपने–अपने घेरों में, अपनी–अपनी परिधियों में अंधेरे बंद कमरों का निर्माण हो रहा है। यह निर्माण महज हो रहा है। हमारी अपनी वजह से हो रहा है, हम चाहते हैं कि यह सब न हो, लेकिन कुछ क्षण हैं जो हमें अपने अक्ष से दूर फेंक देते हैं और वही नियति सांप के फन की तरह हमें डस लेती है और हम निश्चेष्ट हो जाते हैं।"[18] यही 'अंधेरे बन्द कमरे' हमारे निर्णयों को निर्णय के क्षणों को नकारात्मक भ्रमजालों की

ओर आकृष्ट करते हैं जिसकी कोई सकारात्मक दिशा नहीं होती है। नियति का यह भ्रमजालिक संदर्भ आधुनिकता की प्रकृति की पूँजी है यही विसंगति पारिवारिक विघटन को जन्म देती है।

'अंधेरे बंद कमरे' में कथा का आधार मुख्य रूप से –हरबंश नीलिमा (सावित्री) के पारस्परिक अन्तर्द्वन्द्व, जीवन भार्गव, शुक्ला के बिगडते सम्बन्ध तथा शुक्ला सुरजीत के बनते सम्बन्ध, मधुसूदन–सुषमा के प्रणय सम्बन्धों का टूटना तथा कस्साब पुरा में इबादत अली की हबेली में बेटी खुरशीद को अपने पिता के प्रति विद्रोह और चारों तरफ के निम्नमध्यम वर्गीय विशेषकर ठकुराइन तथा उसकी लड़की निम्मा की बन्द कोठरी में टूटते अरमानों एवं अकुलाहट का अंकन मानवतावाद के आधार पर किया गया है।

डॉ0 अतुलवीर अरोरा 'अंधेरे बंद कमरे' को "कथ्य–प्रकृति के सन्दर्भ में तनावों का उपन्यास मानते हैं और तनावों की स्थिति प्रायः प्रत्येक पात्र में देखते हैं।"[19] तनाव की स्थिति में सभी पात्र हैं जो दिल्ली के पूरे सांस्कृतिक जीवन में छाया हुआ है और उसकी गति इतनी तीव्र है कि वह मलीन बस्ती हरफूलसिंह को भी नहीं छोडता है। नीलिमा का लोगों से अधिक मिलना जुलना हरबंश एक प्रकार की वेश्यावृत्ति समझाता है। उसके इस विचार का कारण नीलिमा यह समझती है कि वह इस हीन भावना का शिकार है कि पत्नी को पति से अधिक लोग जानते हैं हरबंश को सुषमा श्रीवास्तव बिल्कुल पसन्द नहीं थी। मधुसूदन उसके साथ विवाह निश्चय कर चुका था। लेकिन हरबंश उसे बताता है कि सुषमा कुछ दिन उसके साथ भी घूमती रही है। उन्हीं दिनों उसने करनाल में अपने पिता को नया मकान बनवा दिया था। उसके पिता की आर्थिक हालत क्या थी, कुछ भी नहीं। मधुसूदन इस सूचना से सन्नाटे में रह जाता है। वह आश्चर्य से हरबंश का हाथ दबाकर पूछता है कि वे लोग अचानक इतने अमीर कैसे हो गए, तो वह उत्तर देता है कि इस तरह के सवाल किसी से नहीं पूंछने चाहिए। और वह सुषमा श्रीवास्तव के यहाँ न जाकर कस्साबपुरा जाता है, जहाँ ठकुराइन और निम्मा उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं, जिनके साथ वह कभी रहता था।

डॉ0 सुरेश सिन्हा के अनुसार "इस उपन्यास में स्वतन्त्रता पश्चात देश में बड़ी सांस्कृतिक गतिविधियों और राजनीतिक दॉव के साथ पारिवारिक जीवन के अन्धेरे बन्द कोनों का मोहन राकेश ने बडी कुशलता से पर्दाफाश किया है।"[20] रचनाधर्मिता की दृष्टि से अंधेरे बन्द कमरे में उपर्युक्त विसंगतियॉ तथा वहॉ के जनजीवन, सांस्कृतिक जीवन एवं वातावरण के आडम्बरों के ऊपरी नकाबों का पर्दा उधेड़ते हुए इसमें यह सत्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया है कि

आज कितनी कृत्रिम परिस्थितियों में व्यक्ति अपना जीवन जी रहा है, जिससे वह कोई समझौता कहीं चाहते हुए भी नहीं कर सकता हर व्यक्ति असम्पृक्त सा है। हर व्यक्ति अन्दर से एक रिक्तता का अनुभव करता है, अपने को टूटा हुआ, पराजित सा थका हारा महसूस करता है। उससे और पत्नी के मध्य भी दुराव है, एक दूसरे के प्रति हिसाब है और असमर्पित होने के साथ ही अविश्वास है, तथाकथित उच्चस्तर के जीए जाने वाले जीवन मे वासना का ज्वार है, प्रदर्शन की भावना है, अपनी सत्ता सिद्ध करने की चेष्टा है।

सांस्कृतिक जीवन तो पूर्णतया आडम्बरपूर्ण है। विदेशी सरकारों की आर्थिक सहायता से चलने वाली अनेक सांस्कृतिक संस्थाएं दिल्ली मे है, जिनकी अपनी अलग दिशाएं हैं। दूतावासों में बी0 आई0 पी0 लोगों द्वारा जीए जाने वाले जीवन की अपनी भिन्न स्थिति है। काफी हाउसों गप्पों का दूसरों पर कीचड उछालने और अपनी महानता सिद्ध करने का दौर दूसरा है। साहित्यिकों कलाकारों का अपना माहौल है, जिसमें बनावट की आखिरी सीमा है। आज की इस तथाकथित प्रगतिशीलता में नारी का महत्व अधिक बढ गया है। पति अपनी मनोवांछित भावना की पूर्ति के लिए उसे खिलौना बना सकता है। पत्नी के लिए कोई पति से मित्रता जोड सकता है, अपना रिकार्ड प्लेयर घर में जगह न होने का बहाना करके छोड़ सकता है, फिर पति की अनुपस्थिति में पत्नी और साली का संरक्षक बन सकता है, फिर एक दिन घूम फिर कर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि साली से उसका विवाह हो जाता है स्त्री चाहे तो वह अपने कंगाल पिता को अच्छा सा मकान बनवाकर दे सकती है, रातों–रात अमीर बन सकती है जबकि उसकी योग्यता वाला पुरूष अपने कैरियर के लिए संघर्ष ही करते रह जाते हैं। पत्नी के लिए ही पति का महत्व बढ़ जाता है, उसकी पूंछ होने लगती है। पार्टियों में बुलाया जाता है, डॉस के लिए आमंत्रित किया जाता है और फिर कल्चरल सेक्रेटरी का पद प्रदान किया जाता है। ऐसा ही हो गया है यह जीवन आज का, जहाँ लोग खोखली हॅसी हॅसते हैं, बनावट के आँसू गिराते हैं, जहॉ हर चीज फार्मेलिटी की बॉहों पर टिकी हुई है।

'अंधेरे बंद कमरे में' "मैं मोहन राकेश मानवीय विशिष्टता की अर्थपूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकारते हैं। वे किसी प्रकार के बंधन को उचित नहीं मानते क्योंकि उससे मानव व्यक्तित्व का विघटन होता है और वह अपनी सही अर्थवत्ता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।"[21] प्रगतिशीलता की भंगिमा से अवलोकन करें तो यह बात समझ में आती है कि मनुष्य को अपनी सही अर्थवत्ता प्राप्त करनी चाहिए लेकिन मोहन राकेश यह कहीं स्पष्ट नहीं कर पाते कि पूँजीवादी सभ्यता ने मानव

सभ्यता को ध्वंसोन्मुखता के जिस कगार पर लाकर खडाकर दिया है, वहाँ पूर्ण स्वतंत्रता मात्र ही मनुष्य को कैसे समग्रता प्रदान कर सकेगी? मोहन राकेश आधुनिकता के प्रति अतिरिक्त रूप से मोह ग्रस्त हैं इसलिए वे किसी भी परम्परागत आदर्शों को स्वीकारना पुरानापन समझते हैं– उनके लिए उनकी उपयोगिता अन पयोगिता का प्रश्न ही नहीं उठता। मोहन राकेश चूँकि मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में चित्रित करने पर बल देते हैं,इसलिए वे मानते हैं कि जब तक यह यथार्थ परिवेश नहीं सुधरेगा, मानव–मूल्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता।

हरबंश नीलिमा (सावित्री) पति–पत्नी है। दोनों को एक दूसरे के प्रति पर्याप्त आकांक्षाएं हैं ये पर्याप्त आकांक्षाएं जब पूरी नहीं होती हैं तो उनके व्यक्तित्व और अहं में टकराहट होती है। हरबंश अपनी पत्नी नीलिमा को लेकर सहसा बहुत महात्वाकांक्षी बन जाता है और कला के क्षेत्र में उसे चरम सीमा तक जाने के लिए प्रेरणा देता रहता है। पहले तो वह तैयार नहीं होती, "मैं पेंट नहीं, सिर करती हूँ। नीलिमा ने जिस स्वर में यह कहा, उसमें दिखावटीपन नहीं था, यह मेरे पीछे पडा रहता है कि मैं पेंट करूँ, इसलिए मैं पेंट करती हूँ वरना मुझे न तो कुछ आता–जाता है और न ही इसमें रूचि ही है। हॉ अब तक इतना पता चल गया है कि किस तरह के स्ट्रोक्स के लिए कौन सा ब्रश इस्तेमाल करना चाहिए।"[22] लेकिन हरबंश के इस उकसावे में वह जिस क्षेत्र को चुनती है उसमें प्रसिद्ध भी प्राप्त कर लेती है। अब उसका अपना अलग व्यक्तित्व बन जाता है और वह सदैव अपने निजत्व के लिए प्रयत्नशील रहती है। यह विस्फोटक स्थिति बन जाती है, जिसे हरबंश सहन नहीं कर पाता।

"हरबंश और नीलिमा आधुनिक हैं– वैयक्तिक चेतना दोनों की अत्यन्त प्रखर है। हरबंश के भीतर का पुरूष आधुनिकता की नकाब के नीचे उसी परम्परित सामंती मानसिकता वाला है जो बात तो आधुनिकता और नर–नारी समंता की करता है लेकिन उसके संस्कार सामंती और मनोवृत्तियाँ आदिम हैं । वह औरत को गुलाम बना कर रखना चाहता है अपने संकेतों पर कठपुतलियों की तरह उसे नचाना चाहता है। पर नीलिमा का आधुनिक मानस और उसकी प्रबल वैयक्तिक चेतना अपनी नियति स्वयं निर्मित करना चाहती है और उसके इस चाहने में हरबंश के अहं को खरोंच लगती है तथा वह झींकने चीखने–चिल्लाने लगता है। अपनी असफलताओं का दोष नीलिमा के ऊपर मढकर बरी हो जाता है।"[23] सामंती मानसिकता वाला पुरूष सब कुछ कर सकता है, नारी का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं बनने दे सकता है इसके साथ ही उसके निजत्व को भी सहन नही

कर सकता है। उच्च वर्ग या उच्चतम मध्यवर्ग की यह नियति है कि
पुरूष स्त्रियों को छूट तो देता है, उन्हे विशिष्ट तो देखना चाहता है किन्तु एक सीमा तक इस सीमा को वह स्वयं निर्धारित करना चाहता है किन्तु भीतर–भीतर वह चाहकर भी स्त्री से कह नहीं पाता और भीतर ही भीतर कुछ क्रोध, कुछ अनमनापन , कुछ ईर्ष्या, कुछ अजनबीपन अनुभव करता है। हरबंश और नीलिमा में बराबर किसी न किसी बात को लेकर झगडा बना ही रहता है और वे कभी सुख–शान्ति से जीवन नहीं व्यतीत कर पाते। यह प्रकृति सत्य है कि जब तक नारियों को मानवीय भाव से देखा–समझा और ग्रहण नहीं किया जाएगा, तब तक यह सुख–चैन और उल्लास प्राप्त नहीं हो सकता है।

तीन साल के वैवाहिक जीवन के बाद भी वह हरबंश को नहीं समझ सकी है और हरबंश का आरोप है कि वह कभी उसे नहीं समझ सकेगी। सम्बन्धों में यह बिखराव दूर तक सालता रहता है।– इस कमी को दोनों महसूस करते हैं– ''क्योंकि मैं तुमसे अलग रहना चाहती थी। तुम जानते हो कि हम दोनों के बीच कहीं कोई है जो हम दोनों को खटकती रहती है। हम दोनों चेष्टा करके भी उसे अपने बीच से निकाल नहीं पाते।''[24] नीलिमा और हरबंश का यह एकाकीपन उत्तरोत्तर बढता जाता है और उसका सारा व्यक्तित्व अस्तित्ववादी दर्शन की बलि चढ जाता है।

आस्तित्ववाद की मान्यता है कि व्यक्ति अपने अतिरिक्त और किसी को जान नहीं सकता, वह औरों को इसलिए जान पाता है क्योंकि वह अपने को जानता है। 'अस्तित्ववाद और मानववाद' नामक सुप्रसिध्द व्याख्यान में 'सार्त्र' कहते हैं –''मनुष्य अपनी योजना से भिन्न कुछ और नहीं है उसका अस्तित्व उसी सीमा तक है जहॉ तक वह अपने आपको पूरा करता है। इसलिए वह अपने कार्यो के एकीकृत समूह से भिन्न कुछ भी नहीं है। व्यक्ति अपने जीवन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। बहुधा अपनी बदकिस्मती और निकम्मेपन को छिपाने के लिए लोगों के पास एक मात्र मार्ग यह सोचना रहता है कि परिस्थितियॉ हमारे प्रतिकूल रही हैं। जो मैं रह चुका हूँ और कर चुका हूँ– मेरे सही मूल्य को नहीं प्रकट करते। यह निश्चित है कि मुझे कोई महान प्रेम या महान मित्रता नहीं मिली है लेकिन यह इसलिए है कि मुझे कोई पुरूष या स्त्री इस योग्य नहीं मिल सकी''[25] सार्त्र के अनुसार अस्तित्ववाद इस तरह की बकवासों को महत्व न देकर, घोषणा करता है कि तुम अपने जीवन के अलावा और कुछ नहीं हो मनुष्य कार्यो की एक परम्परा से अलग दूसरी चीज नहीं है यानी वह उन सम्बन्धों के योगफल का एकीकरण है जो इन कार्यो का निर्माण करता है। अस्तित्ववाद मानव संसार की अपेक्षा दूसरे

किसी संसार का अस्तित्व नहीं मानता। व्यक्ति के अलावा नियमों को बनाने वाला दूसरा कोई नहीं है। अस्तित्ववाद घोषणा करता है कि यदि परमात्मा का जीवन हो भी तो वह कुछ परिवर्तन नहीं करेगा। इस तरह अस्तित्ववाद मनुष्य के इर्द–गिर्द फैले अंधविश्वासों और अज्ञान के झूंठे जालों को काटकर व्यक्ति को नितात एकाकी कर देता है। इस एकाकीपन के बोध से व्यक्ति मे अन्तर्द्वन्द्व तथा पारिवारिक विघटन के बीज पनपने लगते हैं इस बोध से हरबंश और नीलिमा दोनों गुजर रहे हैं– "हरबंश सोचता है मुझे कुछ समझ में नहीं आता कि मैं क्या चाहता हूँ। कोई चीज है जिसे मैं बहुत शिद्दत के साथ महसूस करता हूँ....। एक अजीब सी वेबसी महसूस होती है, जैसे मैं एक कवच में जकड़ा हुआ हूँ, जो मेरे लाख कोशिश करने पर भी टूट नहीं पाता।"[26] इसी मनः स्थिति में नीलिमा जीती है, वह सब कुछ करना चाहती है जो उसे अभ्यास और अधिकार से मिल सके इसके अलावा और भी कुछ– "मैं मरने से पहले एक बार खूब नाम कमाना चाहती हूँ। मैं चाहती हूँ कि लोग मुझे जाने और .... मगर यह नहीं है कि मैं सिर्फ ख्याति चाहती हूँ। मैं जानती हूँ मेरे अंदर वह चीज है जो मुझे इस क्षेत्र में आगे ला सकती है .....। दरअसल..... तुम नहीं जानते कि मेरे शरीर में उन दिनों कितनी लोच और लचक थी। मैं अब भी ठीक से अभ्यास करूँ, तो....। मैं ख्याति की भूखी नहीं, मगर मेरे अंदर वह चीज है, तो मैं क्यों न.....। मेरे गुरू भी कहते थे कि मेरी जैसी भावपूर्ण आँखें और हाथ उनकी किसी शिष्या के नहीं है। मैं वही चीज पाना चाहती हूँ जो मेरा अधिकार है।"[27] नीलिमा का यह अस्तित्व और सारे मूल्य अन्तर्मुखी हैं, अर्थात वे मूल्य ही नहीं बल्कि उसकी प्रतित्रुटि ही होते है, उसकी प्रतिबद्धता ही होते है, और उसका प्रत्येक वरण सामान्य कर्म न होकर एक नैतिक कर्म बनता जा रहा है क्योंकि वही उसको बनाता है। इस रूप में अस्तित्व वाद कर्म प्रधान विचारधारा है। पर यह कर्म किसी परोक्ष सत्ता द्वारा पूर्वनियत कर्म न होकर नीलिमा के वरण से उदभूत कर्म है। क्योंकि उसके प्रत्येक कर्म का प्रभाव केवल नीलिमा पर नहीं समस्त मानवता पर पड़ता है अतः वह मानवता है और उसका अपने प्रति दायित्व एक प्रकार से समस्त मानवता के प्रति दायित्व ही है। इस सन्दर्भ में डॉ0 इन्द्रनाथ मदान का यह कथन प्रासंगिक है :– "इनके पास एक दूसरे को चोंच मारने या काटने के सिवाय और चारा ही क्या है। इस तरह शायद पहली बार हिन्दी उपन्यास में विवाहित जीवन की अर्थहीनता का सजीव चित्रण हुआ है।"[28]

हरबंश अपने ही घर और मन के अकेलेपन से उबकर विदेश जाता है– "मैं इतना ही जानता हूँ कि मैं जिस तरह अकेला रहना चाहता था, उसी

तरह इस समय हूँ और नहीं चाहता कि कोई चीज मेरे इस अकेलेपन में बाधा डाले।"[29] कुछ दिनों बाद ही वह सामान्य कोटि के 'होम सिक नेस' से पीडित होता है और एक छिछले भावुक की तरह बार–बार नीलिमा को बुला भेजता है। वह अपने को बहुत अकेलापन महसूस करता है उसका यह अकेलापन पॉच हजार मील की दूरी के कारण नहीं है और शायद न ही शारीरिक प्राप्ति के अभाव के कारण। हरबंश का यह अकेलापन उसके अंदर वर्षों से पनप रहा है जो उसे अंदर ही अंदर कीड़ेकी तरह खा रहा है, और भविष्य में शायद इसकी पूर्ति भी न हो सके परन्तु यदि नीलिमा उसकी सच्ची मित्र बन सके तो यह समस्या हल हो सकती है– "मेरे अंदर कहीं एक खालीपन हैजो धीरे–धीरे इतना बढता जा रहा है कि मेरे जैसा खाली आदमी भविष्य के सपने बुनकर नहीं जी सकता। शायद वह मेरे ही व्यक्तित्व का अकेलापन और खालीपन है जो तुम्हें भी मेरे साथ बॉटना पड़ रहा है। मगर तुम इसे मजबूरी में न बॉटकर उत्साह के साथ बॉट सको, तो सब कुछ बदल सकता है। मैं किसी की ऐसी ही तो मित्रता चाहता हूँ जो मेरी सब आशाओं और निराशाओं को, इच्छाओं और आशंकाओं, उत्साह और चाह के साथ बॉट ले। मैं यही तो चाहता हूँ कि मेरे व्यक्तित्व के साथ किसी का अस्तित्व मिलकर दो परमाणुओं की तरह एकाकार हो जाये।"[30] हरबंश ने जीवन में कुछ आदर्श पाले हैं, वह आदर्शों को नष्ट होते देखता है, परन्तु इनकी रखवाली करने में भी वह सक्षम नजर नहीं आता तो उसकी उदासी और अकेलापन एक मानसिक बीमारी के रूप में स्थाई घर बना लेता है। इस संदर्भ में मोहन राकेश विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं। "मजलिसी तौर पर कुछ बातें मान ली जाती है, मगर लगता है कि मानना भी गलत है। मानने के पीछे जो विश्वास होना चाहिए, वह विश्वास नहीं मिलता। हर चीज पर सन्देह होता है। हर बात पर सन्देह होता है। हर व्यक्ति पर सन्देह होता है। उन सब शब्दों पर सन्देह होता है जिनके अर्थ नकारात्मक नहीं हैं।"[31]

पति–पत्नी के बीच एक साहचर्य तथा विश्वास का होना अति आवश्यक है और इन दोनों की कमी वैवाहिक जीवन की कटुता बढा देते हैं, लंदन जाने पर जब हरबंश अकेलेपन एवं उदासी से नहीं उबर पाता तो वह नीलिमा को वहॉ बुला भेजता है। नीलिमा मैसूर के लिए आयोजित अपनी नृत्य कला छोड़कर लंदन पहुँचती है। वहॉ पहुँचने पर फिर दोनों की आपसी ऊब का, ईर्ष्या और खीज का वही पुराना दौर शुरू होता है नीलिमा कहती है–"देखो, मैं कहती हूँ मैं यहाँ से वापस जा रही हूँ.....। मुझसे इस तरह की जिन्दगी नहीं जी जाती। क्या यही जिन्दगी जीने के लिए तुमने मुझे यहॉ बुलाया था? यही तुम्हारा

वह 'विजन' है जिसकी तुम लम्बी–चौडी बातें लिखा करते थे।"[32] जब हरबंश नीलिमा को अपनी तरफ से कोई सफाई देना चाहता था कि वह भी तो उसी के साथ उसी जिन्दगी को जी रहा है तब नीलिमा और दुगने गुस्से मे चिल्ला उठती– "मगर मेरी वजह से तो नहीं जी रहे। मैं यह जिदगी तुम्हारी वजह से जी रही हूँ। मैं इसलिए पहले साल–भर वहाॅ से नही आयी थी। मै जानती थी कि यहाॅ हम लोगों की क्या दुर्गति होगी। मगर पहले तो तुमने झूठे विश्वास देकर मुझे यहाँ बुला लिया और अब मुझसे बेबी–सिटिंग कराते हो और खुद खिड़की के पास बैठे आसमान को घूरते रहते हो। मैं ऐसी जिन्दगी वर्दास्त नहीं कर सकती।"[33] इस विषय में टिप्पणी करते हुए डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ कहते हैं– "पत्नी की उदासीनता और विश्वासघात दाम्पत्य जीवन के समजंन को बर्बाद कर देते है।"[34] उपर्युक्त सन्दर्भ जब हरबंश के चाहने पर भी नीलिमा एक भारतीय नृत्य–मण्डली के साथ चली जाती है, पर भी लागू होता है जो दाम्पत्य जीवन में विघटन को प्रोत्साहित करता है जो शेष कमी थी, वह उसने उबानू नामक एक भोले–भाले वर्मी कलाकार के साथ पाँच राते–पाँच दिन काटकर ताबूज में आखिरी कील का काम किया। परन्तु नीलिमा ऐसे ही व्यक्ति को पसन्द करती है, जो सीधा साधा और उसके आगे पीछे चलने वाला हो और इसलिए उबानू नामक यह कलाकार उसे तब तक सही लगता है जब तक उसकी बातें मानता है जब वह नीलिमा से उसकी पत्नी के बारे में असहनीय बातें सुनता है जिसे वह (उबानू) सुनना नहीं चाहता तो वह बिफर पड़ता है तब नीलिमा कहती है– "उसे उसका वही रूप अच्छा लगता है, सीधा–सादा, पालतू, मूर्खतापूर्ण। "[35] वर्मी कलाकार ऊबानू से नीलिमा सम्बन्ध नहीं जोड़ पाती क्योंकि वह स्वयं भी हरबंश के बिना नहीं रह सकती। थोड़े समय के पेरिस–प्रवास से ही आभास हो जाता है कि वह उससे अलग रहकर भी उससे मुक्त नहीं हो सकती। आधुनिक भारतीय जीवन की यह विवशता सबसे बड़ा अभिशाप है। यही मनुष्य को एक दूसरे से, यहाॅ तक कि इस संसार से भी अजनबी बनाती है। हरबंश और नीलिमा के दाम्पत्य जीवन में रिसती हुई विवशता आपसी संबंधों में कड़वाहट घोलती है और तनावों के बीच अजनबीपन को विकसित करती है।

दिल्ली लौटने पर नीलिमा दिल्ली वासियों के सामने अपने नृत्यप्रदर्शन की योजना बनाती है। हरबंश भी टिकट बेचने का काम संभाल कर इस योजना को सफल बनाना चाहता है और उसका दोस्त पत्रकार मधुसुदन प्रचार में सहायक बनता है किन्तु इतना सब कुछ होने के बावजूद नृत्य–समारोह असफल होता है। पत्रों में रिपोर्ट अच्छी नहीं आती। नीलिमा समझती है कि

हरबंश के कारण ही उसे असफलता मिली परन्तु हरबंश यह सोचता है कि ऐसा कोई काम मैं क्यों करूँ जिसे करने में मेरा मन कुढ़ता है और मेरी आत्मा को ग्लानि होती है? "तुम अपना प्रदर्शन करो, नाम कमाओं और जो चाहे करो, मगर मेरी तुमसे इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे तुम इसमें एक औजार बनाकर इस्तेमाल न करो। मुझे चिढ़ है तो इसी बात से कि मैं एक ऐसी चीज के लिए इस्तेमाल किया जा रहा हूँ जिसके लिए मेरे मन में कोई उत्साह नहीं है। और उत्साह न होने की ही बात नहीं है, मुझे उस चीज से नफरत है।"[36] दूसरी ओर नीलिमा सोचती है कि यह आदमी कितना जलील करता है, अपना काम आने पर बहला–फुसलाकर तो करवा लेता है परन्तु हमारे कार्यों में सहयोग नहीं करता। जब वह हरबंश की तरफ से यह बात सुनती है तो गुस्से में कहती है–"तुम्हें शरम नहीं आती, तो मुझे क्यों आयेगी ? तुम भी अच्छी तरह जानते हो कि कौन किसे इस्तेमाल कर रहा है। कुछ लोगों के साथ अपना सम्पर्क और परिचय बढ़ाने के लिए उनसे अपने छोटे–छोटे काम निकालने के लिए, आज तक तुम किसे आगे करते आये हो? अपने विदेशी मित्रों से क्यों बार–बार मेरी चर्चा किया करते हो? क्यों बार–बार मुझे उनसे मिलाने के लिए ले जाते हो? किसी को भारतीय नृत्यों के सम्बन्ध में जानकारी चाहिए तो कहते हो कि नीलिमा तुम्हें यह सब बता सकती है। किसी को कोई भारतीय पोशाक चाहिए तो कहते हो कि नीलिमा तुम्हें बनवाकर दे सकती है। क्यों? क्या यह इसलिए नहीं कि तुम उन सब लोगों से अपने लिए मान्यता चाहते हो और दूसरो पर इस बात का प्रभाव डालना चाहते हो कि तुम्हारे परिचय के क्षेत्र में कैसे–कैसे लोग हैं। जहॉ नीलिमा तुम्हारे काम आ सकती है, वहाँवह तुम्हारी पत्नी है और तुम्हें उसे इस्तेमाल करने का पूरा हक है, मगर आज मेरी वजह से तुम्हें कुछ लोगों की दावत करनी पडी है, तो तुम्हारी आत्मा विद्रोह कर रही है कि मैं तुम्हें कीचड़ में घसीट रही हूँ। अपने स्वार्थ में तुम्हारी आत्मा को कीचड़ नहीं लगता, दूसरे के काम में वह एकदम महान होकर कीचड़ से ऊपर उठ जाती है। आदमी के पास ऐसी रंग बदल लेने वाली आत्मा हो तो उसे और क्या चाहिए।"[37] मनोविज्ञान भी यही कहता है कि व्यक्त की सफलता असफलता उसकी अपनी नहीं होती है वह दूसरे द्वारा आरोपित कर दी जाती है। हरबंश और नीलिमा एक दूसरे के प्रति झल्लाते , खीजते और कुंठित होते रहते हैं। डॉ0 अतुलवीर अरोरा के अनुसार– "पति पत्नी के इन सम्बन्धों की उक्त भूमिका स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों के मध्य आंकी गयी है। पति–पत्नी की भूमिका में स्त्री पुरूष का आपसी सम्बन्ध यहाँ नीलिमा और हरबंश के बीच द्वन्द्व की भंगिमा लिए हुए है। इस स्तर मैत्रीभाव का सन्दर्भ उतना महत्व नहीं रखता,

जितना एक–दूसरे को समझ पाने का। यह समझ पाने का। सन्दर्भ उपन्यास का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। हरबंश बार–बार चिल्लाता है कि उसे समझा नहीं जा रहा। शायद वह खुद भी अपने को ठीक तरह समझ नहीं पाता। शायद कोई भी अपने को समझ नहीं पाता।''[38]

पुरूष और महिला दोनों को ये लगता कि ''विवाह, या परिवार के बन्धन ने उनकी स्वतन्त्रता का अतिक्रमण कर दिया है, वे अब सिर्फ एक ऐसी स्त्री या पुरूष से ही सम्बंध बनाने के लिए बाध्य हैं। उन्हें लगता है कि उनकी अपनी पहचान गिरती जा रही है। उन्हें एक जैसे कार्य ही करने पड़ रहे हैं उनमें कुछ नया न कर पाने की टीस होती है।''[39] नीलिमा और हरबंश इसी पीड़ा से गुजर रहे है। और एक–दूसरे से च्युत हो जाते हैं। फिर भी साथ रहने की ऐसी मजबूरी थी जिससे वे निकल नहीं पाते थे इसलिए मधुसूदन के पूंछने पर नीलिमा अंत में इतना ही संक्षिप्त उत्तर देती है – ''मैं आना नहीं चाहती थी, मगर फिर मैंने सोचा कि .... सोचा नहीं, मुझे लगाकि..... शायद अब यही ठीक है।''[40] मानव सम्बन्धों के विघटन की जो कहानी जो मानसिक यथार्थ की सतह पर बहती रही वह सतह के ही एक सुखद बिन्दु पर ठहर जाती है। हरबंश और नीलिमा की जिन्दगी एक स्थिति है, जिसे बहुतेरे लेकर जी रहे हैं वे छटपटाकर रह जाते हैं, इससे उबर नहीं पाते।

हरबंश और नीलिमा के इस अन्तर्द्वन्द्व के बीच कई कथायें समानान्तर चलती हैं, जिसमें हरबंश का एक पत्रकार मित्र मधुसूदन है जिसके बारे में लेखक संकेत करता है कि वह सजग तथा सचेत है, वह जिन्दगी से टूटा हुआ है, उसका जीवन अभिशप्त है, वह जीवन में संगति खोजना चाहता है, उसे जिंदगी के टुकड़े मिलते हैं, हर टुकड़ा कहीं से टूटा हुआ है या जंग खाया हुआ है। वह अंदर और बाहर से पथराया हुआ है। वह जीवन के खण्डित रूप को स्वीकार नहीं करता तटस्थ नहीं हो पाता, इसलिए वह लगातार भटकता और छटपटाता है। प्रारम्भिक स्थिति में मधुसूदन शुक्ला के प्रति आकर्षित होता है परन्तु यह रिश्ता नहीं हो पाता है शायद उसकी अपनी कमी या अगर हरबंश बीच में अडचन न डाल देता तो क्या अधिक सम्भव यह नहीं था....। कि सर्दियों तक शुक्ला का उससे ब्याह हो जाता और उस साल वह पहाड़ से हनीमून की तस्वीरें भेजता। परन्तु मधुसूदन इसमें अपने को कम उत्तरदायी नहीं समझता– ''दूसरी तरफ मैं था जो लोगों की उपस्थिति में चेहरे पर एक खोल चढाये रखता था, एक झूँठी हंसी हॅसता था, एक झूँठी उपेक्षा प्रकट करता था और इस तरह हर समय अपने को एक यन्त्रणा में रखता था क्या इस झूँठ को मैं अपनी सहिष्णुता कह सकता था।''[41] यह

तथाकथित सहिष्णुता मधुसूदन के आदर्श को खण्डित कर देती है, वह टूटता है और फिर एक बार संभलने की कोशिश करता है, मगर पत्रकार सुषमा श्रीवास्तव की पहचान ने तथा उसके बारे में लोगों द्वारा सुने और लगाये गये आरोप और प्रत्यारोपों की उसने परवाह नहीं की वह सोचता है– "लोग कहते हैं कि सुषमा लोगों के घर तोड़ती है, 'होम ब्रेकर' है मगर मैं जानता था कि वह घर तोडना नहीं घर बनाना चाहती है। अपने लिए घर बनाने और उसमें रहने की उसे कितनी चाह है, यह बात उसके शब्दो से नहीं, सारे हाव–भाव से प्रकट होती थी।"[42] सुषमा के स्नेह एवं आकर्षण ने मधुसूदन को एक स्थाई आधार देना चाहा तथा उसकी बुद्धि तथा विवेक ने तो मानो मधुसूदन के ऊपर जादू कर दिया हो सुषमा की कही बात उसे भली भांति याद है– "लोग जिन्दगी में एक तरह का धोखा बनाये रखना चाहते है। और में अपनेको उस धोखे से मुक्त रखना चाहती हूँ। हमारे आस–पास जो लोग बहुत–बहुत सिद्धान्तों की बातें बधारते हैं, तुम उनमें से किसी को भी देख लो। यह बहुत साफ नजर नहीं आता कि उसकी सैद्धान्तिक जिन्दगी और व्यक्तिगत जिन्दगी में एक बहुत बड़ी खाई है।"[443] सुषमा का यह जीवन दर्शन यदि उसके वैयक्तिक जीवन में सच है तो मधुसूदन फिर इस सच्चाई से भागकर बस्ती हरफूलसिंह अर्थात कस्साबपुरा में ठकुराइन और उसकी लड़की की ओर क्यों आकर्षित होता है। यह शायद मधुसूदन के पुराने संस्कार तथा घर बसाने के सपनों को साकार करने की बात हो सकती है दूसरा लेखक का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी हो सकता है।

'अंधेरे बन्द कमरे' में समानान्तर कथा के रूप में शुक्ला और जीवन भार्गव का प्रकरण आता है परन्तु संरक्षक हरबंश की मानसिकता जिसे अतुलवीर अरोड़ा के शब्दों में 'आदमी की आदिम भूख' ने जुड़ने नहीं दिया। हरबंश शुक्ला का बहनोई है और मन ही मन शुक्ला उसे जरूरत से ज्यादा मानती है तभी तो इसके बारे में नीलिमा कहती है– "मुझे इस लड़की के दिमाग की कुछ समझ नहीं आती....., कई बार तो सचमुच मैं सोचती हूँ कि हरबंश का ब्याह मुझसे न होकर इस लड़की से ही होना चाहिए।"[44] यह आकर्षण हरबंश की तरफ से भी उत्पन्न होता है नीलिमा के घर छोडने के पश्चात विवाहित शुक्ला हरबंश की देखभाल करती है और वह महसूस करता है कि उसे पहली बार ऐसा प्रतीत होता है कि जो वह नीलिमा से चाहता है वह सब कुछ उसकी अनुपस्थिति में उसे मिल रहा है और इसलिए सब कुछ होते हुए भी उसके मन में खालीपन अभी ज्यों का त्यों है। हरबंश में यह मध्यकालीनबोध है, लेकिन वह आदमी की आदिम भूख को आधुनिकता की चुनौती में स्वीकारता है, जिसे बहुत कम लोग अभिव्यक्त कर पाते

हैं। वह उसे अपनी लडकी समझता है, लेकिन इसके परे अपनी आदिम भूख को वह मधुसूदन की साक्षी में स्वीकार कर लेता है। शुक्ला गर्भावस्था में भी उसका घर संभाले हुए है और उसे (हरबंश) डर लगता है। हरबंश को अपने से यह डर है? शरीर की आदिम भूख उसमें वर्तमान है, जिसे उसने एक संकेत में स्वीकारा है कि "यह लड़की कल से जिस तरह का व्यवहार कर रही है.... अगर मै अकेला घर मे रहा और यह सब कुछ इसी तरह करती रही तो न जाने.... ।"[45] और यह न जाने का डर मध्यकालीन बोध की ही प्रकृति की उपज है, जिसे वह केवल अधूरे में ही संकेतिक करता है, लेकिन अपने को समझ पाने की आधुनिकता की प्रकृति और चुनौती के समक्ष वह इस संकेत मात्र में· ही सही हो उठता है। उक्त भंगिमाओं में सम्बन्धों के विघटन की मूलभूत भूमि की तस्वीर उभरती है और सम्बन्धों के अनगिनत आयाम खोलती है जहॉ जीवन भार्गव ही नहीं मधुसूदन तथा हरबंश का भी सम्बन्ध है।

कस्साबपुरे में इबादत अली की हवेली और चारों तरफ के निम्न मध्यमवर्गीय परिवारों में विशेषकर ठकुराइन और निम्मा तथा इबादत अली की बेटी को लेकर कानाफूँसी उपन्यास में सम्बन्धों को स्पष्ट नहीं कर पायी है, एक परिवार को परिवेश के आधार पर खुरशीद को घर से अपने प्रेमी के साथ भाग जाने भर का संकेत देकर लेखक प्रयोगशीलता वादी पुट से बरी हो जाता है। आधुनिक जीवन के खोखलेपन को कला और संस्कृति की बहसों में राजनैतिक मसलों में, विदेशी दूतावासों के खोखले समारोहों में, काफी हाउस के वातावरण में, विदेशयात्राओं के विवरण पात्रों की जिन्दगी को बहुत प्रभावित नहीं कर सके उनके अन्दर जो अंतहीन झल्लाहट थी उसमें कोई कमी नहीं आ सकी।

'अंधेरे बन्द कमरे' में मानव सम्बन्धों की बुनियादें इतनी कमजोर हैं कि उसके अंन्दर का ढाँचा भुरभुरी मिट्टी की तरह झड़ता–ढ़हता जा रहा है साथ ही यही सब पात्र चाहते हैं उसे टूटने से बचा सकें, मगर न जाने क्या मजबूरी है कि केवल गवाह की तरह खडे उस ढहने की प्रक्रिया को चुपचाप अवलोकित करते रहते हैं। तटस्थ और उदासीन भाव से कभी–कभी वे कन्धे हिला देते हैं बस। वे सभी अपने–अपने प्रयत्नों को निरर्थक मानते हैं और सोचते हैं कि कुछ होगा तो बाहर से होगा। वरना जो ढह रहा है उसे ढहना तो है ही। यह सब दृश्य यहॉ के पूरे परिवेश में होटलों –कहवाघरों में–मजलिसों में, सब जगह ये पात्र एक निजी जिन्दगी की जरूरतों से शुरू होकर कुछ बुनियादी सवालों तक अपना दामन फैलाए रहते हैं और जरूरतों को पूरा करने में सवाल धुंधलाने लगते हैं, और सवालों की नोंक पर अपने को टांग दें, तो सभी को जख्मों के अलावा

और कुछ हासिल नहीं होता है। इस तरह से इस उपन्यास का मूल स्वर पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन का है जिसे मोहन राकेश ने महानगरीय परिवेश के सन्दर्भ में व्याख्यायित है।

न आने वाला कल

'न आने वाला कल' (1968) उपन्यास के मूल कथ्य में नायक वाचक मनोज सक्सेना जो कि फादर बर्टन स्कूल में जूनियर हिन्दी टीचर है, कुछ वैयक्तिक कारणों से अपनी नौकरी से त्यागपत्र देना चाहता है– दे देता है ओर उसके इस निर्णायक कृत्य पर होती होने वाली उसके साथियों सहयोगियों की विभिनन प्रतिक्रियाएं तथा उन पर मनोज की वैचारिक प्रतिक्रियाएं अंकित की गयी है।

सम्पूर्ण उपन्यास सात छोटे–छोटे कथाध्यायों में विभाजित है।

पहले कथांश 'त्यागपत्र' में मनोज सक्सेना, जूनियर हिंदी टीचर, फादर बर्टन स्कूल में अपनी पत्नी शोभा के साथ स्कूल के ही क्वार्टर में रहता है। निःसंतान शोभा की मनोज से यह दूसरी शादी है। मनोज और शोभा दोनों ही आपस में वैचारिक संगति नहीं बैठा पा रहे हैं और उनका दाम्पत्य जीवन एक नीरस ऊब से भरा हुआ है। मनोज अपनी नौकरी से भी संतुष्ट नहीं है । शोभा ऊबकर अपनी पहली ससुराल खुरजा चली जाती है। वहाँ से पत्र लिखकर कुछ दिनों के लिए मनोज को बुलाती है। अकेला रहता मनोज इस कथांश में शोभा के पत्र का उत्तर लिखना चाहता है और अपनी नौकरी से त्यागपत्र भी देना चाहता है, लेकिन दिमागी कशमकश में कुछ भी नहीं कर पाता और कथांश के अंत में मानो उस कशमकश से मुक्ति पाकर त्यागपत्र लिखने बैठ जाता है।

उपन्यास के दूसरे कथांश 'डर' में मनोज के त्यागपत्र पर बर्सर बुधबानी, हेडक्लर्क पार्कर, एकाउंटेंट गिरधारीलाल, बॅनी हॉल, कोहली, जेम्स, मिसेज पार्कर आदि स्कूल के विभिन्न शिक्षकों कर्मचारियों के विचार मनोज से उनकी बातचीत वर्णित की गयी है। स्कूल के अत्यंत रूक्ष अनुशासन और हेड मास्टर टोनी व्हिसलर के बेहद सख्त स्वभाव के कारण उक्त सभी लोग मनोज से उसके त्यागपत्र के सम्बंध में बात करते डरते हैं और दूसरा एक हल्का डर मनोज को भी है कि नौकरी छूट जाने के बाद क्या होगा? फिर भी इस खण्ड का शीर्षक 'डर' अपेक्षित पूर्णता और स्पष्टता के साथ चरितार्थ नहीं हो पाया है।

तीसरा कथाध्याय है 'कुर्सी'। 'कुर्सी' वस्तुतः हेड मास्टर की प्रतीत है। इस कथांश में मनोज के त्यागपत्र पर विभिन्न लोगों की प्रतिक्रियाएं व्यक्त की गयी है। आरम्भ में मनोज और हेड मास्टर की इसी सम्बन्ध में बातचीत है। मनोज जो कि अपनी आंतरिक ऊब परिवेशगत जड़ता से मुक्ति पाने के लिए, या महज एक परवर्तन के लिए या जीवन के किसी एक नये अनुभव के लिए त्यागपत्र देता है। जबकि टोनी व्हिसलर (कुर्सी) समझता है कि चूँकि मनोज की नियुक्ति डी0 पी0 आई0 की ओर से हुई है इसलिए वह शायद उसे (टोनी व्हिसलर को) आतंकित करने के लिए त्यागपत्र दे रहा है और इस तरह स्कूल के बाहर टोनी के खिलाफ जो एक षडयन्त्र है, मनोज भी उसमें शामिल है। जेम्स समझता है कि मनोज सीनियर ग्रेड पाने के लिए यह त्यागपत्र अथवा धमकी दे रहा है। यह कथांश यहीं समाप्त हो जाता है।

चौथे कथांश 'सहयोगी' में स्टिवर्ड चार्ल्टन के आमंत्रण पर मनोज शाम को उसके यहॉ ड्रिंक पार्टी में पहुँचता है। पार्टी एक अन्य सहयोगी चैरी के क्वार्टर पर आयोजित होती है। पार्टी का उद्देश्य मनोज के त्यागपत्र से उत्पन्न नयी स्थिति पर विचार करना है। लेकिन वहॉ इस सम्बन्ध में बातचीत न होकर चैरी और लेरी दोनों अपने-अपने स्वार्थों और अहं को लेकर विवाद की स्थिति में बने रहते है। मनोज इन लोगों के साथ रहते हुए बुरी तरह ऊबता है। उसका जी मिचलाने लगता है और पार्टी की समाप्ति पर वह चैरी के क्वार्टर से बाहर आकर लेरी के जाते ही सड़क पर कै कर देता है और अपनी छाती के कसाव को ढीला हुआ अनुभव करता है।

पाँचवें कथा खण्ड 'नाटक' में स्कूल में प्रतिवर्ष होने वाले सत्रांत के नाटक का वर्णन है। मनोज छुट्टियां होने तक स्कूल में ही समय व्यतीत करने के लिए विवश है। विभिन्न कथा-स्थितियों और पात्रों की संगति में इसी समयावधि का वर्णन करते हुए लेखक सूचित करता है कि मनोज स्कूल के काम के साथ-साथ किसी के पत्र (शायद शोभा के) की प्रतीक्षा भी करता है। प्रिफेक्ट जसवंत को जब सीनियर मास्टर जिमी ब्राइट बेंतों की सजा देता है तो नितांत यांत्रिक रूप से मनोज उसकी साक्षी दे देता है रात के स्कूल के हाल में वह नाटक देखने जाता है जहां नौकर फकीरे की स्त्री कहानी से उसका हल्का यौनेत्तेजक संस्पर्श होता है। यही संस्पर्श उसे नाटक के बाद डिनर लेते समय वॉनी हॉल के द्वारा मिलता है। मनोज को लगता है कि यह स्कूल यहाँ के सारे लोग और सभी गतिविधियाँ एक नाटक ही है।

छठे कथांश 'सड़क' मनोज के चरित्र की उस गति अर्थात चलते जाने अर्थात किसी से न जुड़ने की वृत्ति का प्रतीक है जिसके चलते वह अपनी पत्नी, अपने परिवेश, अपनी आजीविका, अपने स्नेही–साथियों और स्वयं तक से कटा हुआ अकेला रहता है। इस कथाध्याय में वाचक मनोज स्कूल में अपने आखिर दिन की गतिविधियों का वर्णन करता है। शोभा के एक और पत्र के आ जाने से उसकी चिंता शोभा की ओर मुड़ जाती है। बॉनी हॉल, प्रिफेक्ट जसवंत आदि के बारे में सोचता हुआ मनोज स्कूल में अपनी अंतिम 'ड्यूटी'–आज का डिनर– भी पूरा करता है। फिर बाहर आकर मिसेज दारूवाला से थोडी बातचीत करता हुआ पूर्व निश्चित कार्यक्रम के अनुसार बॉनी हॉल के साथ घूमने के लिए माल रोड की तरफ रवाना हो जाता है। मनोज बॉनी के साथ देर रात तक त्रिसूली रोड पर घूमता रहता है लेकिन दोनों ही अपने विशिष्ट और आत्मलीन स्वभाव के कारण अपेक्षित और संभावित यौन–सुख उपलब्ध न कर ऊबे हुए अपने–अपने घर लौट आते हैं इस अध्याय में मनोज लगातार चलता रहता है। अपने घर से स्कूल से माल रोड त्रिसूली और हवाघर और फिर लौटकर अपने घर तक, लेकिन मनोज किसी के साथ नहीं रहता। वह लगातार चलता जाता है और उसका लगातार चलते जाना ही दरअसल 'सड़क' है।

'न आने वाला कल' उपन्यास का अन्तिम खण्ड 'दरवाजे' है। इसमें मनोज स्कूल से जाने की अन्तिम तैयारी करता हुआ सामान छाँटता है कि क्या साथ ले जाना है, क्या गिरधारीलाल के यहॉ छोड़ जाना है और क्या यों ही बॉट देना है। मकान के दूसरी ओर रहते कोहली और उसकी पत्नी शारदा के वर्णन का आख्यान है। इसमें यह भी ज्ञात होता है कि शारदा भी कोहली को छोड़कर जा रही है क्योंकि कोहली 'आदमी' नहीं है। मनोज का स्कूल से अपने शेष वेतन का चैक प्राप्त करना फालतू सामान लेने आयी काशनी से उसका अधूरा यौन–संसर्ग और परिवेश की ऊब से मुक्ति के एक हड़बड़ाहट भरे एहसास के साथ मनोज का बस स्टैंड पहुँचना, किन्तु वहाँ जाकर देखना कि अभी तो उसकी गाड़ी आने में काफी देर है। कथाक्रम तो यहीं समाप्त हो गया है लेकिन मनोज अभी भी उस देशकाल से बाहर नहीं हो सका है जिसके लिए वह कथारंभ से ही प्रयत्नशील है, उसकी गाड़ी अभी भी नहीं आयी है। 'दरवाजे' या 'दरवाजा' जो मनोज के बाहर जा सकने का माध्यम है मानों अभी नहीं खुला।

'न आने वाला कल' मानव सम्बन्धों विशेषकर स्त्री पुरूषों के विघटन का उपन्यास है जिसमें अस्तित्व की समस्या प्रमुख है। हेडमास्टर मिस्टर व्हिसलर से लेकर चपरासी फकीरे की पत्नी काशनी तक जो एक पहाडी स्कूल में एक ही

जिन्दगी के सहभागी होकर जी रहे थे; साथ–साथ जीते हुए भी वे सब इतने अकेले थे कि सिवाय अपने और किसी के अकेलेपन को महसूस नहीं कर सकते थे।

अपनी अपनी चौहद्दी में बंद वे लोग अपनी–अपनी जगह एक ही चीज को खोज रहे थे– अपने आने वाले कल को, परन्तु उस कल की निश्चित रूपरेखा उनमें से किसी के सामने स्पष्ट नहीं थी। नायक मनोज सक्सेना के त्यागपत्र से हरचौहद्दी के अन्दर एक खलबली सी मच जाती है। हर आदमी संत्रस्त हो जाता है कि जिस खतरे से वह बचना चाहता है। वह शायद अब बिल्कुल ही सामने है । मनोज का त्यागपत्र सबको अपने अपने भविष्य के प्रति आशंकित कर देता है। इस प्रकार इस उपन्यास में आज के टूटते, बल्कि टूटकर भी न टूट पाते– मानव सम्बन्धों के बीच व्यक्ति की अकुलाहट का अंकन अस्तित्ववादी मनवतावाद के आधार पर किया गया है।

अस्तित्ववादी विचारधारा का आरम्भ वस्तुतः दर्शन के ही क्षेत्र में हुआ। इस सम्प्रदाय का उद्गम–स्रोत जर्मन दार्शनिक 'हसरेल' तथा 'हेडेगर' और डेनिश चिंतक कीर्कगार्ड की विचार–पद्धतियों में देखा जा सकता है। इन विभिन्न चिंतकों के मतवादों का संघटन वर्तमान युग में फ्रांस में हुआ, जहाँ अस्तित्ववाद को साहित्यिक ख्याति जांपाल सार्त्र के माध्यम से 1946 ई0 के आसपास मिली। यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध की विभीषिका के कारण जो भीषण संत्रास एवं अस्थिरता की सृष्टि हुई उसी ने इस विचारधारा को पीठिका प्रदान की तथापि उसका दार्शनिक पक्ष अनेक वर्षों पूर्व ही उदित हो चुका था और शनैः शनैः प्रचारित हो रहा था। अस्तित्ववाद मानव जन्म और मानव जीवन को एक अभिनव रूप में ग्रहण करता है। वर्गसां ने जिस चिरंतन प्रवाहमान एवं परिवर्तनशील मानव चेतना में आस्था प्रकट की थी, अस्तित्ववाद उसी का अगला चरण है। यह उस युग का वैचारिक विग्रह है, जब पूंजीवाद फासिज्म का रूप ले चुका है और साम्यवाद शक्तिशाली सुसज्जित वर्गराज्य का। बाह्य संघर्ष के कारण इन दोनों के दर्शन की नींव हिल जाती है और मनुष्य उस संघर्ष में आबद्ध विवश एवं निरूपाय होकर अपने अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न उठाता है। तो पाता है कि उसका अस्तित्व अनेक शक्तियों से अनुशासित है,. जिन पर उसका कोई बस नहीं है। पहली शक्ति है मृत्यु। उसके जन्म के क्षण से ही उसकी मृत्यु इतनी अनिवार्य और ध्रुव निश्चित है कि उस सम्बन्ध में उसे कोई विकल्प अथवा वरण की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। क्योंकि समग्र रूप में उसका अस्तित्व तो अन्त पर ही उजागर होगा।

इसी दर्शन के कारण अस्तित्ववाद में वरण की स्वतंत्रता का अन्यतम महत्व है। मानव अस्तित्व पहले से ही अपनी नियति से बंधा है अतः उसमें कोई भी अतिरिक्त बन्धन मनुष्य क्यों स्वीकार करेगा? इसलिए अस्तित्ववादी व्यक्ति ऐसी स्थिति का विरोध करता है जो उसे वरण की यह स्वतन्त्रता नहीं देना चाहती। वरण की यह स्वतन्त्रता मानव–जीवन में प्रतिक्षण और प्रत्येक स्थिति में उपस्थिति रहती है और व्यक्ति पर एक ऐसा दायित्व लाद देती है जिससे वह बच नहीं सकता।

अस्तित्ववाद की मान्यता है कि व्यक्ति अपने अतिरिक्त और किसी को नहीं जान सकता वह औरों को इसलिए जान पाता है क्योंकि वह अपने को जानता है। अतएव सारे मूल्य अन्तर्मुखी होते हैं अर्थात वे मूल्य होते ही नहीं, वे व्यक्ति की प्रतिस्तुति ही होते हैं, उनकी प्रतिबद्धता ही होते हैं और उसका प्रत्येक वरण सामान्य कर्म न होकर एक नैतिक कर्म होता है, क्योंकि वही उसको बनाता हैं। इस रूप में अस्तित्ववाद कर्म प्रधान विचारधारा है। पर यह कर्म किसी परोक्ष सत्ता द्वारा पूर्व–नियत कर्म न होकर व्यक्ति के वरण से उद्भूत कर्म है और क्योंकि उसके प्रत्येक कर्म का प्रभाव केवल उसी पर नहीं समस्त मानवता पर पडता है, अतः वह मानवतावादी है और उसका अपने प्रति दायित्व एक प्रकार से समस्त मानवता के प्रति दायित्व ही है। अतः व्यक्ति को प्रतिक्षण अपने वरण में अपने आपको प्रतिफलित करते चलना होता है, तभी उसकी मुक्ति सार्थक होती है। यह कह सकते हैं कि मनुष्य को वरण की स्वतंत्रता तो प्राप्त है, पर वरण न करने की स्वतन्त्रता नहीं है, क्योंकि वरण न करना भी तो विकल्प ही है। चूँकि हम अपने कर्मों से ही अपना निर्माण करते हैं अतः हम स्वयं निर्माता हैं। 'न आने वाला कल' उपन्यास में सभी पात्र इसी दर्शन की अनुभूति से गुजर रहे हैं।

मनोज सक्सेना की समस्या इतनी ही थी कि वह मुक्ति चाहता था। परन्तु किससे? सम्बन्धों के इस विखराव में क्या नौकरी से? या फिर पत्नी से? या किसी और चीज से, जिसे कि वह स्वयं भी नहीं जानता था? मनोज सदैव ही अपने अस्तित्व के प्रति चिन्तित रहता है। कर्नल वत्रा के कहने पर कि "तुम्हें बीमारी असल में कुछ नहीं है। अगर है तो सिर्फ इतनी ही कि तुम अपने को बीमार माने रहना चाहते हो।"[46] और यह बात मनोज को अपने सम्बन्धों के अस्तित्व के प्रति चुनौती लगती है। इसी से मिलती–जुलती स्थितिः स्कूल जो एक परिवार की तरह है कि एक पात्र बॉनीहॉल की है वह 'चीज' नहीं बनना चाहती है और इस साठ सदस्यों के स्टाफ तथा तीन सौ विद्यर्थियों के समूह से व्यक्तिगत रूप से जुड़ चुकी है और किसी के साथ स्थायी सम्बन्ध नहीं बनाती है क्योंकि

अस्तित्ववादी दर्शन ने उसे निरूद्देश्य तथा भटकाव के मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया है। जब मनोज के लिए बॉनीहॉल 'चीज' नहीं बनती तो उसके अहं को चोट पहुँचती है और उसे लगता है कि "एक चेहरा और चेहरे में जडी दो आँखें जो एक चुनौती लिए मुझे देख रहीं थी।"[47] इस प्रतिक्रिया के कारण उसका अवचेतन मन बॉनी से सचेत हो जाता है और सम्बन्धों में स्थायित्व नहीं हो पाता। सम्बन्धों के विघटन की यही समस्या नायक मनोज को अपनी पत्नी शोभा के सामने सालती रहती है। क्योंकि शोभा के सामने सिगरेट पीते हुए वह सहज नहीं रह पाता था। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि "वह मुझे देख ही नहीं रही, मन ही मन उस दूसरे के साथ, मेरी तुलना कर रही है जिसके साथ विवाहित जीवन के सात साल उसने विताये थे।"[48] मानव सम्बन्धों की यह कृत्रिमता अस्तित्ववादी चिन्तन की पृष्ठभूमि में विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। पति–पत्नी दोनों ही एक दूसरे के निकट आने या आत्मीय बनने की चेष्टा नहीं करते, क्योंकि इसे वे अपने ऊपर दबाव अनुभव करते हैं – यह स्थिति शोभा मनोज के साथ घटित होती है। मनोज सोचता है– "उसकी नजर में मैं अब भी एक अकेला आदमी था जिसका घर उसे संभालना पड़ रहा था जब कि मेरे लिए वह किसी दूसरे की पत्नी थी जिसके घर में मैं एक बेतुके मेहमान की तरह टिका था। मैं कोशिश करता था कि जितना ज्यादा वक्त घर से बाहर रह सकूं, रहूं। पर मजबूरन घर में रूकना पड़ जाता, तो वह काफी देर के लिए साथ के पोर्शन में शारदा के पास चली जाती थी।"[49] साथ–साथ रहते हुए ये दोनों इतने अभ्यस्त हो गये थे कि एक दूसरे के मामलों में दखल देना छोड़ दिया था, यदि दोनों में किसी को गुस्सा आता भी था तो बाहर आने पर उसकी कोमल अभिव्यक्ति हो जाती थी। और यही बढ़ती गुस्सा साथ ही पहचान दोनों को औपचारिकता के बंधन में बांधे हुए थी क्योंकि–"उस युद्ध विराम की दोनों की अपनी–अपनी शर्तें थी– अपने–अपने तक सीमित। दोनों को एक–दूसरे से कुछ आशा नहीं थी, इसलिए हदबंदी टूटने की नौबत बहुत कम आती थी।"[50]

शारदा और कोहली दम्पति में सम्बन्धों का विघटन भी अस्तित्व वादी दृष्टिकोण के तहत चलता रहता है– "मेरा इस आदमी के साथ गुजारा नहीं है। मेरे मॉ बाप ने पता नहीं क्या देखकर मुझे इसके साथ व्याह दिया। यह कोई भी आदमी है जिसके साथ एक लड़की जिन्दगी काट सके.....। पर मैंने सोच लिया है, मुझे चाहे, सारी उम्र कुंवारी रहना पडे, मैं इस आदमी के साथ और एक दिन भी नहीं रहूँगी।"[51] यहाँ शारदा का मानवीय अस्तित्व वैयक्तिक सन्दर्भ में स्वअस्तित्व भय से निःस्त्रत होकर पुनः उसी ओर उन्मुख होता है। वैयक्तिक अस्तित्व

सम्भावनापरक है, अतः उसकी अन्तिम रूप से व्याख्या नहीं की जा सकती। चेतना के स्वर पर उत्पन्न स्वतंत्रता वैयक्तिक निर्णय और कार्यरूपों में शारदा को अन्तर्भूत करती है और वह कार्यकारी क्षणों में अनुभवात्मक धरातल पर व्यक्ति–मानव अनुभव–सारणी के माध्यम से अपनी चेतना के विभिन्न रूपों को गृहण करती हुयी आगे बढती जाती है जिसे वह दबाव या परिस्थितियों में खण्डित नहीं करना चाहती है।

तीसरा, परिवार जो आपसी अन्तर्द्वन्द्व से गुजर रहा है जिमी और रोजी का है, रोजी जबसे इस परिवार रूपी संस्था में आयी है बहुत थकी सी महसूस करती है और यूँ कहा जाय कि उसे यहॉ की जिन्दगी रास ही नहीं आई और उसकी अपनी थकान बढने के साथ ही पति रोजी के प्रति भी सम्बन्धों में थकान बढती स्पष्ट नजर आने लगी है, उसे जिमी की फरमाइशों से चिढ़ है वह अपना स्वतन्त्र वजूद रखना चाहती है इसलिए इस स्कूल की नपी–तुली जीवन शैली का वह वहिष्कार सी करती प्रतीत होती है।–

"वह बोली कि मेरी वजह से आपसब लोग आज भूखे रह गये हैं। पर यह दोष मेरा नहीं, मेरे पति का है मैंनें इससे कहा था कि मुझे घर पर अकेली छोड़ दो। पर इसका ख्याल था कि मैं पार्टी में शामिल न हुई, तो लोग जाने क्या सोचेंगे। जिमी का सबसे बडा दोष यही है कि यह बहुत भला आदमी है। लोगों की बहुत चिन्ता करता है मेरी भी बहुत चिन्ता करता है। कोई चाहे कितनी कोशिश करले, इसका चिन्ता करना नहीं छुड़ा सकता। यही वजह है जो आप सब लोगों को आज आधा खाना–खाकर उठ जाता पड़ा है। पर मैं समझती हूँ इसके बाद कभी आपको ऐसी स्थिति का सामना नहीं करना पड़ेगा, क्योंकि आज के बाद कम से कम आज के बाद ...... मेरा ख्याल है जिमी चिन्ता करना छोड़ देगा।"[52] रोजी की यह वैयक्तिक चेतनानात्मक दृष्टि अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कटिबद्ध है इसलिए वह अलग रहकर अपनी पहचान बनाना चाहती है।

मनोज सक्सेना अस्तित्ववादी दर्शन में मृत्युभय के कारण संत्रास झेलता रहता है और समाज से तथा स्वयं से कटा–कटा महसूस करता है– एक स्थान पर मनोज कहता है कि "मन को मैं आत्महत्या की पटरी पर नहीं चलने देना चाहता। इसलिए कि उसका कुछ अर्थ नहीं था। मैं जानता था कि मैं किसी भी स्थिति में आत्महत्या नहीं कर सकता। मै हर स्थिति के परिणाम को स्वयं देखना चाहता था– और जिसमें देखना न हो, उस परिणाम की कल्पना ही मुझे झूंठ लगती थी।"[53] यही तीव्र अस्तित्वबोध एवं पूर्णस्वतन्त्रता की भावना मनोज को शोभा से बाँनी या अपनी पूर्व पत्नी से नहीं जोड पाती है और वह दिग्भ्रमित

होकर भटकता रहता है। मनोज के सारे मित्र जब एक स्थान पर एकत्रित होकर उसके त्यागपत्र की समस्या पर विचार करना चाहते हैं और उससे सहानुभूति प्रकट कर सहायता करना चाहते हैं तो वहाँ भी यही समस्या प्रमुख हो जाती है। और यह स्पष्ट होता है कि कोई किसी का मित्र नहीं है सब अपनी अपनी परिधि में कैद हैं' इन सब बातों से मनोज सदैव भयाक्रांत रहता है। एक स्थान पर अपने अनुभवों को स्पष्ट करते हुए वह कहता है। "उसी तरह बैठे हुए और अपनी साँस के आने–जाने को महसूस करते हुए एक क्षण आया जब मैं जैसे किसी चीज से डरकर सहसा उठ खड़ा हुआ। वह डर किस चीज का था? उस खामोशी का? अपने अकेलेपन का? अपनी सॉस में रूकावट आ जाने के खतरे का? या वहाँ होते हुए भी न होने, बीत चुकने के एहसास का।"[54] मृत्यु का यह भय जगह–जगह पर छाया रहता है, जो मनोज को सन्त्रास उत्पन्न किए रहता है और बहुत कोशिशों के बाद अपने विभाजन को नहीं रोक पाता है।

अस्तित्व की इस चटपटाहट में शोभा भी कई बार चटक–चटक कर टूटती है फिर भी सक्रिय प्रतिरोध के साथ स्वतंत्रता बनाये रखना चाहती है। शोभा भी नायक मनोज की तरह मृत्यु से डरती है और प्रत्येक मूल्य पर अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्य बनाए रखना चाहती है। शोभा बार–बार मनोज से इसी बात की शिकायत महसूस करती है। कि उसने ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित कर दीं, जो उस पर निरंतर दबाव डालती गई हैं और वह अपने अस्तित्व एवं स्वतंत्रता को सुरक्षित नहीं रख पा रही है– "एक ऐसे आदमी के साथ मैंने अपनी जिन्दगी को उलझ जाने दियाजिसके पास मुझे दे सकने के लिए कुछ नहीं था, किसी कोभी दे सकने के लिए कुछ नहीं था। कभी तुमने सोचा है कि तुम अपनी जगह कितने स्वार्थी, कितने दम्भी और कितने हठी आदमी हो? क्या तुम्हारे जैसे आदमी को कभी किसी भी लड़की की जिंदगी को अपने साथ उलझाना चाहिए था? क्या इतने साल अकेले रहकर तुम्हें यह पता नहीं चला था कि अकेलेपन की जिंदगी ही तुम्हारे लिए एक मात्र जिन्दगी हो सकती है।"[55] इन परिस्थितियों के केन्द्र बिन्दु में मनोज तो था ही साथ उसकी अपनी कुछ व्यक्तिगत समस्यायें भी थीं वह सोचती भी है, यदि वह पूर्व पति का घर छोड़कर पिताजी के घर न गयी होती और फिर मनोज के साथ शादी न करती तो हो सकता है कि स्थितियाँ कुछ अनुकूल रहती परन्तु मनोज से "अपने को जोडकर मैंने हर चीज से अपने को वंचित कर लिया।"[56]

बानीहॉल एक स्वतंत्र व्यक्तित्व की नारी है इसलिए परिवार से अधिक वह स्वतंत्रता को महत्व देती है शायद यही कारण है कि उसका परिवार

बस नहीं पाया बॉनीहॉल अपने बारे में अवगत कराते हुए मनोजसे कहती है कि–"जहाँ तक शरीर की नैतिकता का सम्बन्ध है, उसे लेकर मेरे मन में कभी कोई कुण्ठा नहीं रही जब सत्रह साल की थी, तभी से मैं तुम्हारे सामने यह भी स्वीकार कर सकती हूँ कि कई– एक लोगों के साथ मेरा शारीरिक सम्बन्ध रहा ही है, हालांकि हर एक के साथ एक–सा नही।"[57] वह वही कुछ करना चाहती है जिससे उसकी आत्मा को सन्तुष्टि मिले और कट्टर पंथी विचारधारा तो उसमें है ही नहीं, वह जो कुछ अच्छा गलत करती है उसे ही पवित्र मानती है। इससे उसे मानसिक स्वतंत्रता महसूस होती है। बॉनीहॉल 'अन्तराल' की श्यामा की तरह है श्यामा भी मानसिक स्थितियों को पवित्र मानती है– "भावना साथ देते मै किसी भी तरह के आचरण को हीन नहीं समझती।"[58] इन्हीं भावनाओं के साथ प्रश्न उठता है कि स्वतन्त्रता की एक सीमा होती है और इसे बॉनी च्युत नहीं करना चाहती – "मैं नहीं चाहती कि किसी भी आदमी का मुझ पर इतना अधिकार हो कि मैं उसके बिना जी ही न सकूं।"[59] शोभा और बॉनी दोनों ही नहीं चाहतीं कि कोई उन्हें 'इस्तेमाल' कर सके। उनका चेतना बोध बराबर इस बात के लिए सक्रिय रहता है कि वे मनुष्य हैं, पदार्थ नहीं, जिसको जिस रूप में कोई चाहे, प्रयोग कर सके। इसलिए ये टूटती विघटित होती रहती हैं और परिवार से मानसिक रूप से जुड नहीं पाती हैं।

नायक मनोज का भय और आतंक इस सीमा तक उसके अन्दर गहन हो जाता है कि वह बर्फ के निशानों को देखकर भी संत्रस्त हो जाता है– "थोड़ी देर में वे सब निशान पिघल जायेंगे, यह सोचकर मुझे सिहरन हुई।"[60] यह डर उसकी वास्तविक मनःस्थिति का प्रतीक है। वह अपने मित्रों, शोभा तथा बॉनी– किसी से भी घृणा नहीं कर पाता और न चाहता है कि कोई उससे घृणा करे, क्योंकि वह एक एक कलंकित भावना है और इसका एकमात्र उद्देश्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता का अपहरण करना है, व्यक्तित्व को विभाजित करना है। मनोज न तो स्वयं कोई निर्णय ले पाता है और न किसी दूसरे के ऊपर कोई निर्णय ले पाता है। वह बस असहाय अवस्था में इन सम्बन्धों से मुक्ति के लिए छटपटाता रहता है। उसे लगता है कि कोई उसका अपना नहीं है। उसकी मनोव्यथा को कोई नहीं समझ सकता। मानव सम्बन्धो के विघटन में यहाँ फिर वही प्रश्न उठता है कि अस्तित्ववादी मानवतावाद की जो दुहाई बार–बार दी गई है, क्या उसे मनोज शोभा, शारदा, बॉनी या दूसरे लोगों के अस्तित्व सचमुच सुरक्षित रह पाये हैं?

सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए एक सीमा की आवश्यकता होती है, जो व्यक्ति को एक बंधन में बांधे रखना चाहती है, यदि किसी भी व्यक्ति को उसके घर की दीवारों के अन्दर देखा जाए तो वह किसी न किसी रूप में जरूर उन दीवारों की अपेक्षाओं से बंधा होगा। अगर वह अपने से बाहर उमडता या हाथ पैर पटकता है, तो भी उन सीमाओं से जकडकर ही क्योंकि दीवारों की अपनी एक नैतिकता होती है। उनके बीच रहकर आदमी या तो चुपचाप उस नैतिकता का पालन करता है, या उसके प्रति एक खामोश विद्रोह और विद्रोह की खामोशी भी उस नैतिकता के दबाव की स्वीकृति ही मानी जाती है। उस दबाव से आदमी अपने को मुक्त अनुभव कर सकता है केवल वहां जहां किसी भी तरह की दीवारें न हों किसी भी दीवारों के न होने और स्वतन्त्रता की सांस लेने की जो आकुलता इन पात्रों में है, उससे क्या सुख मिला? मृत्यु का भय, स्वतन्त्रता, अस्तित्व की चेतना, अकेलापन और सम्बन्धों के विघटन का संत्रास ये प्रश्न और सन्दर्भ सब कृत्रिम जान पड़ते हैं और इनमें अस्तित्ववादी मानवतावाद की विकृतियॉ भी स्पष्ट उभरती हैं, जो मानव की अन्तर्रात्मा की रक्षा करने के बजाय उसे ध्वांसोन्मुख बनाती है।

'न आने वाला कल' उपन्यास पारिवारिक विघटन के स्वरूप को तथा इनकी विसंगतियों को स्पष्ट नहीं कर पाया है इसके पात्र अपनी निजी उलझनों में इतने व्यस्त रहते हैं कि एक दूसरे के प्रति उनके मन मे क्या–क्या अपेक्षायें रहती हैं स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पाते, उनका निजी अनुभव सार्थक प्रतीत नहीं होता तो वे अस्वस्थ मनोवृत्ति के शिकार हो जाते हैं या छोटी–छोटी क्षुद्रताओं एवं संकीणताओं के नजरिये से वे एक–दूसरे को हीनता ग्रन्थि के कारण समझ नहीं पाते और अपना आक्रोश अपने परिवेश अपने लोगों से निकालने में जल्दबाजी कर बैठते हैं। कुल मिलाकर मनोज जैसाकि उपन्यास में इसके क्रिया–कलापों और विचारों से प्रकट होता है लेखक के मानस से उत्पन्न कृत्रिम चरित्र है। सामान्य जीवन का सहज गतिमय रूप उसकी किसी भी हरकत से प्रकट नहीं होता। वह "सब कुछ को छोड़कर या अस्वीकार करके एक निषेधात्मक स्थिति में जा पहुँचता है, पर यह अस्वीकार उसे कहीं भी ले जाने में असमर्थ है।"[61]

अन्तराल

मोहन राकेश का तीसरा उपन्यास 'अंतराल' कथा–शिल्प की दृष्टि से प्रयोगशील है। 'अंतराल' उपन्यास को लेखक ने तीन खण्डों में विभाजित किया है अतराल–1 और अंतराल–2 और अंतराल–3 के मध्य कई छोटे–छोटे कथांश हैं।

जिनमें कहीं क्रमिक गति से, कहीं पूर्व–दीप्ति पद्धति से, कहीं चेतना–प्रवाह और कहीं विवरण तथा कहीं डायरी शैली से कथा का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

अंतराल–1 : संप्रति नायक कुमार बम्बई के किसी विज्ञापन–प्रतिष्ठान में कार्य करता है। उसे आज शाम साढे पॉच बजे टी–सेंटर पर श्यामा से मिलने जाना है : उसका फोन आया था। कुमार दफ्तर से निकलता है, बंबई के भीड़ भरे रास्तों में मिलते लोगों के वर्णन के साथ जब वह टी–सेंटर पहुँचता है तो श्यामा उसे वहाँ नहीं मिलती। पौन घंटा प्रतीक्षा कर कुमार लौट आता है। लौटते में चर्च गेट से फास्ट ट्रेन में वापसी के ब्यौरे के साथ कहानी अतीत की ओर घूम जाती है। .... कुमार किसी कस्बे में प्राध्यापक है। वहीं एक पार्टी में उसके सहकर्मी प्रोफेसर मल्होत्रा उससे अपनी साली श्यामा का परिचय कराते हैं कि वह मंडी के एक स्कूल में प्रधानाध्यापिका है और दर्शनशास्त्र में एम0 ए0 करने के लिए छुट्टी लेकर आयी है और यह भी कि कुमार उसे गाइड कर दें दूसरे दिन से श्यामा कुमार के घर पढ़ने आने लगती है। श्यामा की पढ़ाई के दौरान दोनों में जो अन्य बहुत सी बातें होती हैं उनसे कई कथासूत्र भी जन्म लेते जाते हैं। श्यामा विधवा है शादी के दो साल बाद उसका पति (देव) एक बच्ची छोड़कर मर गया। कुमार का इससे पूर्व लता नाम की लड़की से प्रेम व्यवहार था, जिसे समाप्त हुए दो साल बीत गये और कुमार को इस जगह से कहीं और चले जाने की सोचते–सोचते भी दो साल बीत गये । एक बरसाती शाम श्यामा कुमार के साथ खेतों की ओर घूमने जाती है। रास्ते में ईषत् प्रेम–प्रसंग श्यामा बताती है कि जीजाजी उसके प्रति दूषित यौन–भाव रखते हैं और अब शायद वह जल्दी ही मंडी लौट जाय। कथा सूत्र यहाँ से फिर पीछे को मुड़कर कुमार के चर्चगेट से फास्ट ट्रेन में वापस लौटने के बिंदु से जाकर जुड जाता है। कुमार बांद्रा पर उतरता है और घर के लिए बस में सवार होता है और कथा फिर वहीं कस्बे के परिवेश में पहुँच जाती है। जहॉ कुमार और श्यामा की कथा खेतों की सैर से छूटी थी।.... एक खेत के रहट पर श्यामा कुमार को प्रो0 मल्होत्रा के द्वारा किये गये ईषत् बलात्कार के बारे में बताती है। बीच में लता की चर्चा आती है। कुछ देर उस रहट पर रूककर कुमार और श्यामा लौट पडते हैं लौटते में श्यामा कुमार के आलिंगन के प्रति विरक्ति प्रदर्शित करती है। फिर दो दिन तक श्यामा कुमार के यहाँ नहीं आती। तीसरे दिन जब वह आती है और उस आलिंगन प्रकरण पर जब दोनों में बातें होती हैं तो जाहिर होता है कि श्यामा अभी भी अपने स्वर्गीय पति के प्रभाव से मुक्त नहीं है। अगले दिन श्यामा मंडी चली जाती है कुमार उसे कस्बे से अगले

स्टेशन पर विदा करने पहुँचता है और कुमार के घर वापस लौटने के वर्णन के साथ प्रथम कथा–खण्ड समाप्त हो जाता है।

'अन्तराल–2' का कथा–सूत्र लेखक ने 'अंतराल–1' के टी–सेंटर वाले उस आरम्भिक बिन्दु से जोडा है जहॉ से कुमार श्यामा से बिना मिले अपने घर लौट जाता है। इस खंड की कथा बंबई के उक्त स्थल–प्रसंग से श्यामा के शब्दों से शुरू होती है। टी–सेंटर पहुँचने में विलंबित हो जाने के कारण वह कुमार से नहीं मिल पाती और लौट आती है। श्यामा की वापसी के रास्ते और समुद्र–तट के लेखकीय दार्शनिक वर्णन के साथ कथा मंडी में श्यामा के घर की ओर मुड़ जाती है। अकेली रहती मानसिक रूप से अशांत और क्षुब्ध श्यामा सोचती रहती है, उसे बस्ती के अगले स्टेशन से कुमार की विदाई की याद आती है। अकेलेपन की पीड़ा से मुक्ति के लिए एक मुद्दत बाद श्यामा ने अब फिर से डायरी लिखना शुरू किया है। डायरी में वह आत्म, प्रेमभाव, देव, गृहस्थजीवन तथा कुमार आदि के बारे में अपने विचारभाव व्यक्त करती है । अपने विद्यालय की रंजु नामक एक अध्यापिका की शादी के लिए देखने के बहाने वह कुमार को पत्र लिखकर बुलाती है। यहाँ से ये कथा फिर बम्बई के उसी कथा क्रम से जुड जाती है जहाँ से श्यामा टी–सेंटर से घर वापस लौट रही थी। नरीमनप्वाइंट, मैरिन–ड्राइव चर्च गेट स्टेशन तथा अंधेरी आदि के रास्ते से ट्रेन का सफर करने के बाद श्यामा घर पहुँचती है। घर पर बीजी (माँ), सीमा (छोटी बहन) तथा बेबी (पुत्री) के सम्बन्ध में आत्मीय–अनात्मीय विचार करती हुई वह थककर सो जाती है।इसके आगे कथा फिर मंडी के उसी छूटे हुए सूत्र से जुड़ जाती है जहां वह कुमार के आने की प्रतीक्षा कर रही है। आज शनिवार है और कुमार को आना है। दैनंदिन के कार्यों के दौरान श्यामा अपने अंतर में लगातार कुमार के आ पहुँचने और उसके बाद के सारे व्यवहार की कल्पना में जी लेती है लेकिन कुमारआखिरी बस से भी नहीं आता।

अब फिर कथा बंबई–अंधेरी में तब से शुरू होती है जब श्यामा टी–सेंटर से घर आकर सो गयी थी। बेबी को लेकर श्यामा और बीजी में विवाद हो जाता है श्यामा और बीजी के बीच पत्र व्यवहार से तय हुआ था कि पूना का घर बेचकर यदि बम्बई में रहा जाय तो वह भी मंडी छोडकर उनके साथ रह सकती है। और इसी हेतु श्यामा लंबी छुट्टी लेकर इस समय बम्बई आयी है। लेकिन यहॉ आकर वह पाती है कि बीजी और सीमा से 'एडजस्ट' करना बहुत कठिन है। ..... वह चिन्तित रहती है। देव की याद करती है शादी के तुरंत बाद से ही देव ने उसे कभी भी आत्मीय स्तर पर ग्रहण नही किया। एक दिन देर रात

को जब सीमा शराब पीकर लौटती है तो श्यामा से उसका विवाद हो जाता है। बेबी भी यहाँ आकर उससे कट गयी है। सीमा बीजी और श्यामा में तनाव बढता ही जाता है।

'अंतराल–3' की कथा बंबई में कुमार के दफ्तर से शुरू होती है। जहाँ एक दिन अचानक ही श्यामा पहुँच जाती है। दोनों दफ्तर से बाहर आते हैं, टी–सेंटर में चाय पीकर चर्च–गेट स्टेशन से दोनों गाड़ी पकड़ते हैं बांद्रा पर उतर कर श्यामा अपने ही आग्रह से कुमार के घर जाती है। कुमार का अस्त–व्यस्त और गंदा कमरा। वहाँ चाय पर दोनों में आत्मीय वार्तालाप होता है जिससे श्यामा को जानकारी मिलती है कि इस बीच कुमार ने विवाह किया था, लेकिन छः माह से अधिक सम्बन्ध न रह सके। काफी देर तक बातें करने के बाद जब श्यामा चलने को होती है तो कुमार उसे बलात् प्राप्त करने का प्रयत्न करता है और श्यामा बलात् ही अपने को बचा लेती है।

रात भर के उनींदेपन के बाद अगली सुबह जब कुमार सोकर उठता है तो उसकी पूर्व स्मृति में कथा वहाँ से आगे बढती है जब श्यामा उसे धकेल कर चली गयी थी। पूर्व कथा सन्दर्भ में कुमार आत्मग्लानि में डूब जाता है और फिर स्टेशन तक छोड़ आने के लिए श्यामा से कहता है श्यामा इनकार कर देती है। और कल की घटना की कुछ दार्शनिक–सी व्याख्या कर कुमार को ऊपरी क्षमा और सांत्वना देकर चली जाती है। कुमार चाय बनाने में व्यस्त हो जाता है और कथा अंततः समाप्त हो जाती है।

मोहन राकेश के उपन्यास 'अन्तराल' में प्राचीन आदर्शों के प्रति कोई ममत्व नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दिग्भ्रमित मानव अपनी मतोनुकूल पगडण्डी खोजने में व्यस्त है। एक नगर के चौराहे से भटकता हुआ छोटे कस्बे तक का मार्ग बहुत ही जटिल बन गया है। मानव सम्बन्धों के विघटन की अनेक समस्यायें मनोवैज्ञानिक, आर्थिक तथा आत्मकेन्द्रितता के वजह से अन्तराल में विखरी हुई हैं।

अन्तराल में यथार्थ रूप में आधुनिक मानव सम्बन्धों के विघटन की कहानी चित्रित है। मुख्य रूप से 'सैक्स' तथा मानवीय सम्बन्धों के टूटने की कहानी है जो सम्बन्ध केवल देखने में सहने भर के लिए ही हैं। स्त्री–पुरूषों का सम्बन्ध एक ज्वलन्त समस्या है। इसके विषय में रिवेल इ0 मेन्जेज अपना मत देते है– "Sexual Permissiveness is good ın theory, but it is doubted in Practice" परन्तु पाश्चात्य प्रभाव के सम्पर्क में आये लोग 'सैक्स' को ठीक मानते हैं। "Over

go percent thinks, that saxual permissiveness is not wrong while 65 Percent are opposed to it, the rest are defferent"[62] (Illustrated weekey of India. Author. ERVELL. EMENEZES june 16, Sunday 1974) ।

'अन्तराल' के सन्दर्भ में कुछ सन्दर्भ ऐसे हैं जो प्राचीन नैतिक धारणाओं को तोडते नजर आते हैं क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद देश का कायापलट हो रहा है। जब देश में औद्योगिक क्रान्ति गतिशील है तो उसका प्रभाव देश के सांस्कृतिक मानव–मूल्यों पर पड़ना स्वाभाविक है। जीवन में भौतिकता का प्रवेश दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। इससे हमारे जीवन के पुराने मूल्यों के प्रति जो आस्था अब तक बनी हुई थी। वह बदलती हुई परिस्थितियों में विघटित हो रही है। स्त्री–पुरूषों के आपसी सम्बन्धों के सम्बन्ध में नैतिक आस्थाओं का लोप होता जा रहा है, भौतिक समृद्ध जनमानस का लक्ष्य होती जा रही है, वर्ग, जाति या सम्प्रदाय के आधार पर व्यक्ति को ऐतिहासिक सन्दर्भो के आधार पर अधिकार प्राप्त था उनमें परिवर्तन होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में मानव में विघटन होना (आस्थाओं में परिवर्तन) स्वाभाविक ही था।

'अन्तराल' की कथा में पारिवारिक विघटन का स्वरूप दो कोटियों में रखा जा सकता है।

1. पारिवारिक मानव सम्बन्धों के विघटन का स्वरूप।

2. वैयक्तिक मानव सम्बन्धों के विघटन का स्वरूप।

समाज में परिवर्तन आने के साथ ही साथ पारिवारिक मानवीय सम्बन्धों के विघटन का स्वरूप भी बदल रहा है। मानवीय सम्बन्धों के मूल्य बदलते जा रहे हैं समाज में परिवारों की इकाइयाँ बदलती जा रही है। परिवार में आपसी सम्बन्ध भी अपनी नैतिकता को छोड़ गए हैं। वह सम्बन्ध केवल सहने के सम्बन्ध रह गये हैं। इनमें वह आपसी प्यार नहीं रहा है दिखावे के सम्बन्ध जो अन्दर ही अन्दर घुटते टूटते से नजर आ रहे हैं।

'अन्तराल' में पारिवारिक विघटन के सन्दर्भ में पहले श्यामा और राजीव का प्रेम लिया जा सकता है। राजीव अक्सर श्यामा के घर आता है। श्यामा की शादी की बात राजीव के साथ चलती है श्यामा मन ही मन उसे अपना पति मान चुकी थी क्योंकि राजनीति से सम्बन्धित बातों में उसकी बहुत जानकारी थी, और श्यामा उसके मुँह से निकले एक–एक शब्द को आदर के साथ सुनती हुई सोचा करती कि "राजनीतिक जीवन की धाँधलियों के कारण उस क्षेत्र में कुछ करने का अवसर न भी मिला तो केवल अपने विचारों से ही एक दिन वह व्यक्ति

सारे संसार को चमत्कृत कर देगा। इसलिए विवाह का प्रस्ताव किए जाने पर जब राजीव ने यह कर मना कर दिया कि उसने जीवन भर अविवाहित रहकर राजनीतिक कार्य करने का सकल्प ले रखा है तो उसके लिए उसके मन मे आदर और भी बढ गया।''[63] पर एक दिन उसे अपनी चचेरी बहन से मालूम पडा कि राजीव की शादी संसद सदस्य की छोटी बहन से हो गयी तब श्यामा स्तब्ध रह जाती है। राजीव के साथ श्यामा के सम्बन्धों का विघटन आकर्षण के अतिरिक्त और कोई नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह परिवार के सम्पर्क से बना और उसी से टूटा।

श्यामा और उसकी ससुराल वालों के विघटन का सम्बन्ध भी पारिवारिक दायरे में आता है। देव के साथ तो किसी तरह से श्यामा ने काट लिया और देव की ओर से उसने कभी कोई शिकायत भी नहीं की। परन्तु शादी की प्रथम रात को ही ''वह अन्धेरे का सम्बन्ध था जो कि अन्धेरे में भी ठीक से नही जुड पाता था, कोशिश दोनों तरफ से होती थी।''[64] श्यामा और देव में तनाव दोनों लोगों के आपसी मेल मिलाप में कमी के कारण भी हो सकता है क्योंकि देव ने एक बार श्यामा से कहा था ''हम जिन्हे सम्बन्ध कहते हैं वे केवल मंच पर अभिनेताओं के आपसी सम्बन्ध हैं और कुछ नहीं।''[65] देव की मृत्यु ने इस सम्बन्ध को श्यामा के भविष्य में रास्ता प्रशस्त कर दिया। बीजी और सीमा के साथ श्यामा का सम्बन्ध आर्थिक कारणों से जुडा हुआ था। यही व्यस्तता सीमा और बीजी के साथ थी। श्यामा भी यहॉ घुटन महसूस करती रहती है ''क्योंकि उस घर मे रहना भी लगातार एक तीन तरफा दबाव में जीने की तरह था ....। उस दबाव को कोहनियों की भार से अपने से परे नहीं किया जा सकता था, और न ही आशा की जा सकती थी।''[66] जब कुमार से वह मण्डी लौट जाने की बात कहती है तो कुमार कहता है कि क्या इसका कारण घर के लोग हैं कुमार, श्यामा से कहता है कि तुम मन में इस निष्कर्ष तक पहुंच गई हो कि तुम्हारा अब उन लोगों के साथ कुछ भी साझा नहीं है.... कि किसी तरह साझेदारी बना रखने की चेष्टा अपने में एक धोखा है। पर इतने दिन उस धोखे में काट लेने के बाद तुम्हारा स्वाभिमान ही इसे स्वीकार करने से तुम्हें रोकता है।''[67] और कुमार श्यामा से कहता है कि मण्डी जाने का इरादा तुम्हारी कोशिश यहॉ से दूर जाकर फिर किसी तरह उस धोखे को बनाये रखने की नहीं है। श्यामा इस पारिवारिक सम्बन्ध को बनाए रखने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करती है, यहाँ तक कि बीजी के साझे में फ्लैट भी खरीदती है, लेकिन सफल नहीं होती। अन्त में श्यामा का परिवार से सम्बन्ध टूट जाता है।

'वैयक्तिक मानव सम्बन्धों के विघटन' का स्वरूप दो रूपों में 'अन्तराल' में आया है–

1. भौतिक आवश्यकता के कारण पारिवारिक विघटन।

2. मनोवैज्ञानिकता के आधार पर पारिवारिक विघटन।

पारिवारिक सम्बन्धों के अतिरिक्त मनुष्य के निजी सम्बन्ध भी होते हैं। बदलते युग के साथ इन सम्बन्धों के मूल्य बदलते जा रहे हैं। मानव को भौतिक सम्बन्धों की आवश्यकता महसूस हो रही है। हमारे समाज में भौतिकता के आधार पर जो सम्बन्ध स्थापित हुए हैं वे जरा सी भी जमीनी हकीकत नहीं रखते हैं, और कुछ सम्बन्ध तो ऐसे हैं जिन्हें कोई नाम नहीं दिया जा सकता इसलिए इन सम्बन्धों के टूटने से व्यक्ति को कष्ट भी नहीं होता। हमारे समाज में 'पुरूषमित्रों' की संख्या बहुधा मिलती है। जिन स्त्रियों के बॉय–फ्रैण्ड नहीं होते हैं, वह गंवार समझी जाती है। यद्यपि भारतीय समाज में बॉय–फ्रैण्ड का फैशन अभी शैशवावस्था में ही है। आधुनिक भारतीय समाज में स्त्री आत्मनिर्भर रहना पसन्द करती है। उसके अपने वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं और यही वैयक्तिक सम्बन्ध लोगों को अपने मूल परिवार से काट देते हैं इसलिए एकल परिवार का जोर चल रहा है।

'अन्तराल' भौतिक आवश्यकता के आधार पर विघटित परिवारों की सशक्त वकालत करता है। कुमार का पीली लड़की लता के साथ वैयक्तिक भौतिक सम्बन्ध है, जिससे वह घर बसाने की चेष्टा करता है। क्योंकि कुमार जब लता से अन्तिम बार मिलता है, उस समय लता की शादी हो जाती है और लता अन्तिम बार उससे मिलने आती है और कुमार को वह अभिसार के लिए कहती है– ''कुछ पल उसे देखती रहकर बोली ''एक बात कहूँ? और वह फिर एक बार उसके पास आ गई। यह भी तो हो सकता है कि बिना ब्याह के तुम मुझे .... ।''[68] लता का कुमार के साथ सम्बन्ध केवल शारीरिक रूप से उसके जेहन में था और जब वह पूरा नहीं होता है तब वह सम्बन्ध समाप्त हो जाता है।

कुमार का भौतिक सम्बन्ध श्यामा के साथ भी होता है, क्योंकि लता द्वारा रिक्त कोष्ठ वह श्यामा से भरना चाहता है और श्यामा के हृदय में देव का स्थान उसकी मृत्यु के कारण रिक्त हुआ है और भौतिकता की अन्धी दौड में जब दोनों व्यक्ति शारीरिक सम्पर्क करते हैं तो वास्तविक रूप में उसे सहन न करने की स्थिति में विघटित हो जाता है,– कुमार और श्यामा ने वासनामय स्थिति के समय इस तथ्य को स्वीकार किया है– ''कुमार की साँस तेज हो रही थी और

चेहरा एक स्त्री को पा लेने के पुरूष भाव से जड़ होता जा रहा था। श्यामा के शरीर में एक–साथ सहानुभूति और वितृष्णा की झुरझुरी दौड़ गई.....। ''देखो अब मुझे चलना चाहिए''[69] इन भौतिक सम्बन्धों की आड़ में जब ये लोग असफल हो जाते हैं तब अपना सम्बन्ध च्युत कर लेते हैं।

शुद्ध भौतिक सम्बन्धों के स्खलित होने का एक स्वरूप सीमा में देखने को मिलता है जो अविवाहित होने पर भी पुरूष मित्रों से सम्बन्ध रखती है और प्रेमियों को कपड़ों की तरह बदलती है और वह स्वीकार भी करती है– ''मेरे दो–एक बांय फ्रैंण्ड हैं जिनके साथ मैं शाम को बाहर जाती हूँ। मैं जानती हूँ ममी उनमें से किसी को भी पसन्द नहीं करतीं। खास तौर से अख्तर को, वह बहुत कल्चर्ड लड़का है, ममी से बहुत मीठा बोलता है, पर वह उन्हें इसलिए नहीं भाता कि उसका नाम सुरेश या रमेश नहीं, अख्तर है और वह नमस्ते की जगह आदाब अर्ज कहता है।''[70] सीमा के चरित्र का विश्लेषण करने से इस बात की कल्पना होती है कि वह 'सोसाइटीगर्ल' है और जब उसकी भौतिक आवश्यकतायें समाप्त हो जाती हैं तब अपने लिए पुराना साथी (बॉय फ्रैण्ड) के स्थान पर नया (बॉय फ्रैण्ड) चुन लेती है।

श्यामा और गोपाल जी का सम्बन्ध भी भौतिकता के कारण स्थायित्व नहीं पा पाता है क्योंकि वासना के कारण श्यामा उनसे जुड़ नहीं पाती। प्रारम्भ में प्रो0 गोपाल जी के सानिध्य में आने पर वह उनका आदर करती है। साथ ही उनके प्रति एक आकर्षण भी बनाये रखती है। गोपाल जी का स्नेह श्यामा के प्रति वासनामय है यही कारण है कि एक दिन उसने घर के सभी सदस्यों को बाहर भेज कर, श्यामा के आने की प्रतीक्षा करता रहा, और उसके आने पर – ''खिड़कियॉ दरवाजे बन्द करके उन्होंने अन्धेरा कर रखा था। उसके अन्दर पहुॅचते ही उन्होंने बिना किसी भूमिका के उसे बाहों में लेकर अपने होंठ उसके होठों पर रख दिए। उसके साथ ही उन्होंने चेष्टा की उसे अन्दर के कमरे में ले जाने की।''[71] इस घटना ने श्यामा को गोपाल जी से विलग कर दिया।

'मनोवैज्ञानिकता के आधार पर' 'अन्तराल' में कई परिवार टूटते हैं, जुड़कर भी एक दूसरे के प्रति आपस में घुटते पिसते रहते हैं। यद्यपि इन सम्बन्धों को कोई नाम नहीं दिया जाता लेकिन यह सूक्ष्म अतिसूक्ष्म होते हैं। मानव केवल वासना ही नहीं चाहता, वासना के अतिरिक्त भी उन्हें जिन्दगी में कई अहम चीजों की आवश्यकता होती है और ऐसे सम्बन्धों के अभाव में जो मनोवैज्ञानिक होते हैं न जुड पाने से व्यक्ति अन्दर ही अन्दर टूटता रहता है।

कुमार जिसका व्यवहार कई अवसरों पर वासनामय हो उठता है, इसके अतिरिक्त उससे कुछ और भी की अभिलाषा रहती है और जब 'यह कुछ' व्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाता तो उसकी व्यक्तिगत जिन्दगी बिखर जाती है और यह प्रस्फुटन निरन्तर चलता रहता है– "शारीरिक आकर्षण से हटकर एक और आकर्षण होता है, व्यक्ति का चुम्बकीय आकर्षण जो शारीरिक आकर्षण से ही कहीं अधिक मन को खींचता है।"[72] सस्ते दामों पर मिलने वाले स्त्री सम्बन्धों से उसे वितृष्णा हो गई थी। कुमार अपने को कभी धोखे में नहीं रखना चाहता और ऐसे सम्बन्धों से अलग हो जाना वह उचित समझता है– "पर यह जिन्दगी जानवरों से बदतर नहीं कि जिसे आदमी अंदर से नफरत करे, उसके साथ रात–दिन एक घर में रूंधा रहे? जिसके शरीर की गन्ध तक से जी मितलाए, उसके साथ एक विस्तर में सोने का नाटक करे।"[73] इसी तरह श्यामा भी जो कुछ देव से पाने में असमर्थ रहती है वही कुमार से पाना चाहती है। इसी खोज में भटकती फिरती है। वह स्वयं सोचती है– "कुमार से वह क्या चाहती थी? उस रात की प्रतीक्षा में जो चाह मन में थी, क्या सचमुच बस उतना ही? उतना तो देव ने भी उसे दिया था। चाहती तो देव के अतिरिक्त किसी से भी उसे मिल सकता था। प्रोफेसर मलहोत्रा ने कितनी याचना के साथ वह चाहा था और कुमार ने भी एक बार उससे झपट लेने की कोशिश की थी, तब वह दोनों में से किसी के साथ भी अपने को उस सम्बन्ध में देखने के लिए तैयार नहीं हो सकी थी। कुछ था जो उसे उसके अतिरिक्त भी चाहिए था और जिसे देने का प्रस्ताव उन दोनों में से किसी ने नहीं किया था।"[74] ये टूटे–बिखरे सम्बन्ध इतने सूक्ष्म हैं कि मानव इन्हें कोई नाम नहीं दे सकता है और इनको पाने में निरन्तर लगा रहता है यह सच है आदमी भी सम्बन्धों से कोरा नहीं होता। फिर भी कुछ विघटित सम्बन्धों को सम्बन्ध मानने से डरता जरूर रहता है।

मानव जीवन में अनेक दुर्बलताएं एवं विकृतियां भरी पड़ी हैं। भूख के समान भोग भी एक मूल प्रवृत्ति है और ऊपर से अत्यधिक सरल सज्जन एवं सदाचारी दिखलाई पड़ने वाले व्यक्ति के भीतर भी नारी रूप के प्रति बड़ी उत्कण्ठा होती है। स्त्री–पुरुष का आकर्षण चिरंतन है और यही एक दूसरे की सबसे बड़ी दुर्बलता है जो पारिवारिक विघटन का रूप लेती है, 'अन्तराल' में इसी अनाम सम्बन्धों के बिखराव को मनोवैज्ञानिक ढंग से मोहन राकेश जी ने चित्रण किया है। मानव सम्बन्धों में पर्याप्त परिवर्तन समाज की रूपरेखा बदल रहा है।

'अन्तराल' में आधुनिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक विघटन

आज का समाज चाहे प्रगति कर रहा है या पाश्चात्य प्रभाव में आया है प्रगतिशील हो रहा है पुराने मूल्यों और रूढियों का खण्डन हो रहा है, और समाज में नये मूल्य टिक रहे हैं। समाज छिन्न–भिन्न हो रहा है। समाज और व्यक्ति भिन्न–भिन्न हो गए हैं। मानव ने समाज को छोड़ दिया। समाज में आज नारी पर्दानशीं नारी नहीं है, वह पुरूष के साथ कदम से कदम मिलाकर काम करती है क्योंकि यह प्रेमचंद युगीन स्त्री नहीं है जो अपनी चारदीवारी में बन्द हो बल्कि यह आत्म निर्भर रहने वाली नारी है, और अपने बारे में सोचने तथा निर्णय लेने में पूर्णरूप से स्वतंत्र है, इसलिए नये–पुराने मूल्य टकरा रहे हैं और नारी पुरूष के सम्बन्ध नवीन रूप में प्रस्तुत हो रहे हैं तथा सम्बन्धों के विघटन में आर्थिक पीठिका मुख्य भूमिका लिए हुए है।

आधुनिक समाज का गठन ही इस प्रकार का हो गया है कि प्राचीन एवं नवीन मूल्यों में अन्तराल पैदा होने से परिवारों का विघटन हो रहा है। प्राचीन लोग अपने धर्म का ढोल पीट रहे हैं और नई पीढी उनके प्रति विद्रोह कर रही है नई पीढी धर्म, समाज, रूढ़ि का विद्रोह कर रही है और पुरानी पीढ़ी नए लोगों की क्रान्ति को दबाना चाहती है। यही कारण है कि Generation Gap की एक विशाल समस्या खड़ी हो गई है।

"The older generations greatest concem in all its domgs is to avoid scandal. That is done by presenting a respectable facade. But the younger generation is frank, and out spoken. In fact there is a tendency to glorify whats is concerned wrong by the establishment"[75] युवकों का अपने बुजुर्गों के प्रति कोई मान नहीं रहा है समाज के नियमों का पालन नहीं होता है। वह एक तरह से समाज से कट गया है। मानव के व्यवहार आचरण और नैतिकता में परिवर्तन आ गया है। अग्रज अपने छोटों पर आश्रित हैं, अतः उसका सहमा सा रहना स्वाभाविक है। समाज में आमूल परिवर्तन हुआ है। यदि समाज के इस आमूल परिवर्तन की ओर निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज का यह परिवर्तन विकास की कड़ी के कारण हुआ है।

'अन्तराल' उपन्यास में प्राचीन और नवीन मूल्यों के टकराव के कारण सम्बन्ध विघटित हुए हैं। सीमा के सन्दर्भ को देखें तो – वह एक आधुनिक शोख तितली है, वह 'सोसाइटी गर्ल' है। 'सोसाइटी गर्ल' का फैशन समाज में

नया नहीं है। यह प्राचीन वेश्याओं का नया नाम है। प्राचीन समय में इन्हें नगर बंधुओं की भी संज्ञा दी जाती थी। सीमा अपनी माँ का पोषण करती है उसके कई 'बॉयफ्रैण्ड' हैं जो केवल मनोरंजन मात्र के लिए हैं। सीमा उन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो आत्मनिर्भर हैं और बॉयफ्रैण्ड रखना गर्व मानती हैं । सीमा उन स्त्रियों का प्रतीक है जो अपने अग्रजों के प्रति कोई विशेष मान नहीं रखती हैं इससे सम्बन्धों में फूटन हो रही है– इस बात की पुष्टि स्वयं सीमा के कथन से होती है। वह मां के बारे में कहती हैं– "पहले वे बड़बड़ाया करती थीं, अब समझ गईहैं कि मुझे ज्यादा तंग करेंगी, तो मैं उनके साथ नहीं रहूंगी। यही चीज है जिससे वह डरती है। मैं रात व रात देर–सबेर जब भी आऊं, जिस के साथ भी आऊं, अब उनकी नींद नहीं टूटती।"[76] सीमा उस अत्याधुनिक वर्ग की नारी है जो वर्जनाओं को स्वीकार नहीं करती और फ्रैंकली माँ भाभी के सामने शराब आदि नशीली चीजों का व्यसन करने में नहीं हिचकती इस बर्ताव ने उसे भाभी से अलग भी कर दिया।

'अन्तराल' में श्यामा के चरित्र को देखकर भी कह सकते हैं कि इन नैतिक मूल्यों के बदलने से उसके परिवार का स्खलन हुआ है। श्यामा विधवा युवती है और आत्मनिर्भर है। अगर प्राचीन समाज की विधवा श्यामा होती, तो उसे घृणित दृष्टि से देखा जाता, घूमने फिरने की स्वच्छंदता नहीं होती। उसकी ओर कोई सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखता कोई प्यार का प्रस्ताव रखता, यह तो दूर की कौड़ी थी। इसके विपरीत परिवार से अलग रहने पर तथा नौकरी एवं आत्मनिर्भरता ने उसे समाज में एक नया सम्मान दिलाया। अगर वह कुमार से शादी भी करती तो समाज की ओर से कोई रूकावट नहीं होती। समाज के इन कई नैतिक मूल्यों के विकास ने परिवारों को सफलता का नया रूप दिया है। अब विधवा विवाह पर कोई रोकथाम नहीं है।

इसके अतिरिक्त एक और पात्र है, वह है कुमार की पत्नी। वह कुमार के साथ समझौते के तौर पर शादी करती है न निभने पर वह अपने घर वापस लौट जाती है। प्राचीन समाज में जिस व्यक्ति से नारी शादी करती थी, उसी के साथ बंधी रहती थी, चाहे उसकी इच्छा हो या अनिच्छा। परंतु आज की नारी स्वतंत्र है। वह अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ लेती है। इसलिए 'अंधेरे बन्द कमरे' की नीलिमा ठीक ही कहती है। उसके अनुसार – "किसी भी व्यक्ति के साथ बंधकर उसके शासन में रहना मुझे बहुत गलत लगता था और तुम मुझे जानते हो कि हर पुरूष किसी न किसी रूप में स्त्री पर शासन करना चाहता है। मैं सोचती हूँ कि मैं एक अपवाद बन सकती हूँ। पुरूषों के शासन से बचकर उन्हें अपने शासन में

रख सकती हूँ.... मैं आर्थिक रूप से किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहती थी। इसलिए मैंने आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त की, अकेली रहना और खुद अपने लिए कमाना सीखा।''[77] अब नारी अपने अधिकारों के लिए सचेत हो गई है। नैतिकता के सम्बन्ध में धारणाएं बदलती जा रही हैं।

इसके अतिरिक्त 'अन्तराल' प्रो0 मल्होत्रा और श्यामा मिस रोहतगी तथा प्रो0 मलहोत्रा एवं लेडी डॉ0 वत्रा तथा डॉ0 दूबे के नैतिक सम्बन्धों के बिखराव की भी दास्तान कहता है क्योंकि यहाँ पुराने और नये मूल्य नैतिकता के बारे में बदलते जा रहे हैं इनके पीछे मूल्यों के परिवर्तनों का विकास है। यदि कहीं कुछ बुराइयाँ आयी हैं तो इसके पीछे आधुनिक शिक्षा प्रणाली का दोष है। 'पुरूष और नारी के यौन सम्बन्धी' नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण परिवारों में विलगाव हो रहा है। समाज प्रगति कर रहा है मानव शिक्षित होने के साथ–साथ अत्याधुनिक बनता जा रहा है। यौन समस्या जिसका केवल विवाहित वर्ग ही विश्लेषण कर सकते थे, आज जनसाधारण की समस्या बन गई है। आज यौन नैतिकता पढ़े लिखे समाज में रूढ़ नहीं रही है। पहले विवाह एक ऐसी व्यवस्था थी जो एक नारी पुरूष से सम्बन्ध रखती थी। लेकिन आज 'सैक्स मौरेलिटी' का उल्लंघन हो रहा है। आज चूँकि व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध कट गया है इसलिए व्यक्ति स्वतन्त्र है। यही कारण है कि यौन सम्बन्धों में रूढ़ि नहीं रही है। यहाँ तक कि बहुत सी युवतियां जीवन भर कुमारी रहकर अपने यौन सम्बन्धों में स्वतंत्र रहती है। यह स्वतन्त्रता भली समझी जाए या बुरी, इस विवाद के बारे में अधिक चिंतन नहीं हुआ है। न ही इस विषय में अधिक सोचने की आवश्यकता है, क्योंकि परिवार और व्यक्ति का सम्बन्ध भी टूट रहा हैं। यहाँ तक कि पति पत्नी के सम्बन्धों में दरार पैदा हो गई है, इसके अनेक मनोवैज्ञानिक कारण हो सकते हैं लेकिन तथ्य सदैव यही रहा है कि यौन–सम्बन्ध शारीरिक आवश्यकता पर टिके हुए हैं। आधुनिक युग में प्राचीन व्यवस्था के विरूद्ध क्रान्ति और विद्रोह के स्वर सुनाई देते हैं इसमें आधुंनिक प्रकार की शिक्षा का भी बड़ा हाथ है।

"More and more young people are rebelling against age old values, sex drugs, and non relegion are the 'IN' things they belive they are fighing against the Establishment riddled with hypocrisy and corruption"[78]

जटिल जीवन होने के साथ7साथ जीवन के मूल्यों के साथ संगत वहीं स्थापित हो पाती है। विशेषकर स्वतन्त्रता के पश्चात दो दशकों में जिस पीढी ने जन्म लिया है। उसने चतुर्दिक परिवेश में खोखला जीवन, झूंठी आस्था,

धर्म का पाखण्ड, अनाचारी और भ्रष्टाचारी राजनीतिक नेता तथा भ्रष्टाचार और तस्करी के वातावरण को खुली आँखों से देखा है उसकी अंग्रेजों के प्रति श्रद्धा डांवाडोल हो उठी है। गुरूजनों के झूँठ और पापाचार पूर्ण जीवन को नंगे रूप में देखने के कारण प्राचीन मूल्यों के प्रति वितृष्णा हो गई है। यही कारण है कि यौन सम्बन्धों में भी औचित्य अनौचित्य, विवेक और अनेक आदर्शों का अभाव खटकता है। पुरानी पीढ़ी के उपदेश देने का अधिकार छिन गया है। परिणामतः अनुशासनहीनता पनपने लगी है।

'अन्तराल' मे यौन सम्बन्धी समस्त आधुनिक विचार धारायें स्पष्ट की गई हैं जिसके कारण पति–पत्नी या स्त्री पुरूषों में तनाव उभरता है। या यूँ कहा जाए कि समस्त उपन्यास ही यौन समस्या पर ही आधारित है सम्बन्धों के विघटन की प्रमुख समस्या यही है। कुमार को जिस चीज की प्राप्ति लता से नहीं हुई उसकी तृप्ति वह श्यामा से करना चाहता है, यद्यपि लता ने उसके समक्ष एक खुला पन्ना रखा था। और श्यामा एक विधवा स्त्री है वह जवान है उसका विवाहित जीवन सुखी नहीं था। श्यामा के अनुसार वह कुछ साल सहने के लिए उसके साथ गुजार कर चला गया। मनोविज्ञान के अनुसार यह स्वाभाविक है कि वह पर पुरूष की ओर आकृष्ट हो जाए। जो चीज वह अपने पतिदेव से नहीं पा सकी उसको पाने की अभिलाषा वह कुमार से करती है। मण्डी में जब वह कुमार को दशहरे की छुट्टियाँ एक साथ बिताने का निमन्त्रण लिखती है उस समय उसके संयम और संस्कृति का बांध टूट चुका था, जो वह स्वयं कुमार से इस प्रकार कहती है–

"मैंने तुम्हें बताया था, मैंने उन दिनों तुम्हें पत्र लिखा था अपने यहाँ आने के लिए। तब मेरे मन में कोई रूकावट नहीं थी उस दिन तुम आये होते तो सम्भव था कुछ भी हो जाता। मैंने अपने को बचाने का कुछ भी प्रयत्न न किया होता ....। जो संस्कार मन को रोकता था, वह तब तक टूट चुका था।"[79] यौन सम्बन्धों की तुष्टि शरीर तक रहने से व्यक्तियों में और भी एक अनाम आकर्षण की जरूरत रहती है और जब यह प्राप्त नहीं हो पाता तब सम्बन्ध विघटित हो जाते हैं– कुमार का अपनी अनाम पत्नी के प्रति संबंध इसी लिए टूटे। "मुझे उससे सिवाय शरीर के कुछ नहीं मिला। उसे भी मुझसे केवल इतना ही मिला होगा। केवल भरोसे के साथ–साथ जीवन वह शायद ढो सकती थी। मुझसे नहीं ढोया गया।"[80] समस्त उपन्यास में श्यामा के शारीरिक आकांक्षाओं के टूटने की कहानी ही दिखाई पड़ती है, और यौन सम्बन्धी दृष्टिकोणों में वह अक्सर दोहरी मनःस्थिति में पाई जाती है। यह सामाजिक और सांस्कृतिक प्रथा आज यन्त्र

व्यवस्था का शिकार बन गई है, जिस समाज में यह परम्परा युग से चली आ रही थी, आज खण्डित हो रही है।

'आर्थिक आधार पर आश्रित रहने' से जो सम्बन्ध स्थिर थे। वह आज के युग में टूट रहे हैं, चूँकि मानव समाज से कट गया है व्यक्ति और परिवार का सम्बन्ध कट गया है यही कारण है कि परिवारो का ढॉचा छिन्न–भिन्न हो गया है। समाज की यह समस्या बहुत जटिल है। समाज में व्यक्तिवाद का बोल बाला है। अग्रज और अनुजों में आपस का प्यार केवल पैसे पर टिका है। समाज में अलगाव की समस्या क्या है ? इसका उत्तर यों होगा– 'मूल्यों की विसंगति' की समस्या। आज के सम्बन्ध केवल आर्थिक आधार पर बने हुए हैं। मॉ बेटे का सम्बन्ध, भाई–बहन का सम्बन्ध पैसों पर ही टिका है।

'अन्तराल' उपन्यास में आर्थिक सम्बन्ध अत्यंत ही गौण महत्व लिए हैं तथापि यह देव के सम्पूर्ण परिवार का चित्र प्रस्तुत करता है। 'अंतराल' में श्यामा और देव के परिवार का सम्बन्ध केवल पैसों पर ही टिका है। देव की मृत्यु के पश्चात (देव की इच्छानुसार) श्यामा, सीमा और बीजी का उत्तरदायित्व लेती है। उनका सम्बन्ध केवल पैसों का ही सम्बन्ध है। बीजी जो हमेशा श्यामा से घृणा करती है। उसके सिर पर सवार रहती है लेकिन "फ्लैट और उसकी नौकरी ये दो बातें थीं जिन्हें लेकर बीजी उसके सामने छोटी पड़ जाती थी।"[81] पैसों के अतिरिक्त न ही सीमा और बीजी को श्यामा से लगाव था और न ही श्यामा को उनसे। श्यामा एक उत्तरदायित्व निभा रही थी।

आर्थिक आधार पर टिका दूसरा सम्बन्ध सीमा और बीजी का है। यह सच है कि बीजी को सीमा के पैसों की आवश्यकता न होती तो सम्भवतः सीमा कभी का बीजी को छोडकर गर्ल्ज होस्टल में चली गई होती और न ही बीजी सीमा से इस प्रकार दबती। सीमा और श्यामा का बीजी से सम्बन्ध केवल केवल पैसों का सम्बन्ध है, जिसे सीमा स्वयं स्वीकार करती है "जरूरत पड़ने पर मैं यहॉ से छोड़कर गर्ल्ज होस्टल में जा सकती हूँ लेकिन सवाल ममी का है। न तुम तो अकेली उन्हें सपोर्ट कर सकती हो, न मैं ही। इसलिए बेहतरी सबके साथ रहने में है।"[82]

श्यामा को देव के परिवार के साथ कोई स्नेह या लगाव नहीं है अगर पैसों की बात न होती तो निश्चय ही उनके सम्बन्ध टूट गये होते यह बात दूसरी है कि श्यामा को कितनी परेशानी उठानी पडती है ताकि वह सीमा और बीजी को पैसे भेज सके। अपनी ओर से वह हर कोशिश करती है कि वह उनसे

सम्बन्ध बढ़ाये अपना रिश्ता पैसों तक ही सीमित न रखे यही कारण है कि वह बीजी की साझेदारी में फ्लैट बम्बई में खरीदती है उस साझेदारी में वह अपनी तमाम पूँजी लुटा देती है लेकिन दुर्भाग्यवश बीजी और सीमा उसका रिश्ता पैसों से बढ़कर नहीं मानती । फलस्वरूप श्यामा को पुनः मण्डी लौट आने की बात सोचनी पडती है। धन आज के समाज की धुरी बन गया। इस धुरी का आकर्षण इतना प्रभावशाली है कि कोई भी इससे प्रभाव मुक्त नहीं रह सकता। मानव के सभी सम्बन्ध इसी धुरी के आधार पर बने हुए हैं यहाँ तक कि प्रेम जैसा पवित्र भाव भी इसके प्रभाव से मुक्त नहीं रह पाता है। 'अन्तराल' भी इसका अपवाद नहीं है।

आज समाज में मुख्य साध्य अर्थ की प्राप्ति है चाहे साधन कितने ही निम्न क्यों न अपनाने पड़ें, यही कारण है कि नैतिकता धीरे–धीरे लुप्त होती जा रही है और धन पर टिके सम्बन्ध केवल सहने के सम्बन्ध बन जाते हैं, जिन्हें विवशता के साथ फैलना पड़ता है क्योंकि सम्बन्ध अक्सर भावना से जुड़े होते हैं और जब भावनाओं की आर्थिक सम्बन्धों से टकराहट होती है तो पारिवारिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है।

'जीवन में दरार पड़ने' से भी सम्बन्धों का विभाजन हो जाता है। आज के जीवन की व्यवस्था कुछ इस प्रकार की हो गई है कि न चाहते हुए भी उसके सम्बन्धों में दरार पड़ जाती है, क्योंकि वह व्यक्ति वादी हो गया है। उसके लिए समाज का कोई महत्व नहीं है। वैयक्तिकता के कारण ही वह अन्तर्मुखी बनता जाता है। उसके व्यक्तित्व का परिवेश उस तक ही सीमित रहता है, देखा जाय तो वह एक प्रकार से समाज से कट चुका है। उसके लिए समाज नाम मात्र की वस्तु है, जो पति–पत्नी के सम्बन्ध विच्छेदों, बाप–बेटे का बिछुड़ना तथा सम्बन्धों में कटुता के रूप में आती है।

जब सम्बन्धों में शिथिलता होती है तो उसे जीवन का समरूप माना जा सकता है, लेकिन जब सतह दरक जाती है तो दरारों के पड़नेके कारण उसे विषम जीवन की संज्ञा दी जा सकती है। दरार दो कारणों से व्यक्ति को अलग अलग कर देती है। दरार पडने का कारण नितान्त वैयक्तिक ही होता है। व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध टूट जाने के बाद वह अपने परिवेश तक सीमित रह जाता है औरपरिवेश से टूटने के पश्चात नितांत अपने वैयक्तिक रूप में रह जाता है। ऐसे व्यक्ति अन्तर्मुखी बन जाते हैं, और उनका अहं समायोजन करने में बाधक सिद्ध होता है। सम्बन्धों में दरार पडना यह सिद्ध करता है कि मनोवैज्ञानिक रूप में कहीं पर कोई कुण्ठा काम करती है यह कुण्ठा दो रूपों में प्रकट होती है–

1. काम मूलक कुण्ठा।

2. अर्थ मूलक कुण्ठा।

'अन्तराल' में श्यामा और देव के बीच की दरार काम मूलक कुण्ठा के आधार पर है, क्योंकि देव का आधार व्यवहार श्यामा के प्रति दो प्रेमियों का व्यवहार नहीं माना जा सकता। देव श्यामा को एक वस्तु के रूप में प्राप्त करता है और शारीरिक भूख मिटाने का साधन समझता है, उसे श्यामा की भावना समझने की चिन्ता नहीं है। श्यामा के प्रति उसका व्यवहार तटस्थता लिए हुए है। शादी की प्रथम रात्रि से ही उसका यह मनोभाव श्यामा और देव के बीच दरार पैदा करता है। श्यामा 'सैक्स' के रूप में अतृप्त रहती है। वह देव से वह सब कुछ न पा सकी, जिन भावनाओं से एक युवती का हृदय स्पन्दित होता है। देव ने श्यामा को प्रेम नहीं दिया और न ही श्यामा ने शरीर के साथ–साथ आत्मा का समर्पण ही किया है इस प्रकार पति–पत्नी के बीच पहले दरार पैदा की और फिर बहुतबड़ा अन्तराल पैदा कर दिया। यह अन्तराल इतना विकराल रूप धारण कर लेता है कि देव की मृत्यु के पश्चात भी श्यामा को उससे शिकायत रहती है। अपनी जिन्दगी की तबाही के लिए वह देव को ही दोषी ठहराती है, जब कि सम्बन्धों में दरार पड़ने का कारण स्वयं श्यामा भी है।

'अन्तराल' में दूसरा सम्बन्ध जो काम मूलक कुण्ठा पर टिका हुआ है, वह है कुमार और उसकी पत्नी का। कुमार के जीवन में लता एक काम मूलक कुण्ठा के बीज बो देती है। बाद में कुमार एक अन्य स्त्री से विवाह भी करता है, लेकिन कुमार को अपनी पत्नी से वह प्यार नहीं मिलता है, जिसकी उसने कामना की थी। इसी कारण पति–पत्नी में दरार पड़ जाती है और वह अलग रहने के लिए विवश हो जाते हैं। अपने सम्बन्धों में दरार पड़ने का कारण कुमार स्वयं इस प्रकार व्यक्त करता है "और जो था, वह था केवल एक डर। बात अपने तक रहे किसी को पता न चले। जितना सड़ना है, अन्दर ही अन्दर सड़ो। जो जहर चखना है अन्दर ही अन्दर चखो उसी सडांध और जहर से बच्चे पैदा करो और उन्हें भी उसी ढ़ंग से जीने की शिक्षा दो। अपनी स्वाभाविकता के साथ विश्वास घात करो और ऐसा करने की परम्परा को बनाए रखो। जिनसे निभना है, निभ जाता है, मुझसे नहीं निभ सका।"[83] इसी न निभने के कारण उनके सम्बन्धों में दरार पड गई। कुमार की पत्नी ने भी शादी केवल उसी उद्देश्य से की थी ताकि वह अपने प्रेमी को (जिसने उसे ठुकराया था) नीचा दिखा सके। देखने से तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि उनके सम्बन्धों में प्रेम लेश मात्र नहीं था। केवल एक कृत्रिमता थी जो उनके सम्बन्धों में विभाजन (विघटित) होने का कारण बनी।

तीसरा काम मूलक सम्बन्ध श्यामा और उनके जीजा प्रो0 मलहोत्रा के बीच है वह भी अपनी पत्नी को भोग की वस्तु मानते हैं। वासना के अतिरिक्त उसके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। कभी वह अपनी पत्नी को किसी पार्टी या उत्सव में नहीं ले जाते, क्योंकि प्रो0 मलहोत्रा अपनी पत्नी को दासी माने हुए हैं जिससे वे कभी–कभी अपनी काम–पिपासा शांत करते हैं। श्यामा बहुत ही स्पष्ट शब्दों में उनके सम्बन्धों का वर्णन करती है– 'उन दोनों का आपसी बरताव भी ऐसा है जैसे मिलकर अपने बच्चों के लिए एक होस्टल चला रहे हों वे''[84]

'अन्तराल' में काममूलक कुण्ठा के साथ–साथ अर्थ मूलक कुण्ठा के भी दर्शन मिलते हैं। अर्थ मूलक कुण्ठा ही श्यामा, बीजी तथा सीमा के सम्बन्धों में दरार पैदा कर देती है। श्यामा के पैसों से ही बीजी और सीमा का निर्वाह चलता है। श्यामा पैसे भेजकर एक उत्तर दायित्व निभा रही थी लेकिन बीजी कभी भी उसके सम्बन्ध को पैसों के अतिरिक्त कोई महत्व नहीं देती है, क्योंकि एक बार आपसी तकरार में श्यामा, सीमा से झल्ला उठती है ''पैसा तो पता नहीं कितना–कितना, किस–किस चीज पर बरबाद होता रहता है। आदमी इसी का हिसाब करने लगे, तो....।''[85] इन सब बातों को लेकर श्यामा में कुण्ठा पैदा होती है कि जिनके लिए वह मुश्किल से पैसे जुटाती है वही उसे स्नेह के साथ अपनाते नहीं हैं। सीमा भी कमाती है और माँ का खर्चा श्यामा के खर्चे के साझे से करती है। बीजी अगर कभी–कभार श्यामा के आगे नीची पड़ जाती है तो केवल फ्लैट और खर्चे की बातों के सामने बीजी धन विहीन है, और यही धन का अभाव बीजी में कुण्ठा उत्पन्न कर देता है क्योंकि वह श्यामा (बहू) और सीमा (बेटी) के पैसों से गुजारा करती है अतः विपरीत इसके कि वह उनको अपने अंकुश में रखती उनसे दबती रहती है। इसका मूल कारण अर्थमूलक ही है।

इन सम्बन्धों के अतिरिक्त एक सम्बन्ध और है जिनमें दरार पड़ती है वह श्यामा की अपनी पुत्री बेबी है। श्यामा को वह अपने से कटती हुई इस लिए लगती है, क्योंकि उसकी शक्ल, आचरण, व्यवहार बीजी और सीमा जैसा होता जा रहा है। ''यहाँ आने के बाद से उन लोगों से इतनी घुल मिल गई थी कि माँ को माँ की तरह समझती ही नहीं थी। हर वक्त बीजी के पास बैठना, बीजी के साथ खाना, बीजी के साथ घूमने जाना शौक भी उन्हीं सब चीजों का जो बीजी को पसन्द आती थीं।.... लगता था कि बीजी, सीमा और बेबी तीनों घर की मालकिन हैं।''[86]

'एकाकीपन की अनुभूति' के कारण परिवारों में विघटन हो रहा है क्योंकि समाज की सबसे छोटी इकाई परिवार है। आधुनिक परिवारों में पति–पत्नी का सम्बन्ध भी अब टूटता दिखाई दे रहा है। यद्यपि आधुनिक समाज में तलाक की प्रथा विरल सी है किन्तु पाश्चात्य प्रभावों के कारण अब स्त्री पुरूषों के सम्बन्धों मे अन्तर आता जा रहा है। इस नई सभ्यता से रंगे जन–जीवन में पारिवारिक सदस्यों में अधिकार बोध की भावना बढ़ती जा रही है परिणाम स्वरूप पारिवारिक सदस्यों में संघर्ष हो रहा है यही कारण है कि परिवार टूट कर सीमित होते जा रहे हैं। यही टूटने की सीमा या अलगाव की सीमा पति–पत्नी तक पहुँच गई है अगर दम्पत्ति आपस में तलाक भी न लें फिर भी वह साथ रह कर भी कोसों मील दूर हैं।

'अन्तराल' में संवेदना के धरातल पर पारिवारिक के विघटन को आधुनिक बोध के सन्दर्भ में उभारा गया है। जीवन का बोध श्यामा और कुमार द्वारा गम्भीर परिस्थितियों में प्रकट किया गया है। वर्तमान जीवन वैयक्तिक यथार्थ से आक्रान्त है, इसलिए नागरिक जीवन में यह आक्रान्त रूप और घना हो गया है। आन्तरिक संघर्ष का चित्रण पात्रों को आत्म केन्द्रित बना देता है वह संघर्ष अंदर ही अंदर चलता है, इसका प्रभाव बहुत दूर जाकर एकाएक प्रकट होता है। इसी वैयक्तिक चेतना के धरातल पर जिन्दगी की तलाश में आदमी भटक रहा है। कुमार इसी प्रकार का नायक है जिसे उसका आन्तरिक बोध कसकर जकड़ लेता है। श्यामा अकेलेपन से ऊबी हुई नायिका है। बार–बार उसका आन्तरिक बोध नया निर्णय लेने के लिए प्रेरित करता है और बार–बार बालू की तरह विखर जाता है। श्यामा जीवनमें नितान्त अकेली है भटकाव और अकेलेपन की स्थिति में पारस्परिक सम्बन्ध विघटित हो जाते हैं और नायिका अपने में टूटन महसूस करती है। बिखरती है और कटु यथार्थ के रूप में अलग जा पड़ती है। उसके अन्दर जीवित रहने की इच्छा है, लेकिन अकेलापन उस जीवन को निरूद्देश्य बनाये हुए है। टूटे हुए और बिखरे हुए अतीत जीवन की स्मृति रेखाएं उसके अन्तर मन को खरोंचती रहती हैं–

''मैं एक–एक अपरिचित व्यक्ति से तो ठीक मिल लेती हूँ, लेकिन एक साथ इतने अपरिचित लोगों के बीच, अपने को नहीं खपा पाती आप इसे काम्पलेक्स समझ लीजिए या जो कुछ भी। शुरू से ही मेरे साथ ऐसा है और अपने से बहुत लडकर भी मैं अपने को बदल नहीं पायी।''[87] इसलिए तो श्यामा कस्बे में आने के बाद एम0 ए0 करने का निश्चय करती है और कुमार से परिचित होने के पश्चात अपने निश्चय को कार्यरूप में परिणित नहीं कर पाती। यह

भटकाव की ही स्थिति मानी जाएगी जहाँ साध्य साधन बन जाता है और कुमार के प्रति भावुकता अधिक बल पकड़ने लगती है। इस प्रकार मण्डी में जाकर भी उसको अकेलेपन की अनुभूति अशांत बना देती है। तीसरा अनिश्चय का रूप बम्बई आने पर प्रकट होता है, श्यामा बम्बई में फ्लैट खरीदने के लिए पैसे भी देती है और भावी जीवन बम्बई में ही काटना चाहती है। क्योंकि उसके उपचेतन में कुमार के साथ रहने की भावना छिपी हुई है। इसलिए कि वह नितान्त अकेली है, अकेलेपन को दूर करने के लिए सहारा चाहती है। उसके मन के किसी कोने में यही भावना काम करती दिखाई देती है और इसी से प्रेरित होकर वर्षों के अन्तराल को पाटने के लिए बम्बई में रहना चाहती है, जो लोग अकेले रहते हैं अथवा आत्मकेन्द्रित होते हैं उनका मनोविज्ञान एक विशेष प्रकार का रूप धारण कर लेता है। वे छोटी–छोटी बात को भी तीव्र संवेदना के रूप में ग्रहण कर लेते हैं बहुत संवेदनशील होने के कारण साथ चाहते हुए भी श्यामा कुमार से अलग छिटक जाती है क्योंकि देव और उसके बीच कटने का जो कारण था, उससे मिलता जुलता कारण कुमार और उसकी पत्नी के जीवन में अनुभव हुआ। यह सूक्ष्म तथ्य उसे कुमार के साथ रहने में और नारी–पुरूष के रूप में स्थापित करने में अथवा उस सम्बन्ध के नामकरण करनेमें बाधक सिद्ध होता है।

इसी प्रकार बीजी अपने परिवेश में नितान्त अकेली वृद्धा है, जिसका दैनिक कार्यक्रम यन्त्रवत है। सीमा नागरिक वातावरण में उद्भ्रान्त चक्कर लगाती हुई अकेली तारिका के सदृश है जो कभी भी किसी से टकरा कर टूटती हुई जमीन पर गिर सकती है और उस का जीवन किसी भी क्षण ट्रेजिक बन सकता है।

'अन्तराल' में आधुनिक बोध से जो यथार्थ उपजा है उसने परिवार को छिन्न–भिन्न कर दिया है और इसके उत्तरदायी कारक यौन समस्या, नैतिकता, अलगाव की समस्या है जीवन की ये विविध लहरें और इन लहरों का संघर्ष मानवीय सम्बन्धों के विघटन की दास्तान है क्योंकि मोहन राकेश जी ने इन अनुभूतियों को भोगा था और उसे खूब चबा–चबाकर पचाया था। इसलिए अस्तित्ववादी जीवन दर्शन की स्थापना के बावजूद यह व्यक्तिवादी उपन्यास हैं। 'अन्तराल' में आधुनिक युग के संत्रस्त व्यक्तियों का चित्रण है, युग के सामाजिक जीवन का नहीं। अन्त में युग के सांस्कृतिक जीवन का खोखलापन लेखक बताना चाहता है, किन्तु इस सांस्कृतिक जीवन के खोखलेपन का चित्रण करना लेखक का उद्देश्य नहीं है। इसका केन्द्र बिन्दु समाज न होकर व्यक्ति ही है यही कारण है कि 'अंधेरे बन्द कमरे' यदि दिल्ली के परिवेश में विघटित सम्बन्धों की कहानी

बन कर आया तो 'अन्तराल' मानवीय सम्बन्धों के विघटन की विविधता को तात्कालिकता के दर्पण में प्रतिच्छवित कर सका। 'अन्तराल' की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए डॉ0 उर्मिला मिश्र लिखती हैं कि– "उपन्यास की स्थापना है कि जीवन में शारीरिक अपेक्षाओं के अलावा भी कुछ ऐसी अपेक्षायें होती हैं जिसको पाने के लिए मानव नियति ग्रस्त होता है। इस उपन्यास में नामहीन समबन्धों की तलाश में आधुनिकता की अभिव्यक्ति हुई है लेकिन उस तलाश में आत्मसंघर्ष रोमेन्टिक ढंग से चलताहै। क्योंकि आज के जीवन में सम्बन्धों को महसूस किया जा सकता है, सम्बन्धों को नाम नहीं दिया जा सकता है।"[88]

संदर्भ

1. आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य–डॉ0 देवराज, पृ0 454
2. मेरी प्रिय कहानियां–मोहन राकेश, पृ0 11
3. हिन्दी कथा साहित्य समकालीन सदर्भ–डॉ0 ज्ञान अस्थाना, पृ0 91
4. ज्ञानोदय, जनवरी, 1966 अंक – धनंजय वर्मा, पृ0 120
5. ज्ञानोदय, जनवरी, 1966 अंक – धनंजय वर्मा, पृ0 121
6. ज्ञानोदय, जनवरी, 1966 अंक – धनंजय वर्मा, पृ0 120
7. ज्ञानोदय, खुले और रोशन कमरे के सवाल–सुधा अरोडा, पृ0 13
8. ज्ञानोदय, जुलाई, 1965 अंक– मोहन राकेश, पृ0 112
9. ज्ञानोदय, जुलाई, 1965 अंक
10. न आने वाला कल, पृ0 15
11. न आने वाला कल, पृ0 15
12. न आने वाला कल, पृ0 22
13. अन्तराल, पृ0 30
14. अन्तराल, पृ0 202–4
15. अन्तराल, पृ0 201, 2
16. साहित्य का नया शास्त्र–डॉ0 गिरिजा राय, पृ0 269
17. आज का हिन्दी उपन्यास–डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, पृ0 90
18. आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिंदी उपन्यास–डॉ0 अतुलवीर अरोरा, पृ0 175
19. आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिंदी उपन्यास–डॉ0 अतुल वीर अरोरा, पृ0 175
20. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृ0 349
21. हिन्दी उपन्यास–डॉ0 सुरेश सिन्हा, पृ0 350
22. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 35
23. साहित्य का नया शास्त्र– डॉ गिरिजा राय , पृ0 269

24. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 189
25. एक्झिस्टेंशियलिज्म एंड हयूमन इमोशंस– पृ0 36
26. अंधेरे बंद कमरे, पृ0 68
27. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 236
28. हिन्दी उपन्यास एक नई दृष्टि–डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, पृ0 72
29. अंधेरे बंद कमरे पृ0 108
30. अंधेरे बंद कमरे पृ0 122
31. बकलम खुद–मोहन राकेश, पृ0 67
32. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 166
33. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 166
34. क्योंकि समय एक शब्द है–डॉ0 राकेश कुन्तल मेघ, पृ0 509
35. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 233
36. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 320
37. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 20, 21
38. आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिंदी उपन्यास–डॉ0 अतुलवीर अरोरा, पृ0 177
39. डिवलपमेंटल मनोविज्ञान–हरलोक इ0 बी0–सं0 2000 पृ0 326
40. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 409
41. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 97
42. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 339
43. अंधेरे बंद कमरे, पृ0 341
44. अंधेरे बन्द कमरे, पृ0 210
45. अन्धेरे बन्द कमरे, पृ0 405
46. न आने वाला कल, पृ0 7
47. न आनेवाला कल, पृ0 125–26
48. न आने वाला कल, पृ0 14
49. न आने वाला कल, पृ0 15
50. न आने वाला कल, पृ0 15–16
51. न आने वाला कल, पृ0 151
52. न आनेवाला कल, पृ0 100
53. न आनेवाला कल, पृ0 27
54. न आने वाला कल, पृ0 86
55. न आनेवाला कल, पृ0 107
56. न आने वाला कल, पृ0 106
57. न आने वाला कल, पृ0 136
58. अन्तराल पृ0 70
59. न आने वाला कल, पृ0 137
60. न आने वाला कल, पृ0 162

61. हिन्दी साहित्य का इतिहास– सं : डॉ नगेन्द्र, प्रथम संस्करण,
1973 'छायावादोत्तर काल में गद्य साहित्य'– डॉ0 बच्चन सिंह, पृ0 689
62. Illustrated Weekly of India. Author. ERVELL-E. MENEZES JUNE 16, Sunday, 1974
63. अन्तराल, पृ0150
64. अन्तराल, पृ0 214
65. अन्तराल, पृ0 214
66. अन्तराल, पृ0 107
67. अन्तराल, पृ0 207
68. अन्तराल, पृ0 55
69. अन्तराल, पृ0 207
70. अन्तराल, पृ0 176
71. अन्तराल, पृ0 150
72. अन्तराल, पृ0 51
73. अन्तराल, पृ0 202
74. अन्तराल, पृ0 159
75. Illustrated weekly of india. Author, ERVELL EMENEZES. June 16, 1974.
76. अन्तराल, पृ0 175
77. अन्धेरे बन्द कमरे, पृ0 353
78. Illustrated weekly of India author ERVELLE MENZES JUNE 16. 1974.
79. अन्तराल, पृ0 213
80. अन्तराल, पृ0 201
81. अन्तराल, पृ0 141
82. अन्तराल, पृ0 175
83. अन्तराल, पृ0 202
84. अन्तराल, पृ0 30
85. अन्तराल, पृ. 162
86. अन्तराल, पृ0 105
87. अन्तराल, पृ0 25
88. आधुनिकता और मोहन राकेश–डॉ0 उर्मिला मिश्र, पृ0 104

षष्ठम् अध्याय

मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक विघटन का बीज

आषाढ़ का एक दिन,
लहरों के राजहंस,
आधे–अधूरे

षष्ठम् अध्याय

मोहन राकेश के नाटकों में पारिवारिक विघटन का बीज

नाटककार मोहन राकेश ने विभाजनोत्तर भारत में सामाजिक और अर्थिक विषमताओं के फलस्वरूप व्यक्ति के जीवन में आने वाले मूल्य–संकट और सम्बन्धित घटना को अपना लक्ष्य बनाया है। जीवन में व्यक्तिगत रूप से इनका कटुतम अनुभव भोगने के कारण ही वे अपने नाटकों में उसे सजीव अभिव्यक्ति दे सके। मोहन राकेश ने स्वीकार किया है कि "सोलह की उम्र में जिन्दगी ने एक चौखटे में फिट कर दिया था। जैसे भी हो, अपने को उस चौखटे के आकार में ढालना था। आंखे आस–पास की जिंदगी के प्रति बहुत सतर्क हो रही थीं। अपने से बाहर घर को और घर से बाहर सामाजिक बन्धनों को प्रश्नात्मक दृष्टि से देखने लगी थी।"[1] इसी तरह मोहन राकेश का लेखन एक जटिल प्रक्रिया से गुजरा है। उन्होंने बार–बार लिखा है कि अपने लिखे को अवास्तविक जानकर नकारा है। इसलिए कभी उन्हें लगता है कि "वह कुछ मेरे अंदर नहीं है जिससे व्यक्ति सच मुच लिख सकता है, वरना लिखने के लिए क्या पहाड़ खोदने की जरूरत है।"[2]

नाटककार मोहन राकेश वस्तुतः पारिवारिक जीवन की त्रासदी के ही कलाकार हैं। जीवन एक ऐसा विशाल रंगमंच है, जहाँ केवल त्रासदियाँ ही मंचित होती है। सुख वहॉ केवल कोई पैर फिसलने पर पॉव की सिहरन मात्र है। गर्दिश के दिन में अपने को व्यक्त करते हुए राकेश ने लिखा है कि उन दिनों उनके लिखे शब्दों में अनायास ही जो एक कटुता घुल जाती है। तो वे यह नहीं समझ पाते थे कि उसका वास्तविक स्रोत अंदर का रिसता हुआ बिन्दु है। वास्तव में वर्तमान युग नायक का नहीं, अनाम और अपाहिज व्यक्ति का है, जिसकी संघर्ष–यात्रा की घुटन, पीड़ा और करूण परिणति को आज साहित्य की प्रत्येक विधा मुखर कर रही है। इसलिए सामयिक साहित्य में व्यक्ति के बाह्य संघर्ष की अपेक्षा आन्तरिक संघर्ष के चित्रण पर बल दिया है इस सम्बन्ध में मोहन राकेश ने लिखा कि "कुछ लोगों की जिन्दगी में बिखराव

होता है, मैं अपने को ऐसे ही लोगों में पाता हूँ बिखरना और बिखेरना मेरे लिए जितना स्वाभाविक है सम्भलना और समेटना उतना ही अस्वाभाविक।"[3]

मोहन राकेश के नाटक स्थितियों के नाटक हैं। मनुष्य जीवन के द्वन्द्वात्मक क्षणों की स्थितियों को ही वे नाटकों की कथावस्तु का रूप देते हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में आर्थिक और सामाजिक विषमताओं के फलस्वरूप तीव्रता से छाने वाले मूल्य–विघटन और सम्बन्धों में आने वाली दरार को राकेश ने अपने नाटकों का केन्द्र बिन्दु बनाकर मानव जीवन के विस्फोटक और द्वन्द्वपूर्व क्षणों की विरोधी स्थितियों के टकराव को प्रस्तुत किया है।

जीवन में निरन्तर भटकाव और कटु अनुभवों ने उन्हें मनुष्य के अधूरेपन और उसकी यातना पर केन्द्रित कर दिया था, मनुष्य का वही रूप उनके नाटकों के मुख्य पात्रों का वरण है– वरण और मुक्ति के लिए छटपटाते, अपने अधूरेपन को पूर्ण करने के लिए भटकते ये पात्र वर्तमान जीवन के एक पक्ष का सत्य चित्र प्रस्तुत करते हैं, पर पूर्ण नहीं, क्योंकि जीवन में तमाम विसगति और अनास्था के बाद भी 'कुछ' ऐसा है जिसके लिए मनुष्य जीता है। इसलिए राकेश के नाटक समाज की व्यापक समस्याओं से दूर नितान्त व्यक्तिपरक माने जायें, तो अत्युक्ति न होगी। राकेश का यथार्थ आन्तरिक यथार्थ है उसमें परिस्थितियों के चित्रण की अपेक्षा परिस्थितियों से दबे मनुष्य की घुटन, द्वन्द्व और पीडा का वर्णन है। इस आन्तरिक यथार्थ के चित्रण में उन्होंने मानवीय सम्बन्धों, विशेषकर स्त्री–पुरूष सम्बन्धों का परिवर्तित परिस्थितियों तथा मानदण्डों के आधार पर सूक्ष्माति सूक्ष्म पक्षों में उद्घाटन किया है।

राकेश ने अपने नाटकों में जिस प्रकार पुरूष के जीवन की मूल त्रासदी को व्यक्त किया है उसी प्रकार नारी जीवन की भी मूल त्रासदी को उजागर किया है। पुरूष प्रधान दृष्टिकोण से लिखे जाकर भी इनके नाटक नारी जीवन की मूल त्रासदी को उजागर करते हैं। पारिवारिक जीवन में त्रासदी का सम्बन्ध दोनों नर–नारी में समान होता है पर यह त्रासदी नारी में कहीं वृहत्तर हो जाती है क्योंकि नारी भावनामयी हो, सथूल आवश्यकताओं की मौन भाव से उपेक्षा करने वाली हो, अपनी कामनाओं को मन मे दबा देने वाली हो अथवा स्वार्थ का उद्घोष करने से कतराने वाली हो, अथवा पति को अपने

अधिकार में लेकर सम्पूर्ण जीवन का सुख भोग करने वाली हो, अपनी कामनाओं को मन में दबा देने वाली हो अथवा अपनी कामनाओं को किसी क्षण के लिए स्थगित न करने वाली हो; जीवन के यथार्थ को मौन बने रहकर चुप–चाप सहन करते–करते एक कब्रिस्तान बन जाने वाली हो अथवा अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नशीलता के द्वारा जीवन को अपने अनुसार मोड़ने को उत्सुक रहने वाली हो; पुरूषों के निर्णयों को उसकी इच्छाओं को चुप–चाप स्वीकार करके अभाव का जीवन बिता देने वाली हो अथवा अपने पति में एक पूरी शख्सियत एक माद्दा देखने व उसको पति में पैदा कर देने के लिए एड़ी–चोटी का जोर लगाने वाली हो, नारी का जीवन हर स्थिति में एक असफलता है, एक अतृप्ति है, एक अपूर्ति है, एक विवशता है, दयनीयता है और एक ग्रिमत्रासदी। नारी को जीवन की जिस परिस्थिति में चाहे रख दिया जाये, उसकी नियति एवं उसके जीवन का सत्य एक ही है– परमुखापेक्षिता, अवसाद, असफलता एवं रिक्तता। असमय वैधव्य ने यदि अम्बिका के मन प्राण आत्मा की इकाई को तोड़ दिया था तो पति पर एकच्छत्र शासन करने वाली सुन्दरी अचानक हाथ मलती रह गयी थी। अभाव की सन्तान यदि मल्लिका के सुख के रास्ते में आ गयी थी तो अपने दाम्पत्य की सन्तानों के कारण सावित्री का जीवन एक दम ऐसा मशीन बन गया था कि अपने दिन–रात को उनके लिए आटा–पीस–पीसकर देने में ढेर कर दे रही थी। एक अभाव की संतान ने मल्लिका के द्वार से उसके प्रेमी को लौटा दिया था और तीन वैध सन्तानों एवं उनके प्रश्न ने जगमोहन को, सावित्री को घर वापस छोड़ आने का बहाना दे दिया था।

मोहन राकेश ने स्वतन्त्र भारत की आर्थिक–सामाजिक विषमताओं के बदले मानवीय सम्बन्धों और टूटते जीवन–मूल्यों से व्यक्ति के जीवन में आने वाले द्वन्द्व, संघर्ष और मानसिक विघटन को अपने नाटकों में चित्रित किया है। राकेश के पात्रों की निरर्थक–संघर्ष यात्रा व्यक्ति का तनाव और द्वन्द्व में टूटना अपरिचय और अकेलेपन की पीड़ा तथा पारिवारिक सम्बन्धों की हास्यास्पद स्थिति वस्तुतः वर्तमान युग का का यथार्थ है, जो हमारे पूरे परिवेश पर व्याप्त है। डॉ0 रीता कुमार इसे स्वीकार करते हुए लिखती हैं कि "राकेश ने अपने व्यक्तिगत जीवन में दाम्पत्य सम्बन्धों से प्राप्त तनाव, घुटन, विसंगति परिवेश और पराजित नियति के कटु अनुभवों को ही बार–बार विभिन्न

रूपों में मूर्त करने के प्रयोग किये हैं।"[4] 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास और 'लहरों के राजहंस' के महेन्द्रनाथ की छटपटहाट, बौनापन और चाहकार भी संत्रास पूर्ण वातावरण से मुक्त न हो पाने की करूण नियति राकेश के ही व्यक्ति और जीवन का परोक्ष चित्र है।

मोहन राकेश के सभी नाटकों में पात्र वर्तमान युग–जीवन के परिवेश और उसमें जीने के लिए संघर्षरत मानव का सटीक निर्वहन करते हैं। कलाकार के शाश्वत संघर्ष, कलाकार और राज्य–संरक्षण के सम्बन्ध, व्यक्ति की पार्थिवता में अपार्थिवता की खोज जन्य छटपटाहट, स्वातन्त्र्योत्तर भारत में बढ़ते मूल्य–संकट और मानवीय सम्बन्धों की हास्यास्पद स्थिति को मंच पर मूर्त करने की दृष्टि से राकेश के पात्र सशक्त प्रतीक की भूमिका निभाते हैं। 'आषाढ का एक दिन' के कालिदास को स्वयं राकेश ने सृजनात्मक शक्ति का प्रतीक माना है। कालिदास का चरित्र कलाकार और राज्य एवं कलाकार और प्रेम के संघर्ष को सजीव रूप में मूर्त करता है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द पार्थिव–अपार्थिव मूल्यों के अन्तर्दन्द्व में उलझे तथा निर्णय लेने में अक्षम मनुष्य का और सुन्दरी नारी के स्वाभिमानी, अहम प्रिय और सौन्दर्य गर्वित रूप का सशक्त प्रतीक है। 'आधे–अधूरे' के चरित्र मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन के विघटित, भग्न और अपाहिज रूप को मूर्त करते हैं। सावित्री, महेन्द्र नाथ, अशोक, बिन्नी, किन्नी आदि पात्र यद्यपि आज के जीवन की विसंगतियों और सम्बन्ध विघटन के फलस्वरूप आने वाली कटु सम्भावना के प्रतीक हैं, जिसे राकेश की सूक्ष्म–दृष्टि ने गहराई से पकड़ा है। सामयिक युग की स्त्री के लिए नाटककार द्वारा सावित्री के नाम का चयन अपने आप में नारी के परिवर्तित रूप (सत्यवान की सावित्री) पर सशक्त व्यंग्य हैं "राकेश के लिए रचना जीवन के परिस्पन्दनों की अभिव्यक्ति है, इसलिए किसी एक व्यक्ति को माध्यम बनाकर अपने युग के मानव के अन्तर्द्वन्द्व, और पीड़ा को अभिव्यक्ति देना वे आवश्यक मानते हैं।"[5]

मोहन राकेश इस तथ्य को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद देश में मंहगाई, मुद्रा स्फीति, काला धन, लूट–खसोट, बेरोजगारी व असामाजवादी नारों ने एक ऐसी स्थिति खड़ी करके रख दी, जिससे अस्तित्व के कई प्रश्न उभरकर ऊपर आये– "निर्माण हुआ बड़े–बड़े

भवनों का, सरकारी और अर्द्ध सरकारी संस्थाओं समितियों और आयोगों का, कारखानों और मशीनों का, बाँध और विकास योजनाओं का और शासकीय शब्दकोशों का, इस निर्माण की सतह के नीचे इंसान का जो रूप सामने आया, बहुत ही विकृत था। लगा कि आस–पास के बडे–बड़े परिवर्तनों के साये में लोग निरन्तर पहले से छोटे और कमीने होते जा रहे हैं। जिंदगी का साराअंदरूनी ढॉचा भुर–भुरी मिट्टी की तरह झड़ता ठहरता जा रहा है।"[6]

आषाढ़ का एक दिन

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के निर्माण में आठ–दस वर्षों के विस्तार का रेखांकन हुआ है। यह समय नाटक के तीनों अंकों में कलापूर्ण ढंग से विभाजित है। मोहन राकेश ने समय के विस्तार को मल्लिका के घर, वर्तन और वस्त्रों की मलिनता तथा अम्बिका के बिगडते हुए स्वास्थ्य के द्वारा प्रस्तुत किया है।

'आषाढ़ का एक दिन' की प्रत्यक्ष विषय–वस्तु कवि कालिदास के जीवन तथा उसकी बालसंगिनी मल्लिका से सम्बन्धित है। कवि कालिदास ऐतिहासिक होते हुए भी भिन्न है। उसकी प्रेमिका मल्लिका एक सीधी सादी समर्पित लड़की है। मल्लिका कालिदास से प्रेम ही नहीं करती बल्कि उसे यशस्वी होने के निर्णय के दर्द को सहन करने का प्रसंशनीय साहस भी दिखाती है। मल्लिका कालिदास को उज्जैन का राज कवि बनने के लिए उसे प्रेरित करती है लेकिन मल्लिका के प्रेम का अभाव महसूस कर कालिदास जाने के प्रति उदासीनता व्यक्त करता है। कालिदास उज्जैन जाने के बाद महान् अवश्य बनता है लेकिन उसका सारा मूल्य मल्लिका को सर्वस्व न्यौछावर करके चुकाना पड़ता है। कालिदास मल्लिका को सहानुभूति के अलावा कुछ भी नहीं दे पाता। बिना किसी आकांक्षा के वह गुप्त सम्राट का राज कवि और फिर कश्मीर का शासक बन जाता है किन्तु गॉव की पर्वतीय सरल सरस प्रकृति और मल्लिका के सहज स्वाभाविक प्रेम की मादंक स्मृति उसे पुनः प्रकृति की गोद में वापस ले आती है। तब तक मल्लिका किसी की पत्नी और किसी की माँ बन चुकी रहती है। कालिदास लौटने पर समय के शक्तिशाली रूप को देखकर क्षत–विक्षत हालत में ही आषाढ के दिन चमकती बिजली और गरजते बादलों में

चला जाता है। लेकिन मल्लिका उसके साथ जाना चाहकर भी बच्ची की आवाज सुनकर अपने कमरे में बँधी रह जाती है।

नारी समस्या 'आषाढ़ का एक दिन' में आधुनिक सन्दर्भ में उभरकर आयी है। मल्लिका कालिदास से प्रेम और विलोम से घृणा करती है। कालिदास के प्रेम के साथ ही साथ उसकी सृजनात्मक–प्रतिभा के विकास में सहायक सिद्ध होती है। परन्तु इस मार्ग पर चलते हुए वह परिस्थितियों की चक्की में पिसकर टूट जाती है जिससे वह घृणा करती है उसी को परिस्थितयों के कारण स्वीकार करती है; परन्तु उसका अन्तःकरण स्वीकार नहीं करता। नारी हृदय की कोमलता और उत्सर्ग की भावना मल्लिका में है, लेकिन बारम्बार प्रवंचित होकर भी उसके मन में आक्रोश क्यों नहीं जगता, वह मानवीय से अधिक देवी या यों कहिए मूर्तिमती समपर्ण सी लगती है। मल्लिका का प्रवंचना सहन करते जाना और अंत तक प्रवंचित रहना आधुनिक (पारिवारिक विघटन) समाज की कुंठाओं की ओर संकेत करता है। आज समाज में मल्लिका जैसी अनेक महिलाएँ हैं जो परिस्थितियों के चक्र में पिसकर टूट रही हैं। "मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से सुलझ कर भी अपने मूल में विरोपित नही होती।"[7]

'आषाढ़ का एक दिन' में नाटकीय संघर्ष कला और प्रेम सर्जनशील व्यक्ति और परिवेश भावना और कर्म, कलाकार और राज्य आदि कई स्तरों पर चित्रित किया गया है। प्रेम कलाकार की आन्तरिक क्षमता का विकास करता है और राज्याश्रय से उसे प्रतिष्ठा होती है किन्तु अपने आधार से कटकार राज्याधिकार ग्रहण करने पर कलाकार भीतर–भीतर टूटता और रीता होता जाता हैं मल्लिका और कालिदास दोनों पात्र एक स्तर पर टूटने का एहसास करते हैं। कालिदास को इस सन्दर्भ में व्याख्यायित किया जा सकता है, वह वास्तविक सम्राट है। उसके अधिकारों तथा आचरण को कोई चैलेंज करने वाला नहीं हैं। स्पष्ट है मल्लिका उसकी नारी, अभाव सहते–सहते शून्य बन जाने की स्थिति में भी उसको कोई दोष. देने अथवा अपना कोई भी अधिकार मांगने जैसा सवाल उठाती ही नहीं। उसके मन में ही यह बात नहीं समा सकती। उस पुरूष को वह कहीं भी कटघरे में नहीं खड़ा करती। मल्लिका न केवल कालिदास को बल्कि विलोम को भी कहीं कटघरे में नहीं खडा करती।

प्रियंगुमंजरी भी उसी युग की नारी है। विदुषी होते हुए भी वह नारी की पुरूष के बराबरी अथवा नारी के अधिकार और पुरूष के कर्तव्य जैसी कोई बात नहीं उठाती। कालिदास उसका पति है। वारांगनाओं का सहवास करता है। वह तो शायद उसकी सामंती प्रतिष्ठा के अनुरूप ही हो–पर वह राज्य–कार्य के बीच–बीच में कहीं स्वयं में खो जाता है। प्रियंगुमंजरी जानती है कि वह कहाँ खोता है, और उसी सब को अपनी आँख से देखने के लिए वह मार्ग बदलकर ग्राम–प्रांतर में आती है। मल्लिका को देखती है और बहुत कुछ समझ जाती है पर उसके वाद उसका प्रवास अपने पति का मन बदल सकने का है। उस पर उसे कोई क्रोध नहीं आता है। कालिदास रूपी पुरूष इस रूप में नारी से बहुत ऊँचा है। बराबरी का प्रश्न ही नहीं है। नारी का दमन, शोषण करने की रत्ती मात्र इच्छा या प्रयास न होते हुए भी वह स्वच्छन्द है, मुक्त है इसी मुक्ततः में उसका विघटन होता जाता है। "कालिदास का अकेलापन समय और स्थिति की देन है किन्तु मल्लिका के अकेलेपन के और भी आयाम हैं। उस व्यक्ति के समान कोई अकेला नहीं जिसके जीवन में कुछ घटता ही नहीं। उसके सामने कोई चुनाव की गुंजाइश नहीं, रास्ता भी नहीं। फिर भी औरों की तुलना में वह कितनी दृढ़ है, कितनी सक्षम उसकी जिंदगी इसलिए उतनी त्रासद नहीं जितनी संतप्त है और यदि त्रासद है भी तो उसकी त्रासदी औरों में बंट जाती है। इसलिए मल्लिका, कालिदास और विलोम तीनों एक ही बिन्दु से खींची तीन रेखाएं है किंतु अपनी शक्ति में मल्लिका, कालिदास की आस्था का विस्तारित रूप बन जाती ह।"[8] मोहन राकेश ने अन्य नाटकों की भॉति 'आषाढ़ का एक दिन' में नायक को लौटाया है टूटने और बिखरने के पश्चात् कालिदास मल्लिका के पास पहुँचता है। कालिदास भी 'नन्द–सुन्दरी' और 'महेन्द्रनाथ–सावित्री' की भॉति विस्फोटक स्थिति से साक्षात्कार करने में कतराता हैं यही कारण है कि वर्तमान का सामना न कर पाने वाले कालिदास का चुपचाप प्रस्थान 'कायरता तथा अहमपूर्ण कृत्य' सा प्रतीत होता है और यह कालिदास का अन्तर्द्वन्द्व वेतुका नहीं–लगता। शायद आधुनिक जीवन में भी कुछ ऐसा होता है–जब सुख की खोज में आदमी भटकते–भटकते थक जाता है तब अपने पुराने सुख–स्थान पर लौटता है। कालिदास जब मातृ गुप्त या सरकारी चोले से मुक्त होकर अपने ग्राम–प्रान्तर में लौट आता है तथा जीवन को अथ से प्रारम्भ करना चाहता है। परन्तु समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता, वह

असफल होता है इसमें त्रासदी है या आयरनी इसमें सन्देह हो सकता है लेकिन पारिवारिक विघटन की दास्तान स्पष्ट दिखती है। डॉ0 गिरीश रस्तोगी 'आषाढ़ का एक दिन' की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहती हैं– "इस माने में यह कालिदास और मल्लिका का नाटक है लेकिन वस्तुतः यह आधुनिक मानव की विवशता, उसके अन्तर्द्वन्द्व का, उसकी जटिलता का नाटक है......कालिदास का अन्तर्द्वन्द्व और टूटन आज के साहित्य का द्वन्द्व और पीड़ा है।"[9]

लहरों के राजहंस

'लहरों के राजहंस' तीन अंकों में विभाजित है। तीनों अंक अपने आप में सशक्त, सुगठित, भावपूर्ण और सम्पूर्ण हैं। नाटक का सूत्र नन्द और सुन्दरी के सम्बन्ध–सूत्र से खुलता है। प्रथम अंक से ही नाटक में आधुनिक भाव–बोध होने का संकेत मिलने लगता हैं इसमें नन्द और सुन्दरी के जीवन दर्शन से अन्तर्द्वन्द्व की झलक मिलने लगती है। नन्द आधुनिक मुनष्य के सन्दर्भ में ही नहीं देश–काल के द्विधाग्रस्त व्यक्ति का चरित्र है जिसके अन्दर निर्णय और अनिर्णय के द्वन्द्व की स्थिति चलती है। सुन्दरी आधुनिक अभिजात वर्ग की नारी है। जो साहसी, विदुषी, रूप गविर्तता और नन्द की पत्नी है। वह नन्द को गौतमबुद्ध बनने से रोकना चाहती है। सुन्दरी एक ऐसी स्वाभिमानी, आत्मविश्वासी और गर्वमयी पत्नी है जो अपने सौन्दर्य, आकर्षण और प्रणय के बन्धन में अपने पति (नन्द) को बाँधे रखना चाहती है। वह देवी यशोधरा के भिक्षुणी रूप में दीक्षा ग्रहण करने के दिन जान–बूझकर कामोत्सव का आयोजन करती है, रात के अन्तिम पहर तक भोजन, नृत्य और आपानाक का आदेश देती रहती है क्योंकि उसका कहना है कि कामोत्सव कामना का उत्सव है और वह आज की कामना कल के लिए नहीं टालना चाहती है उसका विश्वास है कि राजकुमार सिद्धार्थ के गौतम बुद्ध बनने देने का श्रेय यशोधरा को है। वह स्पष्ट कहती है– "देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को अपने पास बॉधकर रख सकता, तो क्या वे आज राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते? गौतम बुद्ध बनकर नदी तट पर लोगों को उपदेश दे रहे होते?........ नारी का आकर्षण पुरूष को पुरूष बनाती है तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बनाता है।"[10] सुन्दरी गौतम बुद्ध के उपदेश में दैविक आकर्षण नहीं बल्कि भौतिक आकर्षण

ही मानती है। लेकिन दूसरी तरफ नन्द के मन में बुद्ध के लिए विशेष अनुराग और स्नेह की धड़कन मिलती है। लेकिन मन का अवसाद सुन्दरी को देखते ही समाप्त हो जाता है। नन्द कहता है कि कुछ न कुछ है जो उसकी चेतना में कुण्डली मारे बैठा रहता है और उससे वह मुक्त नहीं हो पाता है। वह कुछ, कुछ और नहीं 'अपनी ही क्लांति से भरे मृग को देखकर' यह वक्तव्य नन्द के मन में उठे प्रश्न से सम्बन्ध रखता है। वह जानता है कि हर व्यक्ति की स्थिति मरे मृग की ही भॉति है। व्यक्ति जन्म लेता है और मरता है। लेकिन जीवन की सार्थकता क्या है? किसमें है? नन्द इन्हीं प्रश्नों से टकराता है। इसलिए वह कभी सुन्दरी से जुड़कर हल ढूँढना चाहता है तो कभी गौतम बुद्ध से टकराकर। नन्द का अपना जीवन दर्शन है वह जानता है कि जिये जाने से जीवन धीरे–धीरे चुक जाता है क्योंकि हर उन्मेष का परिणाम एक निमेष है और काल के विस्तार में उन्मेष और निमेष अस्थाई होते हैं। अतः नन्द अपनी आन्तरिक आवश्यकता के कारण ही कभी सुन्दरी (प्रवृत्ति) से, कभी व्याघ्र (हिंसा) से जुड़कर जीवन (जन्म, मृत्यु और अमरत्व) से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान प्रवृत्ति से हटकर निर्माण की प्राप्ति में खोजा है लेकिन नन्द ने बुद्ध की थोपी हुई आस्था से तर्क किया। उसे बुद्ध के उपदेश में आस्था नहीं है वह नाटक के अन्त तक उस आस्था को चुनौती देता गया है। नन्द सुन्दरी (प्रवृत्ति) और बुद्ध (निवृत्ति) से जुड़कर नहीं जिन्दा रहना चाहता है नन्द कहता है कि "मैं तुम्हारा या किसी और का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता।"[11] आस्था को चुनौती देने में आधुनिकता का बोध स्पष्ट होता है।

नन्द का अन्तर्द्वन्द्व वर्तमान व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व के समानान्तर है क्योंकि नन्द अनिर्णय की स्थिति में जिन्दा रहने की प्रक्रिया में सांस लेता है। नन्द अपनी उपलब्धि की खोज न तो सुन्दरी से जुड़कर करना चाहता है और न तो गौतम बुद्ध से जुडकर। वह अपने ही अन्दर के प्रश्नों से टकराता है। वह जानता है कि बुद्ध की दीक्षा का साधनात्मक पहलू आज के सन्दर्भ में निरर्थक है। और वह (नन्द) अपनी पत्नी के निकट रहकर होने के बोध से टकराता हैं वह कहता है कि "मैं केवल उतना–सा ही हूँ जितना–सा कि तुम्हारी दृष्टि मुझे चाहती है।"[12] वह अपने अन्तर्द्वन्द्वों से इतना टूट चुका है कि वह स्वयं को "चौराहे पर खड़ा नंगा व्यक्ति"[13] महसूस करता है। गौतम बुद्ध के पास से उसकी (नन्द) वापसी अपने घर में होती है तो वह स्वयं घर में

आकर अजनबी, पराया और निर्वासित अनुभव करता है। नन्द कहता भी है– ....."मैं अपने को एक ऐसे टूटे हुए नक्षत्र की तरह पाता हूँ जिसका कहीं वृत्त नहीं है जिसका कोई धुरा नहीं है।"[14] वह (नन्द) अपने अन्दर के प्रश्नों से जूझकर इतना थक चुका है कि वह अपने को अधूरा महसूस करता है। उसकी वापसी सुन्दरी के निकट आधे–अधूरे के बोध में ले जाती है वह कहता है– "सब जगह मैं अपने को एक–सा अधूरा अनुभव करता हूँ।"[15] नन्द के होने की स्थिति को न तो सुन्दरी ने बोध किया और न तो गौतम बुद्ध ने। अपने अस्तित्व की चुनौती बुद्ध के पास जाकर देनी चाही तो बुद्ध भी कर्तनी द्वारा नन्द को केशहीन कराकर उसकी चुनौती को इनकार करने का प्रयास करते हैं। इस तरह उसके (नन्द) होने की वास्तविकता व्याकुलता में ढक, गई और नन्द की नियति सबसे कटकर व्याकुलता में वास्तविकता को ढूँढ़ने के प्रयास में स्पष्ट होती है अतः सम्बन्धों की त्रासदी नन्द के अनिर्णय की स्थिति में परायेपन और परम्परा से कटकर जीने में मिलती है। डॉ0 गिरिश रस्तोगी इसकी विशिष्टता को रेखांकित करते हुए लिखती हैं– "यह नाटक गौतम बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के ऐसे अन्तर्द्वन्द्व को प्रस्तुत करता है जिसका सम्बन्ध युग से है और जो ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी आधुनिक है सर्वत्र जीवित है।"[16]

नाटक के अन्त में सम्बन्धों के विघटन की दास्तान आधुनिकता के परिपेक्ष्य में व्यक्त हुई है जो अन्त होने की सीमा को तोड़ती हैं। क्योंकि नाटक का अंत नये बिन्दुओं की तलाश में बाहर होने की स्थिति में आ जाता है। 'लहरों के राजहंस' का अन्त सुन्दरी के इन शब्दों से किया गया है– "इतना ही समझ पाये हैं वे ?......इससे अधिक कभी समझ भी नहीं पाएँगें ये .... कभी नहीं समझा पाएँगे।"[17] नाटक की सम्पूर्ण संरचना संवेदनात्मक धरातल पर है। सम्प्रेषण और अभिव्यक्ति के सम्बन्धों को आधुनिक पद्धति में विवक्षित किया गया है। "नाटक के अन्त मे लगता है कि नन्द के अन्तर्द्वन्द्व की जिस अंदाज में अभिव्यक्ति हुई है वह कुछ–कुछ शेक्सपियर की त्रासदियों से गुथे घायल पात्रों की अभिव्यक्ति से मिलती जुलती है। असहनशीलता की चरम स्थिति में सुन्दरी को कहे गये नन्द के अन्तिम शब्द अपने निहितार्थ में शेक्सिपियर के तनमन घायल पात्र हेमलेट के कहे गये इन शब्दों की याद दिलाते हैं; 'What a wounded name, things standing thus unknown, shall

live behind me' (HAMLET-SCENE II)– मगर इसका मतलब यह नहीं कि हेमलेट से नन्द की कोई तुलना की जा सकती है। 'हेमलेट' तो सदियों के सिर पर सवार, कराहता हुआ एक घायल पात्र है, और नन्द विचारा है। लहरों का एक राजहंस।"[18]

आधे–अधूरे

'आधे–अधूरे' नाटक की पृष्ठभूमि अति आधुनिक है जिसमें आज के इन्सान की जिंदगी का निरूपण किया गया है। इसलिए यह स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों, अमानवीय स्थितियों और पारिवारिक विघटन का दस्तावेज बन गया है। 'आधे–अधूरे' का प्रमुख पात्र महेन्द्रनाथ (पुरूष एक) है। जो बेकार, आत्मकेन्द्रित, आत्मविश्वासहीन, फालतू और व्यक्तित्वविहीन व्यक्ति है। वह अपनी स्थिति का अनुभव करते हुए भी उबर नहीं पाता वह स्वयं की दृष्टि में गिर चुका है। वह मात्र एक रबड़ स्टैम्प का टुकड़ा से ज्यादा अपने को महसूस नहीं करता हैं दूसरी तरफ उसकी पत्नी सावित्री बेकार पति (महेन्द्रनाथ) से ऊबी हुई स्त्री है जो टूटते बिखरते परिवार से ऊबकर किसी अन्य पुरूष से जुडने की ललक मन में धारण किये हुए है। वह जुनेजा, जगमोहन, मनोज और सिंहानियाँ जैसे भ्रष्ट लोगों से जुडकर एक पूर्ण पुरूष की तलाश कर रही है फिर भी सावित्री सबमें अलग–अलग मुखौटों में चेहरा एक ही देखती है। सावित्री (स्त्री) हर पुरूष से टकराकर अपने में टूटती है। फिर भी तलाश के भटकाव में अपने बेटे–बेटी और यहाँ तक कि अपने पति (महेन्द्रनाथ) से उबकर अपने पुराने प्रेमी जगमोहन से हमेशा–हमेशा के लिए जुड़ने का असफल प्रयास करती है। सावित्री अपनी असफलता के कारण ही चीखती चिल्लाती है और सबसे अलग होना चाहती है। लेकिन पुनः उसकी वापसी बेकार पुरूष महेन्द्रनाथ के घर में होती है। नाटक के सहपात्र बड़ी लड़की (बिन्नी) लड़का (अशोक) और छोटी लडकी (किन्नी) अपने माता–पिता के साथ रहकर भी एक दूसरे से कटे और अलगाव बोध से एक ही परिवार में जहाँ–तहॉ बिखरे हुए हैं। बड़ी लडकी (बिन्नी) मनोज रूपी हमदर्द को पाते ही बेगानी दुनियॉ (अपने ही घर) से निकल जाती है। और लडका (अशोक) फिल्म पत्रिका से तस्वीरें काटता हुआ मौके की तलाश मे है। और छोटी लडकी (किन्नी) के लिए पूरा

परिवार 'मिट्टी के लोंदे .... सबके सब मिट्टी के लोंदे' के समान हो गया है।

नाटक के सभी पात्र महेन्द्रनाथ सावित्री, बिन्नी, अशोक और किन्नी आदि आधुनिक मध्यवर्गीय समाज के चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं सभी एक दूसरे से अलग होकर जुडे रहने के लिए बाध्य हैं। नाटक के सम्बन्ध में नाटककार ने स्वयं कहा है "विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर–एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई भी एक निश्चित् भूमिका नहीं है।"[19] राकेश ने नूतन शिल्प, प्रतीक और भाषा के माध्यम से कथानक को घटनाओं से नहीं बल्कि आज के व्यक्ति की मनः स्थितियों की बनावट से निर्मित किया है।

सावित्री महेन्द्रनाथ को केवल अपना देखना चाहती है औरों के लिए उसके मन में या विचारों में, स्थान सह्य नहीं है। मित्रों का साथ देने की महेन्द्र की इच्छा सावित्री को आपे से बाहर कर देती है। प्रतिक्रिया स्वरूप महेन्द्रनाथ के मित्रों से सावित्री घृणा करने लगती है उसकी यह घृणा एवं उपेक्षा महेन्द्रनाथ को जिद्दी बना देती है, महेन्द्रनाथ चाहता है कि सावित्री उसके मित्रों के सामने वैसा ही व्यवहार करे जैसा वह चाहता है। मित्रों और पत्नी के द्वन्द्व के बीच घिरा और उन दो पाटों के बीच पिसता–महेन्द्रनाथ उस राकेश को रूपायित कर रहा है जो कि घर की, घर के अर्थ की, जीवन में–पत्नी एवं मित्रों की भूमिका की वास्तविकता से तलाश कर रहा है। महेन्द्रनाथ मित्रों से जितना जुडा है, पत्नी से भी उतना ही जुड़ा है, इन दोनों में से किसका पलड़ा भारी है, यह कहा नहीं जा सकता है इसलिए सावित्री कहती है कि "जबसे मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी न किसी का सहारा ढूँढते पाया है। खास तौर से आपका यह कहना चाहिए या नहीं, जुनेजा से पूँछ लूँ वहाँ जाना चाहिए या नहीं–जुनेजा से राय कर लूँ। कोई–छोटी से छोटी चीज खरीदनी है तो भी जुनेजा की पसन्द से। कोई बड़े से बड़ा खतरा उठाना है– तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझसे व्याह करने का फैसला भी कैसे किया उसने? जुनेजा के हामी भरने से।"[20] महेन्द्र नाथ जुनेजा को दोस्त मानता है, जुनेजा भी दिल से महेन्द्रनाथ को चाहता है फिर भी सावित्री इनसे सन्तुष्ट नहीं है, और हर बात में जुनेजा

के प्रति शंकित एवं सतर्क रहती है क्योंकि उसे जुनेजा जैसा एक पूरा व्यक्ति चाहिए। परन्तु जुनेजा को सावित्री का दृष्टिकोण पसन्द नहीं है और हर बात में जुनेजा के प्रति शंकित एवं सतर्कता जुनेजा के दिल में आक्रोश पैदा कर देती है इसलिए महेन्द्रनाथ के प्रति मित्रता का रूख अख्तियार करते हुए जुनेजा सावित्री से कहता है "वह उसे बहुत प्यार करता है ....वह इस औरत को इतना चाहता है इतना चाहता है अन्दर से कि अगर ऐसा न होता तो आज सुबह से ही रिरियाकर मुझसे न कह रहा होता कि जैसे भी हो, मैं इससे बात करके इसे समझाऊँ .... तुमकिसी तरह छुटकारा नहीं दे सकतीं उस आदमी को ? ....तुमने जिस तरह बाँध रखा है उसे अपने साथ।"[21] और इन दो ध्रुवों के बीच पिसता महेन्द्रनाथ इतना दयनीय बन गया है कि वह अपने को बिल्कुल बेसहारा समझता है। उसका मित्र उसके भविष्य के लिए चिन्तित है वह उसमें, नई चेतना, नया आत्म विश्वास, नई जीवन–दृष्टि जगाना चाहता है इसलिए जुनेजा सावित्री से कहता है– "ठीक है वह नहीं आएगा वह कमजोर है, मगर इतना कमजोर नहीं है तुमसे जुड़ा हुआ है, मगर इतना जुडा नहीं है। उतना बेसहारा भी नहीं है जितना वह अपने आपको समझता है। वह ठीक से देख सके, तो एक पूरी दुनिया है उसके आस–पास मैं कोशिश करूँगा कि वह ऑख खोलकर देख सके।"[22] महेन्द्रनाथ जिस तरह पत्नी से घर में दुःखी होकर मित्र के पास चला गया था, उसी प्रकार उसी आकर्षण में बंधकर फिर घर लौट आता है पत्नी के पास। यह वर्तमान जीवन की विडम्बना ही है कि व्यक्ति को न चाहते हुए भी ऐसा निर्णय लेना पडता है। गोविन्द चातक इस पर टिप्पड़ी करते हुए लिखते हैं कि "सावित्री का अधूरापन कुछ उसके व्यक्तित्व और कुछ परिस्थितियों का परिणाम है। उसका व्यक्तित्व आक्रामक नारी का व्यक्तित्व है।"[23]

सावित्री–महेन्द्रनाथ के समानान्तर पारिवारिक विघटन की त्रासदी इनके पुत्र एवं पुत्रियां भोगती हैं– बडी लड़की बिन्नी उस पुरूष के साथ भाग जाती है। जिसको सावित्री अपने मित्र (या भावी पति) की हैसियत से घर बुलाया करती थी। बिन्नी ससुराल में प्रसन्न नहीं रह पाती क्योंकि उसका स्वभाव पति मनोज स्वीकार नहीं कर पाता है। एक प्रश्न कर बिन्नी अपने मम्मी पापा से उत्तर जानना चाहती है कि ऐसी कौन सी वस्तु है जो पति मनोज द्वारा उसे प्रताड़ित करती रहती है, इसलिए मनोज, क्यों कहता है कि "मैं इस

घर से ही अपने अंदर कुछ ऐसी चीज लेकर गई हूं जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती।"[24] मनोज का कथन नयी पीढ़ी में मनोवैज्ञानिकता की तलाश करता है यही गलत फहमियाँ पति–पत्नी में एक दरार उत्पन्न कर देती हैं और बिन्नी ऐसा कुछ करने लगती हैं जो उसके पति मनोज को पसन्द ही न आये और दाम्पत्य जीवन की यह कटुता उसे अपनी माँ की ओर खींच लाती है। नयी पीढ़ी का लड़का अशोक वयस्कता की ओर अग्रसर है, न उसका पढने में दिल करता है और न ही कहीं नौकरी करना चाहता है वह घर को घर नहीं समझता और जब तब घर का सामान भी चोरी से बेंच देने में उसे कोई परहेज नहीं है। तेरह वर्षीय छोटी लड़की किन्नी ऐसे कशम–कश व अवसाद भरे वातावरण में पलकर ढीठ हो गयी है एवं कच्ची आयु में अपनी सखियों के साथ गोपनीय विषयों पर बातें करती है, और इसी कारण अपनी सहेलियों की माताओं से उसे बार–बार भर्त्सनाएँ सुननी पड़ती हैं। सावित्री ऐसे घर को सम्भाल पाने में जब अपनी असमर्थता देखती है तो किसी मित्र के सहारे घर छोड़ देने की योजना बनाती है, कुछ दिन बेहद उद्विग्न रहती है और अपने को सारे वातावरण से काट लेती है, किन्तुं फिर धीरे–धीरे गृहस्थी पुराने ढर्रे पर आ जाती है और यही क्रम न जाने कितनी बार दोहराया जा चुका होता है। डॉ0 सिद्धनाथ कुमार आधे–अधूरे की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए कहते हैं– "आधे–अधूरे वे लोग हैं, जिनकी, भौतिक उपलब्धियों की आकांक्षाएं पूरी नहीं हो पायी हैं जिनको आत्मिक शान्ति उपलब्ध नहीं है, जिन्हें भरे–पूरे परिवार के बीच रहकरभी रागात्मक तृप्ति नहीं मिल पायी है। आधे–अधूरे में ऐसे ही लोगों की कहानी है।"[25]

सन्दर्भ

1. परिवेशः चीटियों की पंक्तिया– 1973– जमीन से कागजों तक, पृ016
2. सारिका–अगस्त, 1968, पृ0 73
3. परिवेश–भूमिका अंश–मोहन राकेश .
4. स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटकः मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में–डॉ रीता कुमार, पृ0 366
5. मोहन राकेश और उनके नाटक–डॉ0 गिरीश रस्तोगी, पृ050

6. बकलम खुद–मोहन राकेश, पृ0 97
7. आषाढ़ का एक दिन–भूमिका, पृ0 9
8. आधुनिक हिन्दी नाटक का मसीहा मोहन राकेश–गोविन्द चातक, पृ0 58
9. मोहन राकेश और उनके नाटक–डॉ0 गिरीश रस्तोगी, पृ0 66
10. लहरों के राजहंस, पृ0 36
11. लहरों के राजहंस, पृ0 126
12. लहरों के राजहंस, पृ0 138
13. लहरों के राजहंस, पृ0 122
14. लहरों के राजहंस, पृ0 131
15. लहरों के राजहंस, पृ0 137
16. हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेदन–डॉ गिरीश रस्तोगी, पृ0 321,22
17. लहरों के राजहंस, पृ0 125
18. नाटक कार मोहन राकेश–जीवन प्रकाश जोशी, पृ0 67
19. आधे–अधूरे भूमिका, पृ0 12
20. आधे–अधूरे, पृ0 84–85
21. आधे–अधूरे, पृ0 80–84
22. आधे–अधूरे, पृ0 94
23. आधुनिक नाटक का मसीहा–मोहन राकेश, पृ0 86
24. आधे–अधूरे, पृ0 28
25. नाटककार मोहन राकेश–संवाद और शिल्प– सिद्धनाथ कुमार, पृ0 23

सप्तम अध्याय

उपसंहार

सप्तम् अध्याय

उपसंहार

यह सर्वविदित है कि मोहन राकेश आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य में बहुचर्चित एवं विवादास्पद लेखक रहे हैं। उनके साहित्य की तरह उनका जीवन भी विवादों का जीवन रहा है। वहीं दूसरी ओर राकेश जी का रचना–संसार एक ईमानदार लेखक की सहज अभिव्यक्ति है। जिसमें वे अन्तर्लोक एवं वाह्यलोक के द्वन्द्व में सामंजस्य बिठाने के प्रयत्न में भटकते नजर आते हैं।

मोहन राकेश के सम्पूर्ण कथा साहित्य कहानी, उपन्यास (तीन नाटक पारिवारिक विघटन के विशेष सन्दर्भ में) में चित्रित पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के स्वरूप के अध्ययन करने पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

वर्तमान संक्रमणशील समाज में मूल्य विघटन की प्रक्रिया से सम्बन्धों में बिखराव आ रहा है। और सम्बन्धों को किसी ठोस धरातल पर स्थापित करना कठिन होता जा रहा है सभी सम्बन्ध एक दबाव की नियति से गुजर रहे हैं तथा मानव मन आस्था, विश्वास एवं भावनात्मक गहराई के अभाव में कमजोर होता जा रहा है। प्रेम सम्बन्ध कुंठाओं के शिकार हो रहे हैं। दाम्पत्य सम्बन्धों में मुक्त भोग एवं अहं का विस्फोट हो रहा है तथा अन्य पारिवारिक सम्बन्ध आर्थिक अभावों एवं भावनात्मक लगाव की कमी के कारण कृत्रिम और मशीनी होते जा रहे हैं। उच्चतर मूल्यों में अनास्था पारिवारिक सम्बन्धों को विकृत कर रही है। मैत्री सम्बन्ध गहन संवेदना वा पारस्परिक समझ और सहानुभूति के अभाव में समय काटने या सामाजिक औपचारिकताएं निभाने तक सीमित हो गये हैं।

मानवीय सम्बन्धों में मोहन राकेश सर्वाधिक महत्व स्त्री–पुरूष सम्बन्धों को देते हैं जिनमें विवाह पूर्व प्रेम सम्बन्ध तथा दाम्पत्येत्तर सम्बन्धों का विवेचन करने में उनकी विशेष रुचि है। मोहन राकेश ने पारिवारिक सम्बन्धों की निरर्थकता की ओर भी संकेत किया है। सास–बहू, माँ–बेटी, ननद–भाभी, भाई–बहन आदि सम्बन्ध भी अब किन्ही नैतिक सीमाओं को स्वीकार करना पसन्द नहीं करते हैं। माँ–बेटी के व्यभिचार के सम्मुख मुंह नहीं खोल पाती, ननद–भाभी को अपने पुरूष मित्रों की सूचना गर्व से देती है और उसे भी ऐसा करने के लिए प्रेरित करती है। कुल मिलाकर पारिवारिक सम्बन्धों का आधार ही इस नगरीय सभ्यता ने हिला दिया है। इस संक्रमण काल में मूल्यों का विघटन इतनी तीव्रता से हुआ है कि कोई भी मूल्य महत्वपूर्ण नहीं रहे हैं।

मोहन राकेश की अधिकांश कहानियां पारिवारिक सन्दर्भों में बदलते स्त्री–पुरूष के सम्बन्धों को रेखांकित करती हैं। जिसमें राकेश जी ने समकालीन जीवन के सुखद : दुःखद प्रसंगों, जीवन में भरती जा रही ऊब, अकेलापन और उदासी का अंकन जिस सूक्ष्मता से किया है। उतनी ही गहराई से मानव सम्बन्धों में आई कटुता को भी रेखांकित किया है। राकेश जी की कहानियां में प्रतिपादित अनुभूतियाँ कच्ची नहीं हैं वे लेखकीय मानस में घुट–पिसकर रसायन बन गयी हैं। उनका असर कहीं तेज और तिक्त तथा खट्टी मीठी और मादक स्थिति में उभरता है। वे कभी मानवीय संवेदना को सहलाती हैं तो कभी धक्का देती हैं। उनमें सरबत का स्वाद तथा तेजाब की गन्ध है वे समकालीन परिवेश के ताप–संताप, भय, अकुलाहट, सुरक्षा, आत्मीयता, परायापन, निजता, बेगानापन और गर्म श्वासों की वाष्प की खुशबू हैं। यदि हम कतिपय प्रयोगशील कहानियों को छोड़ दें तो राकेश जी की कहानियाँ नख से शिख तक चुस्त और दुरूस्त हैं। उनके अधिकांश पात्र विराट मानवीय चेतना का परिचय देते–देते अन्तर्मुखी होकर रह गये हैं। उनमें से

अधिकांश अकेलेपन व अजनबीपन का बोझ ढोते–ढोते घुटनशील माहौल में डूब से गये हैं। एक वाक्य में कहें तो ये सभी पारिवारिक जीवन की त्रासदी के प्रतिरूप हैं। इसके साथ पात्रों की स्थिति अपने परिवेश से ढली समकालीन जीवन के ट्रेजिक विजन और टेन्शन की यथार्थवादी अभिव्यक्ति है।

मोहन राकेश मूलतः शहरी मध्यमवर्ग को अपनी रचनाओं का आधार बनाते हैं। 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल' तथा 'अंतराल' में उन्होंने कस्बाई तथा महानगरीय परिवेश में मध्यमवर्ग के बदलते स्त्री पुरूष सम्बन्धों का चित्रण किया है।

'अंधेरे बंद कमरे' में मध्यमवर्गीय महत्वाकांक्षा और परिवेशगत दबावों में सम्बन्ध कैसे बनते बिगड़ते हैं, मध्यमवर्गीय संस्कार एवं चेतना आधुनिकता के दबाव में किस प्रकार प्रगतिशीलता, चेतना से टकराकर मानवीय नियति को असहाय बना देती है; तथा स्थितिवाद किस प्रकार मध्यवर्ग को अपने आपसे दूर भागने और फिर किसी जादुई सम्मोहन से फिर अपनी मध्यवर्गीय धुरी पर लौटने के लिए विवश करता है। इन सब की स्पष्ट अभिव्यक्ति इस उपन्यास में दिखती है। हरबंश और नीलिमा के बीच जो टकराहट है वह पति–पत्नी की नोंक–झोंक नहीं है। वह पुराने और नये मूल्यों की मांग की टकराहट है। उसमें पुरूष और स्त्री को एक दूसरे पर अधिकार पा लेने की होड़ है। लेखक कहीं न कहीं आस्था से जुड़ा है जिससे उसने हरबंश, शुक्ला और मधुसूदन के माध्यम से अभिव्यक्ति किया है। शुक्ला, सुरजीत जैसे लम्पट व्यक्ति को पति बनाकर भी उससे जुड़ी रहती है। मधुसूदन सुषमा से जुड़कर भी न जुड़े रहने की प्रक्रिया से गुजरता है और हरबंश आधुनिक होते हुए भी पत्नी की मांगों के सन्दर्भ में कमजोर है क्योंकि वह प्रयास करने पर भी अपने पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं हो पाता। वह नीलिमा के निर्णय को भूलने के लिए शराब से भरा गिलास खाली करता रहता है। हरबंश को नीलिमा की वापसी की खबर भले ही न हो लेकिन नीलिमा को हरबंश के पागलपन की खबर

अवश्य है। इस तरह संक्षेप में कहा जाय तो अंधेरे बन्द कमरे के सभी पात्र हरबंश, नीलिमा, सुषमा और इबादतअली महानगरीय परिवेश के अंदर टूट-टूट कर बिखरे रहने की स्थिति में जिन्दा रह रहे हैं। आज स्वभावतः लोगों के भीतर परायीकृत भावना घर करती जा रही है। वर्तमान में हरबंश, मधुसूदन, नीलिमा, सुषमा जैसे बहुत लोग हैं जो इस स्थिति का बोध करते हुए जिंदा होने का उपक्रम करते हैं क्योंकि यह स्थिति आदमी की परिस्थिति के भीतर से उत्पन्न होती है। महानगर अमानवीयता की प्रक्रिया का नासूर बनता चला जा रहा है। जहाँ मानवीय सम्बन्धों में अलगाव, अजनबीपन, परायापन तथा फूहड़ता का बोध तीव्रतम होता जा रहा है।

'न आने वाला कल' में मोहन राकेश ने विवाहपूर्व, विवाहेत्तर एवं दाम्पत्येत्तर प्रेम सम्बन्धों का स्वरूप सभी पुरूष एवं स्त्रियों में समान रूप से चित्रित किया है। किसी का भी प्यार गहरा नहीं और सबके लिए क्षणिकसुख ही महत्वपूर्ण है। एक भी प्रेम सम्बन्ध, सुखी दाम्पत्य जीवन में नहीं बदल पाता। उपन्यास में समाविष्ट सभी दम्पत्ति तनाव ग्रस्त, उखड़े हुए, एक दूसरे से छिटकने की कोशिश में लगे हैं। सभी दम्पत्ति कुंठित एवं परेशान हैं।

'न आने वाला कल' में अलगाव और अकेलेपन की दारूण यन्त्रणा में मनोज, शोभा, बॉनी, रोज, मिसेज पार्कर सभी पात्र जीने के लिए अभिशप्त हैं। मनोज अपने अकेलेपन की यन्त्रणा को शोभा से शादी करके खत्म करना चाहता है। लेकिन मनोज और शोभा पति-पत्नी के सम्बन्ध का बोध एक-दूसरे के प्रति नहीं कर पाते हैं। शोभा और मनोज के इस अलगाव में अलक्षित तीसरा पुरूष है। जो शोभा से जुड़कर उपन्यास में उपस्थिति न होते हुए भी हुआ है। शोभा का जीवन आधुनिक भाव बोध के सन्दर्भ में विघटित हुआ है। उसके आधुनिक विचार ही, उसे तोड़ते हैं और टूटकर न टूट पाने की छटपटाहट में रहने के लिए बाध्य करते हैं। मनोज ने उसे कुछ नहीं दिया इसके बावजूद वह उससे जुडे रहने के लिए विवश है। मनोज बॉनी से बंधकर

शोभा से उत्पन्न अभाव की पूर्ति करना चाहता है। लेकिन मनोज सम्बन्धहीनता के स्तर पर बॉनी और काशनी से बँधने का प्रयास करता है। इसलिए कि दोनों के बीच कोई सम्बोधन नहीं है। वह जिस अकेलेपन और अलगाव का शिकार है बॉनी भी उसी की शिकार है। बॉनी के लिए किसी भी प्रकार के रिश्तों का कुछ भी दर्द नहीं है। क्योंकि उसे भटकने में ही एक आनन्द मिलता है। वह अनेक पुरूषों के सहवास के बावजूद न जुड़े रहने की प्रक्रिया में जिंदा हैं। जिमि तथा उसकी पत्नी रोज साथ–साथ न रहकर भी एक–दूसरे से अलग रहते हैं। रोज की जिंदगी वहाँ के लोगों से इतनी कट चुकी थी कि रोज का लोगों से वार्तालाप अर्धाक्षरी शब्दों में हुआ करता था। मिस्टर टोनी व्हिसलर और उसकी पत्नी एक दूसरे की उपस्थिति में अजनबी की तरह रहते थे। शारदा और कोहली पति–पत्नी होकर भी एक दूसरे से चिढे और खिंचे से रहते हैं। कोहली अपने भविष्य की बेरोजगारी के प्रति चिंतित है तो शारदा पिता की गरीबी यादकर कोहली से बंधी रहने की अकुलाहट में जीती है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि 'न आने वाला कल' उपन्यास के सभी पात्र एक तरफ मिशन स्कूल की पाबंदियों में जीने के लिए अभिशप्त थे। वहीं दूसरी तरफ घिसी पिटी जिंदगी उनकी नितांत अकेली रहती है। सुबह से शाम तक काम में लगे रहना मानों सभी के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था। सभी नौकरी छोड़कर कहीं और जाने का निर्णय नहीं ले पाते हैं। भविष्य की बेरोजगारी की चिंता से संत्रस्त रहते थे। फादर बर्टन स्कूल की चार दीवारी के घेरे में बन्द रहने की नियति सबकी नियति थी। उनकी अकुलाहट, संत्रास, अकेलापन अजनबीपन ऊब और उदासी यह सारा का सारा बोध मिशन स्कूल की व्यवस्था की देन थी।

'अन्तराल' में मानव सम्बन्धों की ईमानदारी से तलाश मोहन राकेश ने करनी चाही है उपन्यास की स्थापना है कि जीवन में शारीरिक अपेक्षाओं के अलावा भी कुछ ऐसी अपेक्षाएं होती हैं। जिसको पाने के लिए

मानव नियतिग्रस्त होता है। इस उपन्यास में नामहीन सम्बन्धों की तलाश में आधुनिकता की अभिव्यक्ति हुई है। लेकिन उस तलाश में आत्मसंघर्ष रोमेन्टिक ढंग से चलता है। क्योंकि आज के जीवन में समबन्धों को महसूस किया जा सकता है, सम्बन्धों को नाम नहीं दिया जा सकता है। यूँ कहा जाये तो 'अंतराल' में दाम्पत्य सम्बन्धों का टूटना एवम बिखरना मानसिक है, सामाजिक, आर्थिक नहीं। मल्होत्रा को पत्नी से यौन सम्बन्धों में संतुष्ट नहीं मिलती क्योंकि उसकी पत्नी यौन तृप्ति को गौण मानती है और घर–गृहस्थी के अन्य कामों को महत्व देती है। कुमार की पत्नी से नहीं निभती क्योंकि दोनों के दाम्पत्य पर विगत जीवन के प्रेम सम्बन्धों की छाया है और वे वर्तमान में सहज प्रेम सम्ब्न्ध स्थापित करने में अक्षम हो गए हैं। श्यामा और देव का दाम्पत्य जीवन यातनामय नर्क बन जाता है। क्योंकि देव का अतीत, उसके वर्तमान पर हावी है और श्यामा का अहम उसके प्यार को छल लेता है। एक भी दम्पत्ति सुखी वैवाहिक जीवन नहीं जी रहा है। पति–पत्नी का सम्बन्ध मात्र बनकर रह गये हैं। अंतराल में सभी के दाम्पत्य सम्बन्ध तनाव ग्रस्त हैं कहीं पर दाम्पत्येत्तर योनाकर्षण, कहीं पर रूचि वैभिन्य और कहीं पर यौन ग्रन्थियाँ दाम्पत्य सम्बन्धों को तोड़ने में लगी हुयी हैं।

वस्तुतः राकेश का सम्पूर्ण कथा साहित्य विभाजनोत्तर भारत में बढ़ते मूल्य–संकट और सम्बन्ध–विघटन के दुष्परिणामों में छटपटाते मनुष्य की पीड़ा को मुखर करता है, पर उनके नाटक इस क्षेत्र में कहानियों और उपन्यासों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए हैं। इसलिए मैंने मोहन राकेश के कथा साहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन के सन्दर्भ में मोहन राकेश के तीन नाटकों 'आषाढ़ का एक' दिन' , 'लहरों के राजहंस' और 'आधे–अधूरे' को संक्षिप्त रूप में विवेचित करने की कोशिश की है। मोहन राकेश अपने नाटकों में परिवेश की असंगति और मूल्यच्युत स्थिति जीने वाले व्यक्ति की असुरक्षा की भावना, वरण और निर्णय की असमर्थता का यातनाप्रद

द्वन्द्व, एकाकीपन और अपरिचय की पीडा, सम्बन्धों के चुकेपन के तनाव और सन्त्रस को बहुत सजीव अभिव्यक्ति देते हैं। 'आषाढ़ का एक' दिन से 'आधे–अधूरे' तक राकेश ने प्रतीक रूप में जीवन मूल्यों और मानवीय सम्बन्धों के विघटन के फलस्वरूप जीवन में आने वाली त्रासदी को उद्‌घाटित किया है। स्थापित मूल्यों की अनुपयोगिता देखकर ही उनके नाटकों के पात्र वरण और निजता की तलाश में भटकते हैं। वरण की स्वतन्त्रता नियति ने व्यक्तित्व से छीन ली है और वाह्य परिवेश निरन्तर उसकी निजता को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। यही कारण है कि कालिदास, नन्द महेन्द्रनाथ जीवन में असुरक्षा व आत्म–निर्वासन के भय और विरोधी मनः स्थितियों को भोगते हैं। स्वार्थ और अवसरवाद के भ्रष्ट वातावरण ने व्यक्ति के सम्बन्धों के रूप को भी बदल दिया है। व्यक्ति मात्र आडम्बर के लिए निरर्थक और बेमानी सम्बन्धों का बोझ ढो रहा है। राकेश ने स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के विभिन्न रूपों नियति और व्यवस्था के अभिशाप और साथ रहने की बेचारगी को अपने नाटकों में मूर्त किया है। कालिदास का आत्म केन्द्रित व्यक्तित्व और परिवेश को अनुकूल बनाने की असमर्थता और अपना सर्वस्व लुटाकर त्रासद अन्त पाने वाली मल्लिका स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का एक अलग रूप है, 'लहरों के राजहंस' में पार्थिव–अपार्थिव मूल्यों के द्वन्द्व में टूटता नन्द और अपने अहम् एवं गर्व की पराजय से अपने में सिमट जाने वाली सुन्दरी के प्रेम में संशय और द्वन्द्व से आने वाली विषम स्थिति को मूर्त करते हैं तथा 'आधे–अधूरे' के महेन्द्रनाथ और सावित्री तो चुके, रीते और बोझ बने सम्बन्धों का सबसे निर्मम, पर यथार्थ रूप प्रस्तुत करते हैं। अपनी असमर्थता और हीन भावना से छटपटाता पुरूष तथा अपनी अतृप्त महात्वाकांक्षाओं की घुटन में टूटती स्त्री प्रत्येक दिन एक दूसरे से दूर जीने के लिए विवश हो लौट आते हैं। 'आधे अधूरे' के सभी पात्र महेन्द्रनाथ, जगमोहन, जुनेजा, सावित्री, अशोक, किन्नी एवं बिन्नी हमारे चारों ओर के जीते–जागते चेहरे ही हैं। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि

राकेश ने उक्त तीनों नाटकों में वर्तमान युग जीवन में टूटते मानवीय सम्बन्धों और मूल्यों के फलस्वरूप व्यक्ति के आन्तरिक विघटन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पक्षों को भी स्वर देने का प्रयत्न किया है जो वर्तमान परिवेश की विसंगतियों से उद्भूत युग सत्य है।

मोहन राकेश के कथासाहित्य में पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन का यही स्वरूप है। उपन्यास और कहानी का सफर सचमुच डिप्रेसिंग है, क्योंकि लेखक जो प्रश्न उठाता है, उसका उत्तर दुनिया से नहीं अपने आप से मांगना होता है और इस मुकाम पर हम अपने ही सामने निर्वस्त्र होने को विवश होते हैं, वरना उन समस्याओं का उत्तर मिल ही नहीं सकता। मानवीय सम्बन्धों को एक नई दृष्टि और हृदय की अतल गहराई से कुरेदने वाले राकेश जी ने जिंदगी भर मानवीय सम्बन्धों पर विचार किया। क्योंकि उनकी मान्यताएं पुरानी लीक छोड़कर समाज को देखने की एक नवीन दृष्टि रखती हैं।

☆☆☆☆☆

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ और पत्र–पत्रिकाएं

(क) मोहन राकेश की रचनाएं

कहानी–संग्रह

इन्सान के खण्डहर – प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1950

नये बादल – भारतीय ज्ञान पीठ, 1957

जानवर और जानवर – राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1958

पॉच लम्बी कहानियॉ – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1960

एक और जिन्दगी – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1961

फौलाद का आकाश – अक्षर प्रकाशन दिल्ली 1966

सुहागिनें – हिन्द पॉकेट बुक्स, 1966

आज के साये – राधाकृष्ण प्रकाशन, 1967

रोये रेशे – राधाकृष्ण प्रकाशन, 1968

एक–एक दुनिया – राधाकृष्ण प्रकाशन, 1968

मिले–जुले चेहरे – राधाकृष्ण प्रकाशन, 1969

श्रेष्ठ कहानियाँ – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1970

मेरी प्रिय कहानियाँ – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1971

क्वार्टर – राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1972

वारिस – राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली,1972

पहचान – राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली,1972

एक घटना — राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली, 1974

मोहन राकेश की सम्पूर्ण कहानियॉ — राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली,1984, आवृत्ति अक्टूबर 1999

उपन्यास

अँधेरे बन्द कमरे — राजकमल प्रकाशन,दिल्ली,1961 पेपर बैक्स आ01998

न आने वाला कल — राजकमल एण्ड सन्स दिल्ली,1968, राजपालमें संस्करण 1999

अन्तराल — राजकमल प्रकाशन,दिल्ली 1972, पुनर्मुद्रित 1995

नाटक

आषाढ का एक दिन — राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली, 1959आवृत्ति 1998

लहरों के राजहंस — राजकमल प्रकाशन , दिल्ली 1963, आवृत्ति 2001

आधे–अधूरे — राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली,1969, आवृत्ति 1997

पैर तले की जमीन — राजपाल एण्ड सन्स,दिल्ली, 1975

एकांकी

अण्डे का छिलका,अन्य एकांकी तथा बीज नाटक — राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली 1973

रात बीतने तक तथा अन्य ध्वनि नाटक — राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली 1974

यात्रा–संस्मरण

आखिरी चट्टान तक – प्रगति प्रकाशन,1953

निबन्ध/आलेख

परिवेश – भारतीय ज्ञान पीठ ,1967

समय सारथी जीवनी – राधाकृष्ण प्रकाशन ,दिल्ली1972

साहित्यिक और सांस्कृतिक दृष्टि – राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली,1975

बकलम खुद – राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली,1975

डायरीः आत्मकथा

मोहन राकेश की डायरी – राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, 1985

अन्य

1 बिना हाड़ मांस का आदमी – राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली,1974

आइने के सामने(सम्पादित) – राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली1965

पाँच परदे (सम्पादित) – राधाकृष्ण प्रकाशन,दिल्ली,1965

एन एनथॉलॉजी (आधे अधूर,आइने के सामने ,तेरह कहनियों और एक साक्षात्कार का अंग्रेजी अनुवाद) – राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली,1974

रंगमंच और शब्द (लेख) –

शब्द और ध्वनि (लेख) इनैक्ट–अंक 21

अनुवादः(मोहन राकेश द्वारा किये गये)

मृच्छकटिक – शूद्रक के मृच्छकटिक का अनुवाद

शाकुन्तल – कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का अनुवाद

अंग्रेजी के अनुवाद

एक औरत का चेहरा – हेनरी जेम्स के उपन्यास द पोर्ट्रेट ऑफ ए लेडी का अनुवाद

उस रात के बाद – ग्राहम ग्रीन के उपन्यास द एण्ड ऑफ द अफेयर का अनुवाद

हिरोशिमा के फूल – एडिटा मॉरिस के उपन्यास फ्लावर्स ऑफ हिरोशिमा का अनुवाद

(ख)कहानी –उपन्यास संग्रह

एक दुनिया समानान्तर – सं0 राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लि0दिल्ली,1999

कंकाल – जय शंकर प्रसाद, भारती भण्डार ,लीडर रोड प्रेस, षष्ट संस्करण 1929

कथानिका : प्रतिनिधि कहानियां – (सं0) डॉ0 शिवनन्दन प्रसाद, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद तृतीय सं01973

गबन – प्रेमचन्द, भार्गव आफसेट, इलाहाबाद, नवीन संस्करण 1986

गुनाहों का देवता – धर्मवीर भारती, प्रयाग साहित्य भवन इलाहाबाद1957

झूठा सच – यशपाल, लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 1960

त्यागपत्र – जैनेन्द्र कुमार, पूर्वोदय प्रकाशन दरियागंज, दिल्ली1994

दिव्या – यशपाल, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, विघार्थी सं02000

नदी के द्वीप – अज्ञेय, मयूर प्रकाशन नोएडा,तीसरा संस्करण2001

ज्ञानरंजन – प्रतिनिधि कहानियाँ राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण 1988 आ0 1998

(ग) आलोचनात्मक सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अनीता–राकेश : चन्द संतरे, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, प्रथम सस्करण 1974

अज्ञेय और आधुनिक रचना की समस्या – डॉ0 रामस्वरूप चतुर्वेदी, प्रथम संस्करण 1968 भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

अधूरे साक्षात्कार – नेमिचंद जैन, प्रथम संस्करण 1966 अक्षर प्रकाशन दिल्ली

आत्मनेपद – अज्ञेय, ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी

आधुनिकता और आधुनिकीकरण – डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ, अक्षर प्रकाशन, दिल्ली, 1969

आधुनिकता और समकालीन रचना सन्दर्भ – डॉ0 नरेन्द्र मोहन, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली– 1973

आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1978

आधुनिकता और हिन्दी साहित्य– डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण

आधुनिकता और हिन्दी आलोचना – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, राधकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली

आधुनिकता के पहलू – विपिन कुमार, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1972

आंचलिकता से आधुनिकता बोध – डॉ0 भगवती प्रसाद शुक्ल, ग्रन्थम रामबाग कानपुर, प्रथम संस्क्करण 1972

आस्वाद के धरातल – धनंजय वर्मा, विद्यामंदिर प्रकाशन, दरियागंज दिल्ली, संस्करण 1969

क्योंकि समय एक शब्द है – डॉ0 रमेश कुन्तल मेघ, लोकभारती प्रेस 15ए महात्मा गान्धी मार्ग इलाहाबाद संस्करण 1975

चिंतन के क्षण – विजयेन्द्र स्नातक, नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1966

दिल्ली शब्दकार 1977, सुभाष पंत, कमलेश्वर तीन दशकों की बीच एक वैज्ञानिक यात्रा–लेखक, मधुकर सिंह, संपादक कमलेश्वर

नयी पीढ़ी की उपलब्धियाँ, आलोचना – डॉ0 धनंजय, विद्यामंदिर प्रकाशन दिल्ली, 1969

नयी समीक्षा–नये सन्दर्भ – डॉ0 नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली प्रथम संस्करण 1974

नारीवादी विमर्श – राकेश कुमार, आधार प्रकाशन पंचकूला, हरियाणा, प्रथम संस्करण 2001

प्रश्नचिन्हों के जंगल में परिवार आधुनिक परिवेश और नवलेखन – डॉ0 शिवप्रसाद सिंह

समकालीन साहित्य एक नयी दृष्टि – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, लिपि प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण

सारिका – संपादक कमलेश्वर टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन, बम्बई अंक (1) मई 1968 (2) अगस्त 1968 (3) नवम्बर 1968 (4) फरवरी 1973 (5) जुलाई 1975

साहित्य का नया शास्त्र – डॉ0 गिरिजा राय, शालिनी प्रकाशन, नया अलोपी बाग इलाहाबाद संस्करण 2000

हिन्दू परिवारों के परिवर्तित प्रतिमान – डॉ0 सुषमा चतुर्वेदी, ज्योति प्रकाशन, जयपुर, संस्करण 2001

(घ) आलोचनात्मक

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

कहानी

आधुनिकता और हिन्दी कहानी – जगनसिंह, प्रासंगिक प्रकाशन (लेखकों द्वारा संचालित) के0 डी0 19 सी अशोक बिहार–1 दिल्ली 110052 पहला

संस्करण 1980

आधुनिक कहानी का – परिपार्श्व लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन प्रा0 लि0 इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1966

आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य मे काम मूलक संवेदना – डॉ0 श्रीराम महाजन, चिंतन प्रकाशन 234/ए विश्व बैंक कालोनी, गुजैनी, कानपुर 1986

आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में प्रगति चेतना – डॉ0 लक्ष्मण दत्त, गौतम प्रथम संस्करण 1972 कोणार्क प्रकाशन दिल्ली

आधुनिक हिन्दी कहानी साहित्य में समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति – डॉ0 प्रेमनारायण सिन्हा, अनुपम प्रकाशन, पटना 4 प्रथम संस्करण 1980

कहानीकार मोहन राकेश – डॉ0 सुषमा अग्रवाल, पंचशील प्रकाशन, फिल्म कालोनी, जयपुर, 1979

कहानीकार ज्ञानरंजन – सं0 सत्यप्रकाश मिश्र, नयी कहानी प्रकाशन इलाहाबाद 1978

कहानी की संवेदनशीलता सिद्धान्त और प्रयोग – भगवानदास वर्मा, संस्करण– 1972 ग्रन्थम प्रकाशन, कानपुर–12

कहानी: नयी कहानी – डॉ0 नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद– द्वितीय संस्करण जनवरी 1973

कहानी स्वरूप और संवेदना – राजेन्द्र यादव, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23, दरियागंज नई दिल्ली 110002 तृतीय संस्करण 1993

काम सम्बन्धों का यथार्थ और समकालीन हिन्दी कहानी – डॉ0 वीरेन्द्र सक्सेना, साहित्य भारती के 71 कृष्णनगर, नई दिल्ली 110051 प्रथम संस्करण 1975

द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्दी साहित्य का इतिहास – डॉ0 लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, प्रथम संस्करण 1973 राजपाल एण्ड सन्स नई दिल्ली।

नयी कहानी की भूमिका – कमलेश्वर, शब्दकार प्रकाशन, 2203, गली डकौतन तर्कमान गेट दिल्ली, 1978

नई कहानी की मूल संवेदना – डॉ0 सुरेश सिन्हा, भारतीय ग्रन्थ निकेतन 113 लाजपत राय मार्केट दिल्ली 6– प्रथम संस्करण 1966

नयी कहानी दशा और दिशा, सम्भावना – सुरेन्द्र, नई कहानी की उपलब्धियां बारह कहानियां, धनंजय वर्मा– संस्करण 1970 अभिव्यक्ति प्रकाशन यूनिवर्सिटीरोड इलाहाबाद।

नई कहानी नये प्रश्न – डॉ0सन्त बख्श सिंह, साहित्यालोक 86/412 देवनगर कानपुर 208002 प्रथम संस्करण जुलाई 1981

नई कहानी प्रकृति और पाठ – सं0 श्री सुरेश, परिवेश प्रकाशन, बी 177 मंगल मार्ग, बाबू मार्ग जयपुर प्रथम संस्करण 1968

नयी कहानी में आधुनिकता बोध – डॉ0 साधनाशाह, पुस्तक संस्थान, 109/50ए नेहरू नगर, कानपुर–12 प्रथम संस्करण, 1986

नयी कहानी– सन्दर्भ और प्रकृति – डॉ0 देवीशंकर अवस्थी, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण 1966

मोहन राकेश की कहानियों में आधुनिकता – एम0 एस0 मुजावर, अलका प्रकाशन 128/106 जी ब्लाक किदवई नगर, कानपुर 11

समकालीन कहानी की पहचान – डॉ0 नरेन्द्र मोहन, प्रवीण प्रकाशन, मेहरौली नयी दिल्ली संस्करण 1978

समकालीन कहानी : युगबोध का सन्दर्भ – डॉ0 पुष्पपाल सिंह, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरिया गंज, नयी दिल्ली प्रथम संस्करण , 1986

समकालीन महिला कहानीकारों की कहानी में प्रेम का स्वरूप – सरिता सूद, सूर्य प्रकाशन नई सडक, दिल्ली 6, 1978

स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन – भैरूलाल गर्ग, चित्रलेखा प्रकाशन 147 सोहबतियाबाग इलाहाबाद 211006 प्र0 सं0 1979

हिन्दी कथा साहित्य में यथार्थ बोध के विविध रूप – डॉ0 कृपाशंकर पाण्डेय, समीक्षा प्रकाशन पिकौराबक्श (निकट हाइडिल कालोनी गॉधी नगर बस्ती) प्रथम संस्करण 1996

हिन्दी कथा साहित्य समकालीन सन्दर्भ – डॉ0 ज्ञान अस्थाना, जवाहर पुस्तकालय, सदर बाजार, मथुरा 281002 प्रथम संस्करण 1981

हिन्दी कहानी : अपनी जबानी – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड दिल्ली 6, प्रथम संस्करण 1968

हिन्दी कहानीः अलगाव का दर्शन – डॉ0 गार्डन चार्ल्स एंडर मल, (अनुवादक) अर्चना वर्मा अक्षर प्रकाशन प्रा0 लि0 2/36 अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्रथम संस्करण 1982

हिन्दी कहानी – उपेन्द्र नाथ अश्क, प्रथम संस्करण

हिन्दी कहानी एक नयी दृष्टि – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, प्रथम संस्करण

हिन्दी कहानी का मूल्यांकन – कान्ता (अरोडा) मेंहदी रत्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन 2/38 अंसारी रोड दरियागंज नयी दिल्ली 110002 प्रथम संस्करण 1984

हिन्दी कहानी अंतरंग पहचान – डॉ0 रामदरश मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली , संस्करण 1977

हिन्दी कहानी का विकास – मधुरेश, नई कहानी 170, आलोपीबाग, इलाहाबाद 211006

हिन्दी कहानी का सफर – डॉ0 रमेशचन्द्र शर्मा, भारत प्रकाशन मन्दिर (रजि0) सुभाषरोड अलीगढ प्रथम संस्करण 1982

हिन्दी कहानी दो दशक – डॉ0 सुरेश धींगडा, अभिनव प्रकाशन 21ए–दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्रथम संस्करण 1978

हिन्दी कहानी दो दशक की यात्रा – डॉ0 रामदरश मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 2/35 अन्सारी रोड दरियागंज, दिल्ली 6, प्रथम संस्करण 1970

हिन्दी कहानी में जीवन मूल्य – डॉ0 रमेश चन्द्र, लवानिया, सं0 महेन्द्र शर्मा अमित प्रकाशन 66 सुभाष द्वार, गाजियाबाद प्र0 सं0 1963

हिन्दी कहानियों में द्वन्द्व – डॉ0 सुमन मेहरोत्रा, आर्य बुक डिपो 30, नई वाला करौल बाग नई दिल्ली 11005 प्रथम संस्करण 1975

हिन्दी कहानी पहचान और परख – डॉ0इन्द्र नाथ मदान, लिपि प्रकाशन, कृष्ण नगर दिल्ली 10051 प्रथम 1973

हिन्दी कहानी: समीक्षा और सन्दर्भ – डॉ0 विवेकीराय, राजीव प्रकाशन–189–ए/1, आलोपीबाग कालोनी इलाहाबाद– प्रथम संस्करण 1985

हिन्दी की 'नयी कहानी' का मनोवैज्ञानिक अध्ययन – मिथिलेश रोहतगी, शलभ बुक हाउस 101 खत्री चौक, मेरठ 25002, प्रथम संस्करण 1979

हिन्दी : चर्चित कहानियाँ: पुनर्मूल्यांकन – डॉ0 कुसुम वार्ष्णेय, साहित्य भवन (प्रा0) लिमिटेड के0 पी0 कक्कड़ रोड इलाहाबाद 211003 प्रथम संस्करण 1983

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

उपन्यास

आज का हिन्दी उपन्यास – डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, प्रथम संस्करण

आधुनिक उपन्यास और अजनबीपन – डॉ0 विद्याशंकर राय, प्रथम संस्करण

आधुनिकता के सन्दर्भ में आज का हिन्दी उपन्यास – डॉ0 अतुलवीर अरोरा, पब्लिकेशन ब्यूरो पुजाब यनीवर्सिटी–चण्डी गढ़, प्रथम संस्करण 1974

आधुनिक हिन्दी उपन्यास – डॉ0 नरेन्द्र मोहन, प्रथम संस्करण 1975 दि मैकमिलन कम्पनी दिल्ली

आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता– नवल किशोर, प्रकाशन संस्थान 453/1212 पश्चिमपुरी नई दिल्ली– 1100026 प्रथम संस्करण दिसम्बर 1977

आधुनिक हिन्दी उपन्यास में प्रेम की परिक्रमा – डॉ0 विजय मोहन सिंह, रचना प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण

उपन्यास कार– भगवती चरण वर्मा – डॉ0 ब्रजनारायण सिंह, प्र0 सं0 1972, राजकमल प्रकाशन दिल्ली

उपन्यास कार मोहन राकेश– अन्तराल के विशेष सन्दर्भ में विमला कुनारी पण्डित, पंचशील प्रकाशन फिल्म कालोनी जयपुर प्रथम सं0 1978

उपन्यास शिल्प और प्रवृत्तियां–डॉ0 सुरेश सिन्हा, सभा प्रकाशन नई दिल्ली प्र0 संस्करण

उपन्यास समीक्षा के नये प्रतिमान – डॉ0 दंगल झाल्टे, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली प्र0 सं0 1987

कथाकृती–मोहन राकेश – ओम प्रभाकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियगंज नई दिल्ली 110002

पारिवारिक समस्याएं – सावित्री सिन्हा, आत्माराम एण्ड सन्स काइमोरी गेट, दिल्ली–6 1957

प्रेम चंद डॉ0 – रामविलास शर्मा, राधकृष्ण प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण

प्रेम चंद आलोचनात्मक परिचय – डॉ0 रामविलास शर्मा

प्रेमचंद और उनका युग – डॉ0 राम विलास शर्मा, पहला छात्र संस्करण–1983 राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 1बी, नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली

प्रेमचंद साहित्य में व्यक्ति और समाज – डॉ0 रक्षापुरी, प्र0 सं0 1970 आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली

भूमिका, भूले बिसरे चित्र – देवी शंकर अवस्थी, प्रथम संस्करण राजकमल प्रकाशन दिल्ली

व्यक्ति चेतना और स्वातन्त्रयोत्तर हिन्दी उपन्यास – डॉ0 पुरूषोत्तम दूबे, प्र0 सं0 1973, अनुपम प्रकाशन दिल्ली

व्यक्तिवादी एवं नियतिवादी चेतना के सन्दर्भ में उपन्यास कार भगवती चरण वर्मा – डॉ0 रमाकान्त श्रीवास्तव, वाणी प्रकाशन 61–एफ, कमलानगर दिल्ली 110007 प्रथम संस्करण 1977

हिन्दी उपन्यासः एक अन्तर्यात्रा – डॉ0 रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 1बी नेताजी सुभाष मार्ग नई दिल्ली प्र0 सं0 1968, पुनर्मुद्रित 1995

हिन्दी उपन्यास – डॉ0 शिव नारायण श्रीवास्तव, संस्करण 1997, सरस्वती मंदिर काशी

हिन्दी उपन्यास – सं0 सुषमा प्रियदर्शनी, प्रथम संस्करण 1972, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली

हिन्दी उपन्यास उदभव और विकास – डॉ0 शशि भूषण सिहल, प्र0 सं0 1979 कैलाश पुस्तक सदन ग्वालियर (म0 प्र0)

हिन्दी उपन्यास एक नयी दृष्टि – डॉ0 इन्द्र नाथ मदान, राजकमल प्रकाशन प्रा0 लि0 नेता जी सुभाष मार्ग, दिल्ली 110006 प्रथम संस्करण 1975

हिन्दी उपन्यास – डॉ0 सुरेश सिन्हा, लोकभारती प्रकाशन– 15ए महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद–1, द्वितीय संस्करण 1972

हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियां – डॉ0 शशिभूषण सिहल, प्र0 सं0 1970, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा

हिन्दी उपन्यास में दाम्पत्य चित्रण – डॉ0 उर्मिला भटनागर, अर्चना प्रकाशन 10/890 मालवीय नगर जयपुर 19

हिन्दी उपन्यास में पारिवारिक सन्दर्भ – डॉ0 उषामन्त्री, नेशनल पब्लिशिंग हाउस 23 दरियागंज नई दिल्ली 110001

हिन्दी उपन्यास शिल्प बदलते परिवेश – डॉ0 प्रेमनाथ भटनागर, प्रथम संस्करण

हिन्दी कथा साहित्य – पदम लाल पुन्ना लाल बख्शी, प्रथम संस्करण, 1954 हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव – डॉ0 गोपाल राय, ग्रन्थ निकेतन चौधरी टोला, पटना–6 प्रथम संस्करण1965

सन्दर्भ ग्रथ सूची

नाटक

अपने नाटकों के दायरे में मोहन राकेश – डॉ0 तिलकराज शर्मा, आर्य बुक डिपो, दिल्ली 1976

आज के रंग नाटक – संपादक अलका जी, प्रथम संस्करण 1973

आधुनिक नाटक का मसीहा– मोहन राकेश, गोविन्द चातक, इन्द्र प्रस्थ प्रकाशन, के 71 कृष्ण नगर नई दिल्ली 1100051– प्रथम संस्करण 1975

आधुनिक हिन्दी नाटक – डॉ0 सुरेश चन्द्र शुक्ल, लिपि प्रकाशन 1, अंसारी रोड दरियागंज नई दिल्ली 110002 प्रथम संस्करण 1981

आधुनिक हिन्दी नाटक एक यात्रा दशक, भारती भाषा प्रकाशन 518/6ठ विश्वास नगर, शाहदरा दिल्ली– 1100032 प्रथम संस्करण 1979

आधुनिक हिन्दी नाटक भाषिक और संवादीय संरचना, तक्षशिला प्रकाशन रॉंची 1982

आधे–अधूरे संवेदना और शिल्प – सिद्धनाथ कुमार, सरोज प्रकाशन, देवी मण्डप मार्ग राँची 834005 प्रथम संस्करण 1987

नटरंग सम्पादक एवं प्रकाशक – नेमिचद जैन, अंक (21 फरवरी 1973, अप्रैल से सितम्बर 1979) 10–11 संयुक्तांक

नाटककार मोहन राकेश – जीवन प्रकाश जोशी, सन्मार्ग प्रकाशन 16, दिल्ली, 1975

नाटककार मोहन राकेश – डॉ0 सुन्दर लाल कथूरिया, कुमार प्रकाशन मोती नगर, नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1974

नाटककार मोहन राकेश संवाद शिल्प – डॉ0 गिरीश रस्तोगी, दिनमान प्रकाशन 30/4 चर्खेवालान दिल्ली 110006 प्रथम संस्करण 1990

मोहन राकेश और उनके नाटक – डॉ0 गिरीश रस्तोगी, लोक भारती प्रकाशन 15 ए महात्मा गाँधी मार्ग इलाहाबाद–1 प्रथम संस्करण 1976

मोहन राकेश का नाट्य साहित्य – डॉ0 पुष्पा बंसल, सूर्य प्रकाशन दिल्ली 1976

मोहन राकेश के नाटक – डॉ0 द्विजराम यादव, साहित्यालोक 104ए/227 पी0 रोट कानपुर 208012 प्रथम संस्करण

मोहन राकेश की रंग सृष्टि – जगदीश शर्मा, प्रथम संस्करण– 1975 राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली।

लहरों के राजहंस छठा संस्करण भूमिका – डॉ0 सुरेश अवस्थी, 1965

विवेक के रंग(सं0) – डॉ0 देवी शंकर अवस्थी, ज्ञानपीठ वाराणसी संस्करण 1965

षटकोण खण्ड 1 आधुनिक नाटक – डॉ0 ओम प्रकाश शर्मा, साहित्य समारोह–33 फिरोजशाह रोड नई दिल्ली 1972

समकालीन नाट्य साहित्य और मोहन राकेश के नाटक, अनुपम प्रकाशन, जयपुर 1975

सम सामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि – डॉ0 जयदेव तनेजा, सामयिक प्रकाशन दरियागंज दिल्ली 1979

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी नाटक मोहन राकेश के विशेष सन्दर्भ में – डॉ0 रीता कुमार, विभू प्रकाशन साहिबाबाद 201005, प्रथम संस्करण 1980

हिन्दी के प्रतीक नाटक – डॉ0 रमेश गौतम, नचिकेता प्रकाशन दिल्ली 1976

हिन्दी नाटक सिद्धान्त और विवेचन – डॉ0 गिरीश रस्तोगी, प्रथम संस्करण 1967 प्रथम प्रकाशन कानपुर

हिन्दी नाट्य समालोचन – मान्धाताओझा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1979

(ड0) अंग्रेजी पुस्तकें

ए हैन्ड बुक ऑफ सोसियोलॉजी	–	ऑगबर्न और निमकॉफ
इन साइक्लोपीडिया ऑफ बिट्रानिका		
फैमिली	–	वर्जेस ऑफ लॉक
कम्प्रेटिव लिटरेचर	–	ए0 लेबिन
दि फैमिली इट्स फंक्सन एण्ड डेस्टिनी	–	रूथ एन अन्शेन
दि फैमिली	–	एम0 एफ निमकॉफ
दि फैमिली	–	सी0 सी0 हैरिस
दि बेन्जिग पैटर्न ऑफ फैमिली इन इण्डिया	–	देव नंदन थामस
दि हिन्दू फैमिली इन इट्स अरबन सेटिंग	–	एलिन डी रॉस
दि होराइजन ऑफ मैरिज	–	डॉ0 राधाकमल मुखर्जी
मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया	–	के0 एम0 कपाडिया
रूरल सोसियोलॉजी इन इण्डिया	–	डॉ0 ए0 आर0 देसाई
लिटरेचर एण्ड रियेलिटी	–	हावर्ड फास्ट
सम आस्पेक्ट ऑफ फैमिली इन महुआ	–	डॉ0 ए0 आर0 देसाई
सोसियोलॉजी ऑफ दि फैमिली	–	एल्मर एम0 सी0
सोसाइटी	–	मैकाइवर एण्ड पेज
सोसाइटी इट्स ऑरगनाइजेशन एण्ड ऑपरेशन	–	एण्डरसन पार्कर
ह्यूमन सोसाइटी	–	किंग्सले डेविस
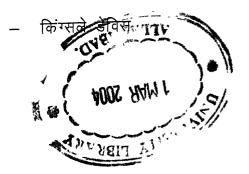
(च) पत्र–पत्रिकाएं

आलोचना

इन्दु

कथाक्रम

कोशोत्सव स्मारक संघ

कल्पना

धर्मयुग

नव भारत टाइम्स

माध्यम

मधुमती

विश्वभारती पत्रिका

सम्मेलन पत्रिका

समीक्षा लोक

सारिका

साप्ताहिक हिन्दुस्तान

सुधा

हंस

ज्ञानोदय

☆ ☆ ☆ ☆ ☆